TIGHT BINDING BOOK

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180204

UNIVERSAL
LIBRARY

All rights, including those of reproduction and translation, are reserved.

हिन्दी-गद्य-वाटिका

अथवा

हिन्दी-रत्न-संग्रह

(Selections from Hindi Prose)

COMPILED BY

SANT RAM, B. A.

PUBLISHED BY

THE UNIVERSITY OF THE PANJAB

FOR

THE HINDI PROFICIENCY EXAMINATION

LAHORE.
1933.

Price Rs. 2-12-0.

CHECKED 1954
By SL. & L.

COPYRIGHT
First Edition, 1933.

CHECKED 1956

All copies legitimately sold bear the impression of the University Seal.

निवेदन

यह हिन्दी-गद्य-संग्रह पंजाब विश्वविद्यालय की हिन्दी-रत्न-परीक्षा (Hindi Proficiency Examination) के विद्यार्थियों के लिए विशेष रूप से तैयार किया गया है। इस में हिन्दी-शिल्पियों की रचनाओं के उत्कृष्ट नमूने दिये गये हैं। विषयों की विभिन्नता, उपयोगिता और मनोरञ्जकता पर भी पूरा ध्यान दिया गया है। निबंधों का क्रम लेखकों के रचना-काल के अनुसार रखा गया है। बहुत पुरानी हिन्दी के थोड़े से नमूने केवल भाषा का विकास दिखाने के लिए दिये गये हैं।

मैं यहाँ उन सब लेखकों और प्रकाशकों का—विशेषतः इण्डियन प्रेस, प्रयाग, प्रकाश-पुस्तकालय, कानपुर और हिन्दी

ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई का—बहुत आभारी हूँ जिन की रचनाओं और पुस्तकों में से मैं ने इस संग्रह के लिए लेख लिए हैं। 'हिन्दी गद्य का विकास' शीर्षक लेख की सामग्री मुझे प्रोफ़ेसर अयोध्यानाथ एम० ए० की 'गद्य-मुक्तावली' नामक पुस्तक से प्राप्त हुई है। उसके लिए मैं उनका भी आभारी हूँ। जहाँ तक मुझ से बन पड़ा है मैं ने सभी लेखकों और प्रकाशकों से उनकी रचनाओं का उपयोग करने की अनुमति लेने का यत्न किया है और उन्हों ने कृपापूर्वक मुझे अनुमति प्रदान भी कर दी है, परन्तु फिर भी दो एक सज्जनों को जवाबी पत्र लिखने पर भी उनका कोई उत्तर मुझे प्राप्त नहीं हुआ। इस का कारण शायद यह हो कि उनका ठीक ठिकाना मुझे मालूम न रहा हो। ऐसे सज्जनों से, उनकी अनुमति प्राप्त किए बिना ही, उनके लेखों का उपयोग करने के लिए मैं क्षमा प्रार्थी हूँ।

साहित्य-सदन,
कृष्णनगर—लाहौर। —सन्तराम

हिन्दी गद्य का विकास

संसार में विकास का सिद्धान्त सब कहीं कार्य करता दिखाई देता है। जो वृक्ष इस समय आकाश से बातें कर रहा है वह एक दिन एक छोटे से बीज में नन्हा सा अंकुर था। जो मनुष्य आज छः फुट का लंबा जवान है वह एक दिन माता की गोद में एक असहाय शिशु था। धीरे-धीरे विकास के द्वारा ही वे अपने इस सुविशाल आकार को प्राप्त हुए हैं। यही बात भाषा की है। हिन्दी का भी जो रूप इस समय है वह सौ वर्ष पहले न था। आज से आठ नौ वर्ष पहले की भाषा को सुन कर तो हम शायद उसे हिन्दी कहने को भी तैयार न हों। नदी का जो स्वरूप उसके मूल स्रोत के निकट रहता है वह उस के मुहाने के पास नहीं होता। मूल उद्गम से यात्रा आरम्भ करने के बाद नाना दिशाओं से

नाना नद-नदियाँ उस में आकर मिल जाती हैं। इस प्रकार हिन्दी में भी संस्कृत, फ़ारसी, अरबी, अँगरेज़ी आदि अनेक भाषाओं के शब्द और मुहावरे समय-समय पर मिलते रहे हैं। उन्हीं के मिश्रण का परिणाम इस का वर्तमान रूप है।

हिन्दी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों के दो मत हैं। कुछ लोगों की राय है कि पहले संस्कृत भाषा बोली जाती थी। उसमें से पहले पाली भाषा निकली। बौद्धों का साहित्य इसी भाषा में है। पाली से फिर मराठी, शौरसेनी, मागधी आदि प्राकृत और अपभ्रंश भाषाएँ निकलीं। फिर इन अपभ्रंश भाषाओं से राजस्थानी, व्रज और हिन्दी की खड़ी बोली का जन्म हुआ। कुछ दूसरे विद्वान यह कहते हैं कि संस्कृत कभी भी सर्व साधारण की भाषा नहीं हुई। केवल विद्वान लोग ही इसका उपयोग साहित्य में किया करते थे। सर्वसाधारण अपने नित्य के व्यवहार में प्राकृत का ही उपयोग करते थे। उनकी इस प्राकृत से ही मराठी, गुजराती, पंजाबी और हिन्दी का क्रमशः विकास हुआ है। परन्तु इस बात में सभी विद्वान सहमत हैं कि हिन्दी शूर-सेन देश अर्थात् व्रज-मण्डल में बोली जाने वाली प्राकृत की पुत्री है। इस पुरानी हिन्दी का आरम्भ विक्रम की आठवीं शताब्दी से माना जाता है।

हिन्दी में जो सब से पुराने ग्रन्थ मिलते हैं वे पद्य में हैं। इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर हिन्दी का काल-विभाग किया गया है।

परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इन पद्यात्मक पुस्तकों की रचना के पूर्व हिन्दी गद्य मौजूद ही न था। आखिर, लोग बात-चीत तो गद्य में ही करते होंगे। प्रसिद्ध भाषा-तत्त्वज्ञ सर ग्रियर्सन ने हिन्दी को निम्न लिखित कालों में बाँटा है—

(१) सन् ७०० ईसवी से सन् १३०० ईसवी तक चारण (Bardic) काल।

(२) सन् १५४० ईसवी से सन् १७०० ईसवी तक महान (Augustine) काल।

(३) सन् १७०० ईसवी से सन १८०० ईसवी तक शुष्क (Barren) काल।

(४) सन् १८०० ईसवी से अब तक पुनर्जागृति (Renaissance) काल।

गद्य-काल भी इसी पुनर्जागृति-काल के अन्तर्गत माना गया है। श्रीयुत रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में हिन्दी का आरम्भ-काल विक्रम की ११ वीं शताब्दी का मध्य माना है। उन्होंने काल-विभाग इस प्रकार किया है—

(१) आदि काल (वीर गाथा काल) संवत १०५०—१३७५ वि०

(२) पूर्व मध्य काल (भक्ति-काल) संवत १३७५—१७०० वि०

(३) उत्तर मध्य-काल (रीति-काल)। संवत् १७००—१९०० वि०।

(४) आधुनिक काल (गद्य-काल)। संवत् १९००—अब तक।

कालों के ये नाम उस काल में होने वाली रचनाओं की प्रधानता के कारण रखे गये हैं। उदाहरण के लिए, आधुनिक काल में यद्यपि लोग पद्य भी लिखते हैं परन्तु प्रधानता गद्य की ही है। इस लिए इसका नाम गद्य-काल रखा गया है।

हिन्दी-पद्य का सबसे पुराना ग्रन्थ 'खुमान रासो' माना जाता है। इस से पुराना ग्रन्थ और कोई नहीं मिला। इसका रचना-काल संवत् ९०० के लगभग अनुमान किया गया है। हिन्दी-गद्य का पहला उदाहरण तेरहवीं शताब्दी में महाराजा पृथ्वीराज और चित्तौर के रावल समर सिंह के दान-पत्रों में मिलता है। 'मेवाड़ की सनद' संवत् १२२९ में लिखी गई थी। उस की कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं—

स्वस्ति श्री श्री चित्रकोट महाराजाधिराज तपे राज श्री श्री रावल जी श्री समरसी बचनातु दा अमा आचारजु ठाकुर रूसीकेष कस्य थाने दली सु डायजे लाया अणीराज में ओषद थारी लावेगा ओषद ऊपरी माल की थाकी है ओ जनाना में थारा बंसरा टाला ओ दूजो जावेगा नहीं और थारी बैठक दली में ही जी प्रमाणे प्रधान

बरोबर कारण होवेगा।

इस के बाद पन्द्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में गोरखनाथ कृत 'सिष्ट प्रमाण' नामक गद्य-पुस्तक का पता चलता है। उस के बाद महाप्रभु वल्लभाचार्य के पुत्र गोस्वामी बिट्ठलनाथ (१५७२—१६४२) की लिखी "शृङ्गार रस मण्डल" नाम की गद्य-पुस्तक मिलती है। इस के बाद गोकुलनाथजी के तीन ग्रन्थ—"चौरासी वैष्णवों की वार्ता", "दो सौ वैष्णवों की वार्ता" और "वन-यात्रा"—बोल चाल की व्रजभाषा में मिलते हैं। ये संवत् १६२५ और १६५० के बीच लिखे गये थे। इन में अरबी, फारसी, गुजराती, पंजाबी, मारवाड़ी आदि भाषाओं के भी शब्द मिलते हैं। इन के बाद अकबर के समय में गङ्ग भाट की संवत् १६२७ की लिखी "चंद छंद बरनन की महिमा' नाम की सोलह पन्नों की पुस्तक का पता चलता है। इस के बाद संवत् १६५७ के आस-पास भक्तमाल के लेखक नाभादास का 'अष्टयाम' आता है। इसके बाद संवत् १६६६ में लिखा हुआ गोस्वामी तुलसीदास जी का थोड़ा सा गद्य मिलता है। गो स्वामी जी के गद्य का नमूना आगे देखिए—

श्री परमेश्वर

संवत् १६६६ समये कुआर सुदी तेरसी बार शुभ दीने लिखित पत्र आनंद राम तथा कन्हई के अंश बीभाग पुर्बम जे आग्य दुनहु जने मागा जे आग्य भै प्रमन माना दुनहु जने बीदीत तफसील अंस

टोडरमल के मह जो बीभाग पद होत ।

इसके अनन्तर 'भुवन-दीपिका' नामक ज्योतिष ग्रन्थ की भाषा-टीका (सं० १६७१), फिर संवत् १६८० में लिखी जटमल कवीश्वर कृत 'गोरा बादल की कथा', फिर बैकुण्ठ शुक्ल (१६७५—८४) रचित 'बैशाख माहात्म्य' और 'अगहन माहात्म्य' नामक दो ग्रन्थ ब्रजभाषा-गद्य में मिलते हैं । इन के बाद संवत् १७०७ में मनोहर दास निरञ्जनी की कुछ गद्य-पुस्तकें आती हैं । इसके बाद संवत् १७१५ के आस-पास जगजी चारण कृत "रत्नमहेशदासोत वचनिका" मिलती है । यह राजपूतानी हिन्दी में है । इस के बाद (संवत् १७३७—१७८? विक्रमी) जोधपुर के राजा यशवन्त सिंह के पुत्र अमरसिंह की "गुणसार" नामक पुस्तक मिलती है । इसी काल (१७६३—१८४०) में अमर-सिह कायस्थ ने 'बिहारी सतसई' की गद्य में टीका लिखी । इस का नाम 'अमर चन्द्रिका' है । संवत् १८२८ के लगभग बख्तेश ने मतिराम के 'रसराज' का तिलक किया ।

इस समय उत्तर भारत में अँगरेज़ी राज्य स्थापित हो चुका था । अँगरेज़ों को ऐसी पुस्तकों की आवश्यकता प्रतीत होती थी जिन से वे देश की बोल चाल की भाषाएँ सीख सकें । इस लिए इन्हों ने हिन्दी-गद्य में पुस्तकें लिख वाईं । इन्हीं दिनों मुन्शी सदासुखलाल (संवत् १८०३— १८८१) ने "सुखसागर" लिखा ।

इन की भाषा का नमूना देखिए—

धन्य कहिए राजा दधीच को कि नारायण की आज्ञा अपने सीस पर चढ़ायी, अपने हाड़ ऐसे कामी कुटिल अहंकारी को दे दिये कि उन से उन हाड़ों को वज्र बनायकर वृत्रासुर से ज्ञानी से युद्ध किया और उसे मारा। जो महाराज की आज्ञा और दधीच के हाड़ का बज्र न होता तो ग्यारह जनम ताईं वृत्रासुर से युद्ध में सुरवर और प्रबल न होता और जय न पावता।

देखिए इस भाषा में और पूर्वोल्लिखित 'मेवाड़ की सनद' की भाषा में कितना बड़ा अन्तर है। इसी भाषा में संवत् १८५५ और १८६० के बीच सैयद इंशाअल्ला खाँ ने अपनी 'रानी केतकी की कहानी' लिखी। इन की हिन्दी बड़ी चटकीली और मुहावरे-दार है। इस में चुलबुलाहट और अनुप्रासों की भरमार है। इसी काल में लल्लूलाल जी (संवत् १८२०—१८८२) हुए। उन्हों ने 'प्रेम-सागर' के अतिरिक्त 'सिंहासन बत्तीसी', 'बैताल पचीसी' 'शकुन्तला नाटक' और 'माधोनल' नामक चार पुस्तकें लिखीं। इन्हीं दिनों में आरा के श्रीयुत सदल मिश्र (लगभग १८२४—१९०५) ने फोर्ट विलियम कालेज के गिलक्रिस्ट साहब की आज्ञा से 'नासिकेतोपाख्यान' लिखा। इन की भाषा लल्लूलालजी से भिन्न है। यह व्यवहार में आने वाली खड़ी बोली है। इस में ब्रज भाषा और पूरबी हिन्दी की कहीं कहीं झलक है। इस में उर्दू

शब्दों का भी प्रयोग पाया जाता है। उनकी हिन्दी का नमूना देखिए—

किसी समय में ब्रह्मा के पुत्र ऐसे उद्दालक मुनि भए कि जिन के दर्शन से लोग पवित्र होते थे। वेद पुराण श्रुति स्मृति में बहुत निपुण और दाता दयालु कहिए तो वैसे ही, बड़े समर्थ, सब मुनियों में श्रेष्ठ, कि जिन का तपस्या ही धन था, उनके सुहावने आश्रम पर कि जिस को बड़े बड़े मुनि लोग नित्य आय सेवैं और जहाँ नाना प्रकार के वृक्षों पर लता छा रही थीं—पिप्पलाद मुनि आन पहुँचे।

सदा सुखलाल और सदल मिश्र की भाषा एक दूसरे से बहुत कुछ मिलती-जुलती है।

इसके बाद कोई ६० वर्ष तक हिन्दी की प्रगति रुकी सी रही। कारण यह हुआ कि अँगरेज़ों ने अदालतों और सरकारी दफ्तरों में उर्दू भाषा और फ़ारसी लिपि को प्रोत्साहित किया। इस से उर्दू की उन्नति हिन्दी से पहले आरम्भ हो गई। फिर भी हिन्दी के समर्थकों ने अपना प्रयत्न नहीं छोड़ा। राजा शिवप्रसाद ने संवत् १६०२ में 'बनारस अखबार' निकाला। इस की लिपि नागरी और भाषा उर्दू होती थी। इस के पाँच वर्ष बाद काशी से 'सुधारक' निकला। फिर संवत १६०६ में आगरे से 'बुद्धिप्रकाश' निकला। इन की भाषा 'बनारस अखबार' की अपेक्षा सुधरी हुई होती थी।

इन्हीं दिनों आर्य समाज के पूज्य प्रवर्तक स्वामी दयानन्द जी

सरस्वती (संवत् १८७१—१९४०) ने संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित और काठियावाड़ी होते हुए भी अपने ग्रन्थ हिन्दी में लिखे। इन से हिन्दी का बहुत प्रचार हुआ। इनकी हिन्दी में गुजराती की झलक का होना स्वाभाविक है।

राजा लक्ष्मणसिंह (संवत् १८८३—१९५३) एक सरकारी पदाधिकारी थे। इन्हों ने, राजा शिवप्रसाद की उर्दू-फ़ारसी के गला घोंटू शब्दों से भरी हुई हिन्दी के विपरीत, वास्तविक हिन्दी का प्रचार किया। उन्होंने संवत् १९१८ में 'प्रजाहितैषी' पत्र निकाला। फिर 'अभिज्ञान शाकुन्तल' और 'रघुवंश' का भाषान्तर किया। उनकी भाषा में उर्दू शब्द नाम को भी नहीं आने पाए।

इन सब लेखकों के हिन्दी प्रचार के रहते भी हिन्दी की कोई एक शैली और भाषा निश्चित न हो सकी। इन में से कोई पण्डिताऊपन का पुट रखता था, कोई उर्दू-फ़ारसी के मोटे मोटे शब्द ठूँसता था, कोई ब्रजभाषा और पुरबी भाषा की झलक दिखाता था। आवश्यकता इस बात की थी कि हिन्दी का कोई एक ऐसा रूप निश्चित हो जाय जिस में सारे देश के पढ़े-लिखे मनुष्य अपने भाव प्रकट कर सकें। यह काम काशी के भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र (संवत् १९०७—१९४१) ने किया। इन्हों ने 'कवि वचन सुधा' और 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' आदि मासिक पत्र निकाले और 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'कर्पूर मञ्जरी', 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'भारत

दुर्दशा', 'अन्धेर नगरी', 'नील देवी', 'चन्द्रावली' आदि अनेक नाटक लिखे। इन्हों ने 'काश्मीर-कुसुम' और 'बादशाह दर्पण' आदि कुछ थोड़े से इतिहास-ग्रन्थ भी लिखे। हरिश्चन्द्र ने वर्तमान हिन्दी-गद्य की धाराओं को कई दिशाओं में बहने देने से रोक कर एक राज मार्ग में लगा दिया। इनकी भाषा बड़ी परिमार्जित, प्रभावशालिनी और गँवारूपन से रहित होती थी।

इस समय हिन्दी में विहार-बन्धु, हिन्दी प्रदीप, आनन्द-कादम्बिनी, पीयूष प्रवाह और भारत जीवन आदि कई अच्छे पत्र भी निकलने लगे थे। इस के अतिरिक्त लेखकों की भी एक बड़ी मण्डली तैयार हो गई थी। उन में से कुछ के नाम ये हैं—बद्रीनारायण चौधरी, प्रतापनारायण मिश्र, तोताराम बी० ए०, जगमोहन-सिंह, श्रीनिवास दास, बालकृष्ण भट्ट, केशवराम भट्ट और राधा-चरण गोस्वामी। इन में श्रीयुत बालकृष्ण भट्ट की गद्य-शैली भारतेन्दु की शैली से मिलती है। इन की भाषा में कहीं कहीं बैसवाड़ी और पूर्वी हिन्दी के शब्द आए हैं। वे अँगरेज़ी शब्दों का भी प्रयोग करते थे। इनके लेखों में हास्य की मात्रा भी खूब होती थी। इन्हों ने संवत् १९३४ में 'हिन्दी प्रदीप' नामक मासिक पत्र निकाला और 'सौ अजान और एक सुजान' तथा 'नूतन ब्रह्मचारी' नाम के दो छोटे छोटे उपन्यास भी लिखे।

अलीगढ़ के बाबू तोताराम बी० ए० (सं० १९०४—१९५९)

ने दो नाटक—'कीर्ति-केतु' और 'केटो कृतान्त' लिखे। इन्हों ने ही 'भारत-बंधु' पत्र निकाला था। श्रीयुत श्रीनिवास दास (संवत् १९०८—१९४४) ने 'रणधीर-प्रेममोहिनी', 'संयोगिता-स्वयंवर', और 'तप्तावरण' नाटक और 'परीक्षा-गुरु' उपन्यास लिखा था। उनकी पुस्तकों में संसार का अनुभव खूब भरा पड़ा है। मिर्ज़ापुर के श्रीयुत बदरीनारायण चौधुरी 'प्रेमघन' (संवत् १९१२—१९८०) ने 'आनन्द कादम्बिनी' (मासिक) और 'नागरी नीरद' (साप्ताहिक) निकाले थे। कानपुर के श्रीयुत प्रताप नारायण मिश्र (संवत् १९१३—१९५१) अपनी भाषा में बैसवाड़े की ग्रामीण भाषा, कहावतों और शब्दों का धड़ल्ले से प्रयोग करते थे। इन का गद्य प्रायः हँसी से भरा रहता था। इन्होंने बहुत से बँगला ग्रन्थों का अनुवाद किया और स्वतंत्र पुस्तकें भी लिखीं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्रके समय में बँगला के उपन्यासों का अनुवाद होना शुरू हो गया था। राधाकृष्ण दास ने 'स्वर्णलता', प्रताप-नारायण ने 'राजसिंह', 'इन्दिरा', 'राधारानी' आदि और राधा-चरण गोस्वामी ने विरजा, जावित्री, मृणमयी आदि का बँगला से अनुवाद किया।

इस से प्रकट है कि हिन्दी-साहित्य-भाण्डार की पूर्ति नाना प्रकार के रत्नों से होने लगी थी। उच्च शिक्षा-प्राप्त विद्वान् भी हिन्दी में लिखने लगे थे। परन्तु हिन्दी गद्य में वे व्याकरण के नियमों

का पालन करना आवश्यक न समझते थे। उनकी भाषा सदोष और बे-मुहावरा होती थी। इस दोष को दूर करने का प्रयत्न आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी (जन्म-संवत् १९२१) ने किया। वे सन् १९०३ में 'सरस्वती' के सम्पादक हुए और उन्होंने हिन्दी को खूब माँजा और लेखकों की व्याकरण-सम्बन्धी भूलों की आलोचना करके उनके कान खड़े किए। पहले हिन्दी-लेखक विराम-चिन्हों पर बहुत कम ध्यान दिया करते थे। अब अँगरेज़ी और बँगला आदि दूसरी भाषाओं की देखा-देखी इस में भी विराम-चिन्हों का प्रयोग होने लगा।

इस समय हिन्दी का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो चुका है। इस में सब विषयों पर दूसरी भाषाओं के अच्छे अच्छे ग्रन्थों के अनुवाद हो चुके हैं और हो रहे हैं। अनुवाद ही नहीं इतिहास, नाटक, उपन्यास, कहानी, आलोचना, यात्रा, विज्ञान आदि के मौलिक ग्रन्थ भी लिखे गये हैं। औपन्यासिकों में श्रीयुत प्रेमचन्द बी० ए० का नाम और नाटककारों में श्रीयुत जयशंकर प्रसाद तथा श्रीयुत नारायण प्रसाद बेताब का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस समय सरस्वती, माधुरी, चाँद, सुधा, विश्वमित्र, गंगा, युगान्तर, वीणा, और वाणी आदि अनेक उच्च कोटि के सचित्र मासिक पत्र तथा पत्रिकाएँ निकल रही हैं। इन में सब विषयों पर अच्छे अच्छे लेख रहते हैं। बालकों के लिए बालक, विद्यार्थी,

बाल-सखा, चमचम, वानर, शिशु और स्त्रियों के लिए 'सहेली' निकल रही है। प्रताप, आज, विश्वमित्र, अर्जुन हिन्दी-मिलाप और प्रभात कई आदि दैनिक भी प्रकाशित हो रहे हैं। साप्ताहिकों की तो कुछ गिनती ही नहीं। इस प्रकार हिन्दी-साहित्य-सरिता, जिस का आरम्भ विक्रम के आठवें शतक में हुआ था और जो अपने उद्गम के पास एक बहुत क्षीण धारा थी, विकसित होते होते आज एक विशाल महानद बन गई है और इस का विस्तार दिन पर दिन बढ़ता ही जा रहा है।

विषय-सूची

संख्या	विषय	पृष्ठ
	गोसाईं गोकुलनाथ जी	
१.	श्री गुसाईं जी के सेवक एक खंडन ब्राह्मण की वार्ता	३
	सैयद इंशा अल्लाह खाँ	
२.	डोलडाल एक अनोखी बात का ...	५
	श्री लल्लूलाल	
३.	वर्षा-शरद-ऋतु-वर्णन ...	८

संख्या	विषय		पृष्ठ
	राजा शिवप्रसाद, "सितारे हिन्द"		
४.	औरंगज़ेब की फ़ौज का वर्णन	...	१०
	श्री स्वामी दयानन्द जी सरस्वती		
५.	सत्यार्थ प्रकाश	...	१३
	श्रीयुत बालमुकुन्द गुप्त		
६.	एक दुराशा	...	१७
	'रसूम हिन्द' से		
७.	मनसुखी और सुन्दरसिंह का क़िस्सा	...	२२
	श्रीयुत बालकृष्ण भट्ट		
८.	माता का स्नेह	...	२७
	श्रीयुत महावीर प्रसाद द्विवेदी		
९.	पाण्डवों का विवाह	...	३२
१०.	साहित्य की महत्ता	...	४४
११.	विषधर सर्प	...	४८
१२.	नेपोलियन बोनापार्ट	...	५६
	श्रीयुत अयोध्यासिंह उपाध्याय		
१३.	देवबाला की मृत्यु	...	६७

विषय-सूची

संख्या	विषय		पृष्ठ
	श्रीयुत कामता प्रसाद गुरु		
१४.	सम्भाषण में शिष्टाचार	...	७३
१५.	हिन्दी में विराम-चिन्हों का दुरुपयोग	...	८२
	श्रीयुत गङ्गाधर सिंह		
१६.	शुक की कथा	...	६४
	राय बहादुर श्याम सुन्दर दास, बी० ए०		
१७.	हिन्दी नाटक और रङ्गशाला	...	१११
१८.	सभ्यता का विकास	...	११८
	श्रीयुत रामनारायण मिश्र		
१६.	महापुरुषों के जीवन का रहस्य	...	१२३
	श्रीयुत माधवराव सप्रे, बी ए०		
२०.	नेता के कुछ गुण	...	१२८
२१.	समर्थ और शिवाजी	...	१३७
	श्रीयुत प्यारेलाल मिश्र, बार-एट-ला		
२२.	विलायती पत्रों का इतिहास	...	१४८
२३.	लन्दन के पार्क	...	१५३

संख्या	विषय		पृष्ठ
	श्रीयुत लक्ष्मीधर वाजपेयी		
२४.	भगवान बुद्ध का उपदेश और उनकी शिष्य-मंडली		१६२
	स्वामी सत्यदेव परिव्राजक		
२५.	शिकागो का रविवार	...	१८१
	श्रीयुत प्रेमचन्द, बी० ए०		
२६.	अमावास्या की रात्रि	...	१६३
	श्रीयुत हरदयाल, एम० ए०		
२७.	रामायण का महत्त्व	...	२०६
	श्रीयुत राचमन्द्र शुक्ल		
२८.	अध्ययन		२२५
	सर्वश्री० बङ्किमचन्द्र चट्टोपाध्याय और रूपनारायण पाण्डये		
२६.	मेघ	...	२३८
३०.	वृष्टि	...	२४३
	सर्वश्री० द्विजेन्द्रलाल राय तथा रूपनारायण पाण्डेय		
३१.	राजपूतनी का बदला	...	४२७

संख्या	विषय		पृष्ठ
	श्रीयुत भागीरथ प्रसाद दीक्षित		
३२.	हिन्दू जाति की पाचन शक्ति	...	२६०
	श्रीयुत सन्तराम, बी० ए०		
३३.	लाहौर में रावी का उषाकालीन दृश्य	...	२७१
३४.	काह्नूजी आँग्रे	...	२८१
	श्रीयुत महावीरप्रसाद श्रीवास्तव, बी० ए०		
३५.	उन्नत देश के देहाती कैसे रहते हैं	...	२९६
	प्रोफ़ेसर शिवाधार पाण्डेय, एम० ए०		
३६.	कृष्ण-चरित	...	३०८
	सर्वश्री० दिनेशचन्द्र सेन, भगवानदास हालना, तथा बदरीनाथ शर्म्मा		
३७.	भरत	...	३३२
	श्रीयुत विश्वम्भरनाथ कौशिक		
३८.	रक्षा-बंधन	...	३५२
	सर्वश्री० यतीन्द्रनाथ सोम और चण्डीप्रसाद 'हृदयेश'		
३९.	सुधा	...	३६९

संख्या	विषय	पृष्ठ
	श्रीयुत पुराण-पाठी	
४०.	मध्य एशिया के खँडहरों की खुदाई का फल	३८१
	कुँवर नारायण सिंह	
४१.	हमीर ...	३८६
	श्रीयुत हरिवल्लभ जोशी	
४२.	हिन्दी-साहित्य और मुसलमान कवि ...	३६६
	सर्वश्री० नवीनचन्द्र सेन और सूर्य कुमार वर्मा	
४३.	महाभारत ...	४१२
	डाक्टर लक्ष्मण स्वरूप, एम० ए०	
४४.	जर्मन देश पर एक ऐतिहासिक दृष्टि ...	४२७
	श्रीयुत पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, बी. ए.	
४५.	त्रिमूर्ति ...	४३६
४६.	हेनरी फेब्र—('वैज्ञानिक जीवनी' से) ...	४५२
	श्रीयुत शालग्राम पण्ड्या	
४७.	आकाश-गङ्गा ...	४६८
	श्रीयुत कृपानाथ मिश्र, एम० ए०	
४८.	बर्लिन ...	४७८

संख्या	विषय		पृष्ठ
	श्रीयुत जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द'		
४९.	राजपूतों की अद्भुत देशभक्ति	...	४८७
	डाक्टर राम प्रसाद त्रिपाठी, एम० ए०		
५०.	अमेरिका की खोज	...	४९५
५१.	दीर्घ जीवन	...	५०४
	श्रीयुत गिरीन्द्र नारायण सिंह		
५२.	हरिद्वार	...	५११
	श्रीयुत शिवपूजन सहाय		
५३.	अभिमन्यु की वीरता	...	५२१

१

श्री गुसाईं जी के सेवक

(एक खण्डन ब्राह्मण की वार्ता)

लेखक—गोसाईं गोकुलनाथ जी

[गोकुलनाथ जी का स्फुरणकाल १६वीं शताब्दी का अन्तिम काल माना जाता है। अनुमान से ये १५६८ ई० के लगभग रहे होंगे। इनके पिता विट्ठलनाथ श्रीवल्लभाचार्य जी (सन् १५२०) के पुत्र थे। इनकी दो पुस्तकें मिलती हैं—एक चौरासी वैष्णवों की वार्ता और दूसरी दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता। ये धर्म-प्रचार के लिए लिखी हुई कहानियों का संग्रह हैं। इनका यह लेख प्राचीन काल की हिन्दी का नमूना है।]

सो श्रीनन्द गाम में रहेतो हतो। सो खंडन ब्राह्मण शास्त्र पढ़्यो हतो। सो जितने पृथ्वी पर मत हैं सबको खंडन करतो

ऐसो वाको नेम हतो। याहीं तें सब लोगन ने वाको नाम खंडन पाड़्यो हतो। सो एक दिन श्री महाप्रभु जी के सेवक वैष्णवन की मंडली में आयो सो खंडन करन लाग्यो। वैष्णवन ने कही, जो तेरो शास्त्रार्थ करनो होवै तो पंडितन के पास जा, हमारी मंडली में तेरे आयबे को काम नहीं। इहाँ खंडन-मंडन नहीं है। भगवद्वार्ता को काम है। भगवद्यश सुननो होवै तो इहाँ आवो। तोहुं वाने मानी नहीं। नित्य आयके खंडन करे। ऐसे वाकी प्रकृती हती। फेर एक दिन वैष्णवन को चित्त बहुत उदास भयो। जब वो खंडन ब्राह्मण घर में सूतो हतो तब चार जने वाकुं मुग्दर लैके मारन लगे। जब वानें कही, तुम मोकुं क्यों मारो हो, तब चार जनेन ने कही, तुम भगवद्धर्म खंडन करो हो। और भगवद्धर्म सर्वोपर है। सर्व धर्मन ते श्रेष्ठ है। केवल भगवत्परायण हैं। भगवदर्पण कर्यो हैं। तन मन धन जिनर्ने विनको कोई अर्थ बाकी रह्यो नहीं है। सर्व सिद्ध भये हैं। ऐसे धर्मन कुं खंडन करें हैं। जासुं तोकु मारै हैं। ये सुनके खंडन ब्राह्मण विन चार जनेन के पाँवन पड्यो। और दूसरे दिन भागवत-मंडली में आयके वैष्णवन के पाँवन पड़्यो और वैष्णवन सु वीनती करी के मोकुं कृपा करके वैष्णव करो और वैष्णवनकु संग लैके श्रीगोकुल आय के श्रीगुसांईं जी को सेवक भयो। सो वे खंडन ब्राह्मण श्रीगुसांईंजी की कृपा तें मंडन भयो। —["दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता" से]

२

डोलडाल एक अनोखी बात का

लेखक—सैयद इंशा अल्लाहखाँ

[इनके पूर्वज समरकंद से उठ कर काश्मीर होते हुए दिल्ली आ बसे थे। इनके पिता मीर माशाअल्लाह खाँ दिल्ली के राज दरबार में राजवैद्य थे। मुगल-साम्राज्य के अस्त होने पर वे मुर्शिदाबाद चले गये। वहाँ से पुनः दिल्ली में शाह आलम के दरबार में लौट आए। इंशा अल्लाखाँ बहुत अच्छे कवि थे। इनकी तबियत बड़ी रँगीली और चंचल थी। मुसलमान होते हुए भी इन्होंने जिस हिन्दी-पन से रँगी हुई भाषा लिखने में सफलता प्राप्त की है उसे देख कर आश्चर्य होता है। उनकी 'रानी केतकी की कहानी' से उनकी लेखनी का चुलबुलापन टपकता है।]

एक दिन बैठे बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिए कि जिसमें हिन्दी की छुट और किसी बोली की पुट न मिले, तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप से खिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच में न हो। अपने मिलने वालों में से एक कोई बड़े पढ़े-लिखे, पुराने-धुराने, डाँग, बूढ़े घाघ यह खटराग लाये। सिर हिलाकर, मुँह थुथाकर, नाक-भौंहें चढ़ाकर, आँखें फिराकर लगे कहने—यह बात होते दिखाई नहीं देती। हिन्दवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो। बस जितने भले लोग आपस में बोलते चालते हैं ज्यों का त्यों वही सब डौल रहै और छाँह किसी की न दे, यह नहीं होने का। मैंने उनकी ठंडी साँस का टहोका खाकर झुँझला कर कहा—मैं कुछ ऐसा बड़-बोला नहीं जो राई को पर्वत कर दिखाऊँ और झूठ-सच बोल कर उँगलियाँ नचाऊँ और बे-सिर, बे-ठिकाने की उलझी-सुलझी बातें पचाऊँ। जो मुझ से न हो सकता तो, यह बात मुँह से क्यों निकालता? जिस ढब से होता, इस बखेड़े को टालता। इस कहानी का कहने वाला आप को जताता है और जैसा कुछ उसे लोग पुकारते हैं, कह सुनाता है। दहना हाथ मुँह पर फेर कर आप को जताता हूँ, जो मेरे दाता ने चाहा तो वह ताव-भाव और कूद-फाँद, और लपट-झपट दिखाऊँ जो देखते ही आपके ध्यान का घोड़ा, जो बिजली से भी बहुत चंचल अच-

डोलडाल एक अनोखी बात का

पलाहट में है, अपनी चौकड़ी भूल जाय।

टुक घोड़े पर चढ़के अपने आता हूँ मैं।
करतब जो कुछ हैं, कर दिखाता हूँ मैं॥
उस चाहने वाले ने जो चाहा तो अभी।
कहता जो कुछ हूँ कर दिखाता हूँ मैं॥

अब कान रखके, आँखें मिला के, सम्मुख होके टुक इधर देखिए, किस ढब से बढ़ चलता हूँ और अपने फूल की पंखड़ जैसे होठों से किस किस रूप के फूल उगलता हूँ।

—["रानी केतकी की कहानी" से]

३

वर्षा-शरद्-ऋतु-वर्णन

लेखक—श्री लल्लूलाल

[लल्लूलाल का जन्म आगरे में सन् १७६३ ई० के लगभग हुआ था। आप फोर्ट विलियम कालेज, कलकत्ता, में अध्यापक थे। वहीं डाक्टर गिलक्राइस्ट की प्रेरणा से इन्होंने व्रजभाषा-मिश्रित खड़ी बोली के गद्य में प्रेम-सागर नाम की पुस्तक लिखी। इस पुस्तक से हिन्दी-गद्य का बहुत प्रचार हुआ। इसीलिए इन को वर्तमान गद्य का जन्मदाता कहते हैं, यद्यपि इन से पहले सन् १६२३ में जटमलने खड़ी बोली-गद्य में 'गोरा बादल की लड़ाई' लिखी थी। लल्लूजी लाल ने यथाशक्ति उर्दू शब्दों को अपने गद्य में स्थान नहीं दिया। इससे इन के गद्य में एक प्रकार की मृदुता सी आ गई है।]

वर्षा-शरद्-ऋतु-वर्णन

श्रीशुकदेव मुनि बोले कि—महाराज! ग्रीष्म की अति अनीति देख नृप-पावस प्रचण्ड पशु, पक्षी, जीव, जन्तुओं की दशा विचार चारों ओर से दल बादल साथ ले लड़ने को चढ़ आया। तिस समय घन जो गरजता था सोई तो धौंसा बाजता था और वर्ण वर्ण की घटा जो घिर आई थीं, सोई शूरवीर रावत थे। तिनके बीच बिजली की दमक शस्त्र की सी चमकती थी। बगपाँत ठौर ठौर ध्वजा सी फहराय रही थी। दादुर, मोर कड़खेतों की सी भाँति यश बखानते थे और बड़ी बड़ी बूँदों की झड़ी बाणों की सी झड़ी लगी। इस धूम-धाम से पावस को आते देख, ग्रीष्म खेत छोड़ अपना जी ले भागा। तब मेघ पिया ने वर्षा, पृथ्वी को सुख दिया। उसने जो आठ महीने पति के वियोग में योग किया था, तिसका भोग भर लिया। कुछ गिर शीतल हुए और गर्भ रहा। उसमें से अठारह भार पुत्र उपजे, सो भी फल-फूल भेंट ले ले पिया को प्रणाम करने लगे। उस काल वृन्दावन की भूमि ऐसी सुहावनी लगती थी कि जैसे शृङ्गार किये कामिनी। और जहाँ-तहाँ नदी, नाले, सरोवर भरे हुए, तिन पर हंस, सारस शोभा दे रहे, ऊँचे ऊँचे रूखों की डालियाँ झूम रहीं, उनमें पिक, चातक, कपोत, कीर, बैठे कोलाहल कर रहे थे और ठाँव ठाँव सूहे कुसुम्भे जोड़े पहरे गोपी-ग्वाल झूलों पर झूल झूल ऊँचे सुरों से मलारें गाते थे। उनके निकट जाय जाय श्रीकृष्ण, बलराम भी बाल-लीला कर कर अधिक सुख दिखाते थे।

४

औरंगज़ेब की फ़ौज का वर्णन

लेखक—राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द

[राजा साहब का जन्म काशी में सन् १८२३ में हुआ था और सन् १८६५ में आपका देहान्त हो गया। आप यू० पी० में शिक्षा-विभाग के इंस्पेक्टर थे। सिक्ख-युद्ध में सरकार का साथ देने के कारण आपको राजा तथा सी० आई० ई० की उपाधियाँ मिली थीं। आप हिन्दी के बहुत प्रेमी थे। आप की भाषा सरल होती थी परन्तु उस में उर्दू और फारसी के शब्द बहुत रहते थे।]

निदान अब ज़रा औरंगज़ेब की फ़ौज पर निगाह करनी चाहिए, ज़रा इसके सर्दारों के घोड़ों को देखना चाहिए। दुम और यालें बिल्कुल रँगी हुई, सोने-चाँदी के साज़ सिर से पैर तक लदे हुए,

कलग़ियाँ बहुत लम्बी लम्बी, पैरों में झाँझनें बँधी हुईं, मोटे इतने कि जितने लम्बे, शायद उसी के क़रीब क़रीब चौड़े, और फिर चारजामे, उन पर मख़मली ज़रदोज़ी, बड़े भारी दोनों तरफ़ लटकते हुए। सवार घोड़ों से भी ज़ियादा देखने लायक़ हैं। कोई अपने से ज़ियादा भारी दगला और ज़िरह बकतर पहने हुए, कोई घेरदार जामा और शाल-दुशाले लपेटे हुए। लेकिन चेहरे ज़र्द, रात के जागे, नशे में चूर या दवा खाते-पीते। दस क़दम घोड़ा चला, घोड़े को पसीना आया, सवार बेहोश हो गया। अगर दूर चलना पड़ा, दोनों बेदम हो कर गिर पड़े। जैसे सरदार वैसे ही उनके पियादे और सवार। लशकर में जहाँ दस सिपाही तो सौ बनिये दूकानदार, भाँड़-भगतिये, रण्डी-छोकरे, नौकर-खिदमतगार, ख़ानसामाँ। रसद काहे को मिल सकती। डेरे-डण्डे, ऐश-इशरत के साज़-सामान इतने कि कभी अच्छी तरह बार बर्दारी की तदबीर न हो सकती। तलवार पीछे रह जाय मुज़ाइका नहीं, पर तम्बूरा साथ रहना चाहिये। दुश्मन वार किये जाय परवा नहीं, पर चिलम न जलने पावे। उस वक्त का एक फ़राँसीसी इस फौज की ख़ूब तारीफ़ लिखता है। वह लिखता है कि तनख्वाहें बहुत बड़ी बड़ी और चाकरी कुछ भी नहीं। न कोई पहरा देता है न दुश्मन से मुक़ाबला करता है। और बड़ी से बड़ी सज़ा हुई तो एक दिन की तनख्वाह कट जाती है। जिमेली करेरी(Gemelli Carreri) ने मार्च सन् १६६५ ई० में औरंगजेब की छावनी गलगले में

देखी थी। वह लिखता है कि दस लाख से ऊपर आदमी थे और डेढ़ कोस में तो केवल बादशाह और शाहज़ादों के डेरे खड़े थे। इनको काम पड़ा उन मरहटों से जो अँगरखा, जाँघिया, एक पेची पगड़ी पहने, कमर कसे, हाथ में भाला दक्खनी, घोड़ों पर सवार, तीस कोस तो हवा खाने को घूम आते थे। न थकते, न माँदे होते थे। जौ-बाजरे की रोटी प्याज़ के साथ उनका खाना था और घोड़े का जीन तकिया, ज़मीन बिछौना और आसमान शामियाना था।

—['इतिहास-तिमिरनाशक' से]

५

सत्यार्थ-प्रकाश

लेखक—श्री स्वामी दयानन्द जी सरस्वती

[आर्य समाज के प्रसिद्ध प्रवर्तक स्वामी दयानन्द जी का जन्म काठियावाड़ के अन्तर्गत टङ्कारा नगर में संवत् १८८१ विक्रमी में हुआ था। पहले इनका नाम मूलजी था। संन्यास लेने पर इनका नाम दयानन्द हुआ। स्वामी जी की मातृ-भाषा गुजराती थी तो भी आपने राष्ट्र भाषा हिन्दी में अपने ग्रन्थ लिखे। स्वामी जी उच्चकोटि के धर्माचार्य, परम विद्वान्, समाज-सुधारक और सच्चे संन्यासी थे। आपने अपने सब अनुयायियों के लिए आर्य भाषा अर्थात् हिन्दी का सीखना आवश्यक ठहराया था। उनके एक ही ग्रन्थ सत्यार्थ-प्रकाश को पढ़ने के लिए लाखों मनुष्यों ने हिन्दी सीखी। स्वामी जी की हिन्दी संस्कृत-गर्भित है और मुहावरा भी संस्कृत का ही है। संवत् १९४० विक्रमी की दीवाली को विष-प्रयोग से आपका देहान्त हुआ।]

मेरा इस ग्रन्थ के बनाने का मुख्य प्रयोजन सत्य-सत्य अर्थ का प्रकाश करना है अर्थात् जो सत्य है उसको सत्य और जो मिथ्या है उसको मिथ्या ही प्रतिपादन करना सत्य अर्थ का प्रकाश समझा है। वह सत्य नहीं कहाता जो सत्य के स्थान में असत्य और असत्य के स्थान में सत्य का प्रकाश किया जाय, किन्तु जो पदार्थ जैसा है उस को वैसा ही कहना, लिखना और मानना सत्य कहाता है। जो मनुष्य पक्षपाती होता है वह अपने असत्य को भी सत्य और दूसरे विरोधी मत वाले के सत्य को भी असत्य सिद्ध करने में प्रवृत्त होता है। इसलिए वह सत्य मत को प्राप्त नहीं हो सकता। इस लिए विद्वान् आप्तों का यही मुख्य काम है कि उपदेश वा लेख द्वारा सब मनुष्यों के सामने सत्यासत्य का स्वरूप समर्पित कर दें। पश्चात् वे स्वयं अपना हिताहित समझ कर सत्यार्थ का ग्रहण और मिथ्यार्थ का परित्याग करके सदा आनन्द में रहें। मनुष्य का आत्मा सत्यासत्य का जानने वाला है तथापि अपने प्रयोजन की सिद्धि, हठ, दुराग्रह और अविद्यादि दोषों से सत्य को छोड़ असत्य में झुक जाता है। परन्तु इस ग्रन्थ में ऐसी बात नहीं रक्खी है और न किसी का मन दुखाना वा किसी की हानि पर तात्पर्य है। किन्तु जिस से मनुष्य-जाति की उन्नति और उपकार हो, सत्या-सत्य को मनुष्य लोग जान कर सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करें, क्योंकि सत्योपदेश के बिना अन्य कोई भी मनुष्य-

जाति की उन्नति का कारण नहीं है।

इस ग्रन्थ में जो कहीं कहीं भूल चूक से अथवा शोधने तथा छापने में भूलचूक रह जाय उसको जानने जनाने पर जैसा वह सत्य होगा वैसा ही कर दिया जायगा। और जो कोई पक्षपात से अन्यथा शङ्का वा खण्डन-मण्डन करेगा उस पर ध्यान न दिया जायगा। हाँ, जो वह मनुष्य-मात्र का हितैषी होकर कुछ जनावेगा उसको सत्य सत्य समझने पर उसका मत संगृहीत होगा। यद्यपि आज कल बहुत से विद्वान् प्रत्येक मतों में हैं वे पक्षपात छोड़ सर्वतंत्र सिद्धान्त अर्थात् जो जो बातें सब के अनुकूल सब में सत्य हैं उन का ग्रहण और जो एक दूसरे से विरुद्ध बातें हैं उन का त्याग कर परस्पर प्रीति में वर्त्तें वर्त्तावें तो जगत् का पूर्ण हित होवे। क्योंकि विद्वानों के विरोध से अविद्वानों में विरोध बढ़ कर अनेक विधि दुःख की वृद्धि और सुख की हानि होती है। इस हानि ने जो कि स्वार्थी मनुष्यों को प्रिय है सब मनुष्यों को दुःख-सागर में डुबा दिया है। इन में से जो कोई सार्वजनिक हित लक्ष्य में धर प्रवृत्त होता है उस से स्वार्थी लोग विरोध करने में तत्पर होकर अनेक प्रकार विघ्न करते हैं। परन्तु "सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः" अर्थात् सर्वदा सत्य का विजय और असत्य का पराजय और सत्य ही से विद्वानों का मार्ग विस्तृत होता है, इस दृढ़ निश्चय के आलम्बन से आप्त लोग परोपकार करने से

उदासीन होकर कभी सत्यार्थ प्रकाश करने से नहीं हटते। इस ग्रन्थ में यह अभिप्राय रक्खा गया है कि जो जो सब मतों में सत्य सत्य बातें हैं वे वे सब में अविरुद्ध होने से उनका स्वीकार करके जो जो मत-मतान्तरों में मिथ्या बातें हैं उन उन का खण्डन किया है। इस में यह भी अभिप्राय रक्खा है कि जब मत-मतान्तरों की गुप्त वा प्रकट बुरी बातों का प्रकाश कर विद्वान् अविद्वान् सब साधारण मनुष्यों के सामने रक्खा है, जिससे सब से सब का विचार होकर परस्पर प्रेमी हो के एक सत्य मतस्थ होवें। यद्यपि मैं आर्यावर्त्त देश में उत्पन्न हुआ और बसता हूँ तथापि जैसे इस देश के मत-मतान्तरों की झूठी बातों का पक्षपात न कर यथातथ्य प्रकाश करता हूँ वैसे ही दूसरे देशस्थ वा मतोन्नति वालों के साथ भी वर्त्तता हूँ, तथा सब सज्जनों को भी वर्त्तना योग्य है, क्योंकि मैं भी जो किसी एक का पक्षपाती होता तो जैसे आज कल के स्वमत की स्तुति, मण्डन और प्रचार करते और दूसरे मत की निन्दा, हानि और बन्द करने में तत्पर होते हैं वैसे मैं भी होता, परन्तु ऐसी बातें मनुष्यपन से बाहर हैं।

—["सत्यार्थ-प्रकाश" से]

६

एक दुराशा

लेखक—श्रीयुत बालमुकुन्द गुप्त

(सन् १८६३ से सन् १६०७ तक)

[बालमुकुन्द जी ज़िला रोहतक के गुरियानी ग्राम के निवासी थे। पहले उर्दू में ही लिखा करते थे। सन् १८८६ तक 'कोहनूर' और 'अवध पंच' आदि उर्दू पत्रों का संपादन करते रहे। फिर श्री० मदन मोहन मालवीय तथा श्री० प्रताप नारायण मिश्र के सत्सङ्ग में पड़ कर उन्होंने हिन्दी सीखी और उर्दू को एकदम छोड़ दिया। अब वे साप्ताहिक भारत मित्र तथा हिन्दी बंगवासी के संपादक हुए। इनके लेखों में हास्य और व्यङ्ग दोनों हैं। इनकी चुभीली भाषा की रोचकता उन्हीं गुणों पर निर्भर है।

बालमुकुन्द जी की शैली का झुकाव अधिकतर शुद्ध हिन्दी की ओर है; राजा शिवप्रसाद की तरह उस में उर्दू शब्दों की भरमार नहीं। 'साधारणत: उन की भाषा में एक प्रकार की पैनी धार सी होती है।']

नारंगी के रस में जाफ़रानी बसन्ती बूटी छान कर शिवशम्भु शर्मा खटिया पर पड़े मौजों का आनन्द ले रहे थे। ख़याली घोड़े की बागें ढीली करदी थीं। वह मनमानी जकन्दें भर रहा था। हाथ-पावों को भी स्वाधीनता दी गई थी। वह खटिया के तूल-अरज़ सीमा उल्लंघन करके इधर-उधर निकल गये थे। कुछ देर इसी प्रकार शर्मा जी का शरीर खटिया पर था और ख़याल दूसरी दुनिया में। अचानक एक सुरीली गाने की आवाज़ ने चौंका दिया। कन-रसिया शिवशम्भु खटिया पर उठ बैठे। कान लगा कर सुनने लगे। कानों में यह मधुर गीत बार-बार अमृत डालने लगा—

"चलो-चलो आज खेलें होली, कन्हैया घर"।

कमरे से निकल कर बरामदे में खड़े हुए। मालूम हुआ कि पड़ौस में किसी अमीर के यहाँ गाने बजाने की महफ़िल हो रही है। कोई सुरीली लय से उक्त होली गा रहा है। साथ ही देखा, बादल घिरे हुए हैं, बिजली चमक रही है, रिमझिम झड़ी लगी हुई है। वसन्त में सावन देख कर अकल ज़रा चक्कर में पड़ी।

विचारने लगे कि गाने वाले को मलार गाना चाहिये था न कि होली। साथ ही ख़याल आया कि फागुन सुदी है, वसन्त के विकास का समय है, वह होली क्यों न गावे। इसमें तो गानेवाले की नहीं विधि की भूल है, जिसने वसन्त में सावन बना दिया है। कहाँ तो चाँदनी छिटकी होती, निर्मल वायु बहती, कोयल की कूक सुनाई देती, कहाँ भादों की सी अँधियारी है, वर्षा की झड़ी लगी हुई है। ओह! कैसा ऋतुविपर्यय है।

इस विचार को छोड़ कर गीत के अर्थ का जी में विचार आया। होली खिलैया कहते हैं कि चलो आज कन्हैया के घर होली खेलेंगे! कन्हैया कौन? व्रज के राजकुमार। और खेलने वाले कौन? उनकी प्रजा ग्वाल बाल। इस विचार ने शिवशम्भु शर्मा को और भी चौंका दिया कि ऐं! क्या भारत में ऐसा समय भी था जब प्रजा के लोग राजा के घर जाकर होली खेलते थे और राजा-प्रजा मिल कर आनन्द मनाते थे? क्या इसी भारत में राजा लोग प्रजा के आनन्द को किसी समय अपना आनन्द समझते थे? यदि आज शिवशम्भु शर्मा अपने मित्रवर्ग सहित अबीर-गुलाल की झोलियाँ भरे, रङ्ग की पिचकारियाँ लिये, अपने राजा के घर होली खेलने जाये तो कहाँ जाये? राजा दूर, सात समुद्र पार है। न राजा को शिवशम्भु ने देखा न राजा ने शिवशम्भु को! ख़ैर, राजा नहीं, उसने अपना प्रतिनिधि भारत भेजा है। कृष्ण द्वारिका

ही में हैं पर उद्धव को प्रतिनिधि बना कर व्रजवासियों को संतोष देने के लिये व्रज में भेजा है। क्या उस राजप्रतिनिधि के घर जाकर शिवशम्भु होली नहीं खेल सकता ? ओफ़ ! यह विचार वैसा ही बेतुका है जैसे अभी वर्षा में होली गाई जाती थी। पर इसमें गाने वाले का क्या दोष है ? वह तो समय समझ कर ही गा रहा था। यदि वसन्त में वर्षा की झड़ी लगे तो गाने वाले को क्या मलार गाना चाहिये ? सचमुच बड़ी कठिन समस्या है। कृष्ण हैं, उद्धव हैं, पर व्रजवासी उनके निकट भी नहीं फटकने पाते। सूर्य है, धूप नहीं। चन्द्र है, चाँदनी नहीं। माई लार्ड नगर ही में हैं पर शिवशम्भु उनके द्वार तक नहीं फटक सकता है, उनके घर चल कर होली खेलना तो विचार ही दूसरा है। माई लार्ड के घर तक बात की हवा नहीं पहुँच सकती ? जहाँगीर की भाँति उसने अपने शयनागार तक ऐसा कोई घंटा नहीं लगाया जिसकी ज़ंजीर बाहर से हिलाकर प्रजा अपनी फ़रयाद उन्हें सुना सके। उसका दर्शन दुर्लभ है। द्वितीया के चन्द्र की भाँति कभी-कभी बहुत देर तक नज़र गड़ाने से उसका चन्द्रानन दिख जाता है तो दिख जाता है। लोग उँगलियों से इशारे करते हैं कि वह हैं। किन्तु दूज के चाँद के उदय का भी एक समय है। लोग उसे जान सकते हैं। माई लार्ड के मुखचन्द्र के उदय के लिए कोई समय भी नियत नहीं।

इन सब विचारों ने इतनी बात तो शिवशम्भु के जी में भी पक्की कर दी कि अब राजा-प्रजा के मिल कर होली खेलने का समय गया। तो भी इतना संदेश भंगड़ शिवशम्भु अपने प्रभु तक पहुँचा देना चाहता है कि आप के द्वार पर होली खेलने की आशा वाले एक ब्राह्मण को कुछ नहीं तो कभी-कभी पागल समझ कर ही स्मरण कर लेना। वह आपकी गूँगी प्रजा का एक वकील है।

—["शिवशम्भु का चिट्ठा" से]

७

मनसुखी और सुन्दर सिंह का क़िस्सा

[इस लेख के लेखक का नाम मालूम नहीं। इसकी भाषा मेरठ और दिल्ली ज़िले के देहात की है। ग्रामों की स्वाभाविक बोली होने से इस में मिठास खूब है।]

एक दफ़े बहार के मौसम में जब कि जाड़ा बीत गया और जङ्गल में तरह-तरह के बेल-बूटे और रंग-रंग के फूल खिलने लगे, अहीरपुर गाँव में सीतला का बड़ा मेला हुआ। वहाँ की तमाम औरतें और मर्द हाथों में पुजापा लिए अपने-अपने घरों से बाहर निकले। रस्ते में सम-वयस्क लड़कियाँ आपस में हँसती-बोलती सीतला के सुहैले गाती जाती थीं। इन में एक अहीर की लड़की, जिसका नाम मनसुखी था, अपने चचा सुजानसिंह नम्बरदार और चची

सुन्दरकौर के साथ घर से बाहर निकली। इसी समय उनका पुरोहित ज्ञानचन्द मिश्र भी अपनी बेटी पार्वती को साथ लिये माताजी की पूजा करने उनके साथ हुआ। मनसुखी ने पार्वती को देखते ही उसका हाथ पकड़ लिया और दोनों की बातें होने लगीं। इसमें पार्वती ने कहा—मनसुखी! तेरे ब्याह को तो पाँच बरस हो गये होंगे और तू भी पन्द्रह वर्ष की हुई, अब गौना कब होगा?

उसने उत्तर दिया—अब के बरसात में बतावें हैं। फिर पार्वती ने कहा—जीजी, तेरा बनड़ा तो बड़ा सुन्दर है। यह बात सुन कर मनसुखी मुस्कराई और कहने लगी—हाँ, जीजी! मैंने भी उसे कई बेर छुप-छुपा कर देखा था। मुझे भी उसकी सूरत भली लगी थी। पार्वती ने कहा—मनसुखी! अब तो तेरे गौने का महीना ही भर रह गया है। जब तू अपने बनड़े के साथ चली जायगी तो मुझ से काहे को मिलेगी? छः सात महीने पीछे कभी आई, दो चार दिन रह गई। फिर तू कहाँ और हम कहाँ! मनसुखी बोली—नहीं री, मेरे चाचा ने यह सोचा है कि उसको अपने ही घर रक्खें। वह बड़ा निर्धन हो गया है। पार्वती ने कहा—जीजी, यह तो भगवान् की माया है। ढलती-फिरती छाँव है। धन-दौलत किसके थिर रही है। पर यह अच्छा हुआ कि तेरा बनड़ा यहीं आ रहेगा। मनसुखी ने कहा—क्या मिट्टी अच्छा हुआ! जीजी, सब धन के गर्जी हैं। अब मेरे चाचा-चाची इसकी वैसी आव-

भगत कहाँ करे हैं, जैसी पहले करें थे। फिर पार्वती ने पूछा—मनसुखी, तेरे चाचा-चाची किस कारण माता की *जात देने आए हैं? उसने कहा—तुझे खबर नहीं? जब मेरे भाई के माता निकली और सारी देह में कहीं तिल रखने को जगह न रही और उसके जीने की आस जाती रही, उस समय मेरी चाची ने †पल-हँडे तले माता से ‡अरदास करके कहा था कि माता रानी, अपने गुलाम पर दया कर! जब यह पाँच बरस का होगा, मैं तेरी जात दूँगी, और तेरे नाम पर एक बछड़ा छोड़ूँगी, और भगत को जोड़ा पहनाऊँगी। सो अब मेरा मोहन भाई पाँच बरस का हो गया है। इसलिए हम जात देने आए हैं।

ये बातें इन लड़कियों में हो ही रही थीं कि इतने में सबके सब सीतला के मन्दिर के पास आ पहुँचे। मनसुखी पार्वती से जुदा होकर अपनी चची के साथ हो ली और अपने भाई मोहन को गोद में लेकर मन्दिर के भीतर गई। क्या देखती है कि वहाँ एक पीतल की मूर्ति फूल और हारों से लदी हुई रक्खी है। मनसुखी के चचा ने अपनी भार्या से कहा—ले मोहन की माँ, पुजापा निकाल और छोरे के हाथ से छुआ के महारानी पर चढ़ा दे और भक्त जी को जोड़ा पहना दे, और बछड़े को छोड़ दे।

---

* भेंट। † ठाँरियों की घड़ौंजी। ‡ विनय।

मनसुखी की चची ने सब पुजापा चढ़ा दिया। फिर सब के सब मन्दिर के बाहर निकले। एक भङ्गी ने आते ही मुर्ग फड़फड़ाया और कहा—दाता की ख़ैर! सदके का पैसा दिलाओ। दूसरी तरफ से एक और भङ्गी सुअर का बच्चा हाथ में लिए हुए आया और दो चार बार लड़के के सिर पर वार के छोड़ दिया। और कहा—घीटे की छुड़वाई का पैसा मिल जाय। चन्द्रकौर ने इन दोनों को एक-एक पैसा दे दिया। ज़रा ही आगे बढ़े होंगे कि एक औरत मिट्टी की मूरत लिए हुए सामने से नज़र पड़ी और चन्द्रकौर को देख कर बोली—कलेजे वाली की भी भेंट चढ़ाती जा। एक और बोली—फपोले वाली से भी डर। एक ने कहा—खुजली माता का भी पैसा रखती जा। मनसुखी की चची ऐसे भयानक शब्द सुन कर काँपती थी और हर एक के आगे पैसा रखती जाती थी। अन्त को जब पैसे देते-देते हैरान हो गई तो जल्दी से पीछा छुड़ा कर एक तरफ़ को चली। और वहीं एक पेड़ के तले सब ने इकट्ठे हो कर बासी खाना खाया। जब खाना खा चुके और मेला कम हो गया, तो ये भी अपने घर की तरफ़ चले। और वहाँ पहुँच कर अपने-अपने काम में लग गये।

उसी दिन रात्रि के समय जब घर के सब लोग एकत्र थे, सुजानसिंह एक खाट पर बैठा हुक्का पी रहा था और उसकी स्त्री एक ओर भूमि पर बैठी थी। दूसरी ओर मनसुखी मोहन

को खाना खिला रही थी। सुजानसिंह ने अपनी स्त्री से मनसुखी के गौने का ज़िक्र किया और कहा—मोहन की माँ, मनसुखी का बनड़ा एक महीने पीछे आयगा और वह यहीं रहेगा। उसकी स्त्री ने कहा—सामने की कोठरी खाली कर दूँगी। गौने का भी सारा सामान धरा है। थोड़ी देर तक इनमें यही बातें होती रहीं। फिर मनसुखी और मोहन भीतर के दालान में अपनी खाट बिछा कर सो रहे। बाहर के दालान में चन्दकौर अपने छोटे बेटे को लेकर लेट गई और सुजानसिंह इसी दालान की कोठरी में जा पड़ा।

—["रसूम हिन्द" से]

८

माता का स्नेह

वात्सल्य-रस की शुद्ध मूर्ति माता के सहज स्नेह की तुलना इस जगत् में, जहाँ केवल अपना स्वार्थ ही प्रधान है, कहीं ढूँढ़ने से भी न मिलेगी। दादी, दादा, चाचा, ताऊ आदि का स्नेह मर्यादा-परिपालन के ध्यान से देखा जाता है, किन्तु माता-पिता का स्नेह पुत्र में निरे वात्सल्य-भाव के मूल पर है। अब इन दोनों में विशेष आदरणीय, सच्चा और निःस्वार्थ प्रेम किसका है इसी बात को हम यहाँ बतलाना चाहते हैं।

बहुत लोगों की अनुमति है कि लाड़-प्यार से लड़के बिगड़ जाते हैं, पर सूक्ष्म विचार से देखा जाय तो बालकों में अच्छी-अच्छी बातों का अंकुर गुप्त रीति पर प्यार ही से जमता है। विला-

यत के एक विद्वान ने लिखा है कि मेरी माँ के बार-बार मुझे चूमने ने मुझे चित्रकारी में प्रवीण कर दिया। गुरु जितना पाठ-शाला में भय और ताड़ना दिखला कर वर्षों में सिखला सकता है उतना अपने घर में लड़के माँ के अकृत्रिम सहज स्नेह से एक दिन में सीख लेते हैं। माँ के स्वाभाविक सच्चे और अकृत्रिम प्रेम का प्रमाण इससे बढ़ कर और क्या मिल सकता है कि लड़का कितना ही रोता अथवा मुरझाया हुआ हो, माँ की गोद में जाते ही चुप हो जाता है और जहाँ थोड़ी देर तक लड़के ने दूध न पिया माँ के स्तन भर आते हैं, दूध टपकने लगता है और वह विकल हो जाती है। दस मास तक गर्भ में धारण करने का क्लेश, जनने के समय की पीड़ा, उसके पालन-पोषण की चिन्ता, उसे नीरोग और प्रसन्न देख कर चित्त का हुलास, रोगी तथा अनमन देख अत्यन्त विकल होना इत्यादि सब माता ही में पाया जाता है। लड़का कुपूत और निकम्मा निकल जाय तो बाप उसका साथ नहीं देता, वह उसे घर से निकाल अलग कर देता है, पर माँ बहुधा पति को भी त्याग कर निकम्मे पुत्र का साथ देती है। दो चार नहीं वरन् हजारों ऐसी मातायें देखी गई हैं जिन्होंने बालक की अत्यन्त कोमल अवस्था ही में पिता के न रहने पर चक्की पीस-पीस कर अपने पुत्र को पाला और उसे पढ़ा-लिखा कर सब भाँति समर्थ और योग्य कर दिया। पुत्र भी ऐसे सुयोग्य हुए हैं कि सब भाँति भरे-पूरे

घरानों में भी न निकलेंगे। महाकवि श्रीहर्ष के पिता ने, जब ये केवल पाँच ही वर्ष के थे, वाद में पराजित होकर लाज से तन त्याग दिया तो इनकी माँ ने चिन्तामणि-मन्त्र का इनसे जप करवाया और सरस्वती देवी का कृपापात्र बना इन्हें बड़ा भारी पण्डित बना दिया और पीछे से अपने पति के परास्त करनेवाले पण्डित को वाद में हरा कर पूरा बदला चुकवाया।

पुराणों में ऐसी अनेक कथाएँ मिलती हैं जिनमें माता का वात्सल्य टपक रहा है। माता का एक बार का प्रोत्साहन पुत्र के लिए जैसा उपकारी और उसके चित्त में प्रभाव उत्पन्न करनेवाला होता है वैसी पिता की सौ बार की शिक्षा और ताड़ना भी नहीं। सौतेली माँ सुरुचि के वज्रपात-सदृश वाक्प्रहार से ताड़ित और पिता की अवज्ञा और निरादर से अत्यन्त सन्तापित ध्रुव को, जब ये केवल पाँच ही वर्ष के बालक थे—माता का एक बार का प्रोत्साहन ध्रुव पदवी की प्राप्ति का हेतु हुआ; जिसके समान उच्च और स्थिर पद आज तक किसी को मिला ही नहीं। पिता का स्नेह बहुधा बदला चुकाने की इच्छा से होता है। वह पुत्र को इसी लिए पालता-पोसता और पढ़ाता-लिखाता है कि बुढ़ापे में वह हमारे काम आयेगा; जब हम सब भाँति अपाहिज और अपङ्ग हो जायँगे तो हमारी सेवा करेगा और हमारे अन्न-वस्त्र की चिन्ता रक्खेगा। पर माँ का उदार और अकृत्रिम प्रेम इन सब बातों की कभी इच्छा नहीं

रखता। माँ अपनी प्रिय सन्तान के लिए कितना कष्ट सहती है जिसको स्मरण कर चित्त में वात्सल्य-भाव का उद्गार हो आता है। माता के स्नेह में पिता के समान प्रत्युपकार की वासना भी नहीं है। दया मानो देह धरे सामने आकर खड़ी हो जाती है। टूटी फूस की झोंपड़ी में जब मूसलाधार पानी बरस रहा है, फूस का ठाठ सब ओर से ऐसा टपकता है कि कहीं तिल भर भी जगह नहीं बची है, न कङ्गाली के कारण इतना कपड़ा-लत्ता पास है कि आप ओढ़े और प्रिय सन्तान को ढाँप कर वृष्टि से बचावे, ऐसे समय में आधी धोती ओढ़े आधी से अपने दुध-मुँहे बालक को ढाँपे माता 'उसको छाती से लगाये हुए है। अपने प्राण और देह की तनिक भी चिन्ता नहीं है, किन्तु वात और वृष्टि से पुत्र का कोई अनिष्ट न हो, इसलिए वह अत्यन्त व्यग्र हो रही है। पुत्र की रोगी और अस्वस्थ दशा में पलङ्ग के पास उदास बैठी मन मारे उसका मुँह ताक रही है। रात की नींद दिन का भोजन दुस्तर हो गया है। भाँति-भाँति की मिन्नतें मानती है। जो कोई कुछ कहता है वह सब कुछ करती जाती है। अपनी जान तक चाहे चली जाय पर पुत्र को स्वास्थ्य लाभ हो। पिता को अपने शरीर पर इतना कष्ट उठाना कभी न आवेगा। यह माता ही है जो पुत्र के स्वाभाविक स्नेह के वश हो इतने-इतने दुःख सहती है। बुद्धिमानों ने इन्हीं सब बातों को सोच-विचार कर लिख दिया है कि पिता से माँ का गौरव सौ गुना अधिक

है। माँ का केवल गौरव मान बैठ रहना कैसा। हम तो कहेंगे कि पुत्र जन्म भर तन, मन, धन से माँ की सेवा करे तो भी उससे उऋण नहीं हो सकता। भाई-बहन में, भाई-भाई में, या बहन-बहन में परस्पर स्नेह का बन्धन और बहुधा समान शील का होना माँ ही के दूध का परिणाम है। एक ही माँ का दूध सब पीते हैं इसीलिए वे इतने प्रेमबद्ध रहते हैं। रहस्य-लीला में गोपियों ने भगवान् से तीन प्रश्न किए, जिसमें उन्होंने तीन तरह के प्रेम का मार्ग दिखाया है। एक तो वे जो प्रेम करने पर प्रेम करते हैं, दूसरे वे जो, उनसे चाहो प्रेम करो वा न करो, तुम से प्रेम करते हैं, तीसरे वे जो ऐसे दुष्ट हैं कि उनसे कितना ही प्रेम करो तो भी नहीं पसीजते। इसके उत्तर में भगवान् ने कहा है कि जो परस्पर प्रेम करते हैं वह तो एक प्रकार का बदला है, स्वच्छ स्नेह उसे न कहेंगे। काम पड़ने पर शत्रु मित्र बना ही करते हैं, उसमें सौहार्द धर्म-मूल नहीं है, किन्तु दोनों परस्पर स्वार्थी हुए तो कुछ न कुछ कपट उनमें अवश्य ही रहेगा। मन में कपट का लेश भी आया कि स्वच्छ स्नेह की जड़ कट गई। केवल धर्म ही धर्म और स्नेह को दर्पण के समान प्रकाश कर देने वाला जिसमें बदला पाने की कहीं गन्ध भी नहीं वह स्नेह वही है जो दया के साक्षात् स्वरूप माँ और बाप पुत्र में रखते हैं।

—बालकृष्ण भट्ट

❀ ❀ ❀

६

पाण्डवों का विवाह

लेखक—श्रीयुत महावीर प्रसाद द्विवेदी

[श्री द्विवेदी जी का जन्म सन् १८६४ ईसवी में रायबरेली ज़िले के दौलतपुर नामक गाँव में हुआ था। आप पहले तार विभाग में नौकर थे। फिर नौकरी छोड़ कर आप हिन्दी-साहित्य की सेवा में लग गये। आपने प्रयाग की सुप्रसिद्ध हिन्दी पत्रिका, सरस्वती, का लगभग बीस वर्ष तक सफलतापूर्वक सम्पादन किया। आप हिन्दी के आचार्य माने जाते हैं। आपकी भाषा बड़ी परिमार्जित और ज़ोरदार होती है। आप सदा सरल और छोटे वाक्य लिखते हैं। आपने संस्कृत तथा अँगरेज़ी के कई उत्तमोत्तम ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद किया है। आपने ३० से ऊपर ग्रन्थ लिखे हैं। अस्वस्थ रहने के कारण अब आपने लिखना छोड़ रक्खा है।]

कुन्ती के साथ पाण्डव लोग रास्ते में रमणीक सरोवर के पास ठहरते हुए, दक्षिण-पाञ्चाल देश की तरफ चलने लगे। रास्ते में उनको बहुत से ब्राह्मण मिले जो स्वयम्वर देखने के लिए जा रहे थे। ब्राह्मण लोग यह न जानकर कि पाण्डव कहाँ जा रहे हैं और उनको भी अपनी ही तरह ब्राह्मण समझ कर कहने लगे—

"तुम लोग हमारे साथ पाञ्चाल चलो। वहाँ एक महा अद्भुत उत्सव होने वाला है। राजा द्रुपद ने यज्ञ की वेदी से एक कन्या पाई थी। उसी कमल-नयनी का स्वयम्वर रचा जायगा। हम उसी का अनुपम रूप और उसी के स्वयम्वर का ठाठ बाट देखने जाते हैं। वहाँ अनेक देशों से कितने ही बड़े-बड़े योद्धा और अस्त्र-विद्या में निपुण राजे और राजकुमार आवेंगे। मङ्गलपाठ करने वाले सूत, पुराण जाननेवाले मागध, स्तुति करनेवाले बन्दीगण, नट, नाचनेवाले और अनेक देशों के योद्धा लोग वहाँ आकर अपने-अपने कर्तब दिखायेंगे।"

यह सुन कर पाण्डव लोग ब्राह्मणों के साथ हो लिये और शीघ्र ही पाञ्चाल नगर में जा पहुँचे। देश देशान्तर से आये हुए राजा लोग जहाँ उतरे थे, वे सब स्थान और नगर अच्छी तरह देखकर पाण्डव ब्राह्मणों की तरह एक कुम्हार के घर में जा कर उतरे। राजा द्रुपद ने मन ही मन में यह ठान ली थी कि मैं अपनी कन्या उसी को दूँगा जो बहुत बड़ा धनुर्धारी होगा। इस इरादे से

उन्हों ने एक ऐसा धनुष बनवाया था जिस पर प्रत्यञ्चा चढ़ा कर झुकाना बड़ा कठिन काम था। उन्हों ने एक आकाश-यन्त्र भी तैयार कराया था। यह यन्त्र अधर में लटका हुआ हिला करता था। उसी यन्त्र में, बहुत ऊँचाई पर, एक निशाना लटकाया गया था। यह सब करके राजा द्रुपद ने मुनादी करा दी थी कि जो कोई इस धनुष को तान कर पाँच ही बाणों में हिलनेवाले यन्त्र के छेद के भीतर से निशाना मार सकेगा, उसी को मैं कन्यादान दूँगा।

इस के लिये नगर से मिली हुई एक साफ चौरस ज़मीन पर स्वयंम्वर-स्थान बनाया गया। सभा-स्थल के चारों ओर दीवार बनाई गई और खाइयाँ खोदी गईं। फिर उस में जगह-जगह पर द्वार बनाये गये। रङ्गभूमि में चारों तरफ दूध के समान शुभ्र राजभवन, मणियों से जड़ी हुई उनकी छतें और आँगन, बराबर-बराबर जगह पर बने हुए एक ही तरह के सब दरवाज़े, मनोहर सीढ़ियाँ और विचित्र पुष्पों की मालाओं से शोभित चँदोवे आदि अपूर्व शोभा धारण किये हुए थे।

राजा द्रुपद के प्रण को सुन कर चारों तरफ से राजा लोग आने लगे। कर्ण के साथ दुर्योधन आदि कुरु लोग, तथा बलदेव और कृष्ण आदि यादव लोग भी आये। अनेक स्थानों से ऋषि और ब्राह्मण लोग उत्सव देखने के लिये आये। राजा द्रुपद ने सब का यथोचित सत्कार किया और स्वयम्वर का दिन

आने तक मेहमानों का मन बहलाने के लिए नाच, गाना-बजाना, तरह-तरह के कला-कौशल और कसरतें दिखलाने की व्यवस्था की।

इस तरह पन्द्रह दिन बीत गये। स्वयम्वर का शुभ दिन आ पहुँचा। रंगभूमि में सुगंधित जल का छिड़काव हुआ। दर्शक लोगों के लिए बनाये गये मचानों पर जगह-जगह पर अच्छे-अच्छे आसन और दूध के समान सफेद सेजें बिछाई गईं, और अस्त्र-विद्या में निपुण बड़े-बड़े वीर, बड़े-बड़े बली, नौजवान राजा लोग बड़े ही सुहावने वस्त्राभूषणों से सजकर और अस्त्र-शस्त्र धारण करके सभा में आये और आसनों की सब से ऊपर वाली क़तार में बैठ कर कुल, शील और ऐश्वर्य के घमंड में चूर हो डाह भरी आँखों से एक दूसरे का मुख देखने लगे! शुभ मुहूर्त आ गया। राजा द्रुपद के चंद्रवंशी पुरोहितों ने यथाविधि आहुति देकर अग्नि को तृप्त किया और ब्राह्मणों के द्वारा स्वस्ति-वाचन कराया। उस के समाप्त होते ही एक दम से बाजा बजना बन्द हो गया। सभास्थल में सन्नाटा छा गया। स्नान किये हुए, अनुपम वस्त्राभूषणों से सजी हुई, हाथ में विचित्र काञ्चनी माला लिये हुए, अपूर्व लावण्यमयी द्रौपदी अपने भाई धृष्टद्युम्न के साथ रङ्गभूमि में पधारी। धृष्टद्युम्न ने मीठे और गम्भीर स्वर से हाथ उठाकर सब से कहा:—

"हे उपस्थित नरेश गण ! आप लोग श्रवण कीजिये। यह धनुष-बाण और निशाना है। जो इस आकाश-यन्त्र के बीचों-बीच के सूराख़ से पाँच बाण चला कर निशाना मार सकेगा, उसी को हमारी बहन जयमाला पहनावेगी।"

उसी समय तीनों लोकों की सुन्दरियों में श्रेष्ठ द्रौपदी के दर्शन से मोहित हुए राजा लोग एक दूसरे को जीतने की इच्छा से अपने-अपने आसनों से उठे। सभा के सब लोग द्रौपदी की तरफ़ टकटकी लगा कर रह गये।

उसी समय बुद्धिमान् कृष्ण ने इधर-उधर देखते-देखते साधारण आदमियों के बीच में ब्राह्मण-वेशधारी पाँच तेजस्वी पुरुषों को देखा। इससे उनका ध्यान सहसा उसी ओर खिंच गया। कुछ देर सोच कर उन्हों ने अपने बाल-मित्र अर्जुन को अच्छी तरह पहचान लिया और बलदेव को भी उधर देखने के लिए इशारा किया। बलदेव ने भी कृष्ण के अनुमान को सच समझा। तब कृष्ण और बलदेव दोनों को विश्वास हो गया कि पाण्डव लोग लाक्षागृह में जलने से बच गये हैं।

परन्तु और राजकुमारों के प्राण तो द्रौपदी पर निछावर हो चुके थे। उन्हें किसी दूसरी तरफ़ ध्यान देने की फ़ुरसत कहाँ। वे ईर्ष्या और दुराशा के कारण अपने-अपने होंठ काट रहे थे और चञ्चल चित्त से इधर-उधर घूम कर एक दूसरे के निशाना

मारने की चेष्टा का नतीजा देख रहे थे। एक-एक करके दुर्योधन, शाल्व, शल्य, वंग-नरेश, विदेह-राज आदि अनेक राजकुमारों ने मुकुट, हार, बाजूबंद और कड़े आदि अलंकारों से भूषित होकर अपना-अपना बल-वीर्य्य दिखलाया। किंतु उस विकट धनुष को पूरी तौर से तान कर उस पर प्रत्यञ्चा चढ़ाना तो दूर रहा, उसको ज़रा-सा झुकाते ही उस की कड़ी चोट से वे इधर-उधर गिरने और उन के मुकुट कुण्डल, हार और भुजबन्द आदि टूट-टूट कर चारों ओर बिखरने लगे। इससे राजकुमारों ने हार मानी। वे बड़े ही लज्जित हुए। उनके चेहरे फीके पड़ गए। उन्होंने द्रौपदी को पाने की आशा छोड़ दी।

महाधनुर्धारी कर्ण राजाओं को इस तरह अपना सा मुँह लिए लौटते देख, झपट कर धनुष के पास जा पहुँचे। सहज ही में उन्हों ने उस प्रचण्ड धनुष को उठा लिया और झुका कर उस पर प्रत्यंचा चढ़ा दी। इस से सब लोगों को बड़ा आश्चर्य्य हुआ। इस के बाद पाँच बाण हाथ में ले कर वे उस आकाश-यन्त्र के पास पहुँचे और निशाना मारने को तैयार हुए। उस समय सबने सोचा कि यही निशाने को मार कर वर-माला प्राप्त करेंगे। पाण्डव लोग कर्ण के कन्या पाने की सम्भावना से बहुत घबराये। द्रौपदी सब के मुँह से यह सुन कर कि यह राधा के पुत्र हैं, इनका पालन सारथी अधिरथ ने किया है, इनका जन्म सूत-वंश में है और

अनेक राजाओं के मुँह पर तिरस्कार-सूचक हँसी देख कर सहसा बोल उठी।

"मैं सूत-पुत्र के साथ विवाह न करूँगी।"

यह सुनते ही अभिमानी कर्ण को क्रोध-पूर्ण हँसी आई। उन्हों ने उसी क्षण धनुष-बाण रख दिया और चुपचाप सूर्य की ओर टकटकी बाँध कर देखने लगे।

इस के बाद बाकी क्षत्रिय लोग एक-एक कर के निशाना मारने को उठे, पर सब विफल-मनोरथ हुए। चेदि-राज शिशुपाल ने उस धनुष को झुका ज़रूर दिया, पर उसकी चोट वे न सह सके। उससे उनका घुटना टूट गया। महाबली जरासन्ध भी धनुष के धक्के से ज़मीन पर आ रहे। मद्र देश के राजा शाल्व भी घुटनों के बल गिर पड़े। मतलब यह कि सब ने ठंडी साँसें भर कर हार मानी।

राजाओं की ऐसी दुर्दशा देख कर अर्जुन से बैठे न रहा गया। वे ब्राह्मण-वेष को भूल गए और अपने क्षत्रिय तेज तथा द्रौपदी की सुन्दरता के बस में हो कर सहसा उठ खड़े हुए। उठ कर वे उस तरफ बढ़े जिस तरफ से निशाना मारा जाता था। इस से ब्राह्मणों में बड़ा कोलाहल मच गया। कोई चिल्ला कर अर्जुन को उत्साह देने लगा। कोई दुःखी हो कर कहने लगा—

"अहा! कैसे आश्चर्य की बात है! बड़े-बड़े धनुर्धारी राजा

लोग जो काम न कर सके, उसको अस्त्र-विद्या न जानने वाला ब्राह्मण-कुमार कैसे कर सकेगा ! चाहे घमण्ड में चूर होकर हो या कन्या पाने की इच्छा से मोहित हो कर हो, यह आदमी अपनी शक्ति का विचार किये बिना ऐसा कठिन काम करने को तैयार हुआ है। यह सब ब्राह्मणों की हँसी करावेगा; इसलिए इसको इस कार्य्य से रोकना चाहिए।" अर्जुन के पक्षवालों ने कहा—

"इस जवान के ऊँचे कन्धों, लम्बी भुजाओं और चलने के उत्साह को देख कर हम लोगों को आशा होती है कि यह इस काम को ज़रूर करेगा। दुनिया में ऐसा कौन काम है जिस को ब्राह्मण नहीं कर सकते ! वे फलाहार और वायु-भक्षण कर के ही नहीं किन्तु अगर कुछ भी न खायँ, तो भी शरीर का तेज बनाये रह सकते हैं। देखो, महर्षि परशुराम ने तो पृथ्वी के सब क्षत्रियों को जीत लिया था। इसके सिवाय यह ब्राह्मण-कुमार यदि इस काम को न भी कर सका, तो भी कोई अपमान की बात नहीं। इसलिए सब लोग चुपचाप इसके काम को देखो।"

इस बात से सब लोग शान्त हो कर ध्यानपूर्वक अर्जुन को देखने लगे। इस के बाद अर्जुन ने पहले वरदायक महादेव जी को प्रणाम कर के उस विकट धनुष की प्रदक्षिणा की। फिर बाल मित्र कृष्ण को स्नेह भरी दृष्टि से अपनी तरफ़ देखते हुए देख कर बड़े आनन्द और उत्साह के साथ उन्होंने धनुष उठा लिया। ऐसा करते

देख जिन धनुर्धारी और पराक्रमी राजाओं के हज़ार चेष्टा करने पर भी धनुष न उठा था, उन्हें बड़ी लज्जा मालूम हुई। अर्जुन ने धनुष को तान कर झट उस पर प्रत्यञ्चा चढ़ा दी और हिलनेवाले यन्त्र के छेद के बीच से पाँच बाण मार कर निशाने को ज़मीन पर गिरा दिया।

सभा में हलचल मच गई। देवता लोग अर्जुन के ऊपर फूल बरसाने लगे। हज़ारों ब्राह्मण अपने मृगचर्म और उत्तरीय हिला-हिला कर बड़ी खुशी प्रकट करने लगे। बाजे वालों ने तुरही बजाना और सूत-मागधों ने मधुर कण्ठ से स्तुति-पाठ करना आरम्भ किया।

द्रौपदी ने अर्जुन की अतुल कान्ति को देख कर खुशी के साथ उनके गले में जयमाला पहना दी। राजा द्रुपद भी अर्जुन के अद्भुत बल और फुरतीलेपन से प्रसन्न हो कर कन्यादान करने की तैयारी में लगे।

द्रुपद को इस ब्राह्मण-कुमार के हाथों में कन्यादान देने के लिए तैयार देख कर आये हुए राजा लोगों को बड़ा क्रोध हो आया। वे एक दूसरे के मुँह की तरफ़ देख कर कहने लगे—

"राजा ्रुपद ने हम लोगों का निरादर किया। हम लोगों का बड़ा अपमान हुआ। देवताओं के समान राजाओं में इन्होंने किसी को अपनी कन्या देने योग्य न समझा। ब्राह्मणों को वरमाला पाने

का क्या अधिकार है ? स्वयंवर की चाल केवल क्षत्रियों ही के लिए शास्त्र में लिखी है। अपनी रीति छोड़ने वाले इस नीच राजा को, आओ, हम लोग मार डालें। इस के साथ इस के पुत्र को भी जीता न छोड़ें। कन्या यदि हम लोगों में से किसी को भी न पसन्द करे, तो उसे अग्नि में डाल कर हम लोग अपने-अपने राज्य को लौट जायँ।"

क्रोध से अन्धे हुए हज़ारों हथियारबंद राजे तब राजा द्रुपद की तरफ़ झपटे। इस से वे बहुत डर गए। अर्जुन और भीमसेन ने यह देख कर हथियार उठा लिए और पाञ्चाल-नरेश की रक्षा करने के लिए आगे बढ़े। भीमसेन ने पास के एक वृक्ष को उखाड़ लिया और उसके पत्ते तोड़ ताड़ कर उसे गदा की तरह काम में लाने लगे। अर्जुन ने परीक्षा के रक्खे हुए धनुष को उठा लिया।

ब्राह्मण लोग अपने सजातियों के स्नेह के वश हो कर कमण्डुल हिला-हिला कर कहने लगे—

"तुम लोग ज़रा भी न डरना; हम तुम्हारी सहायता करेंगे।" यह देख अर्जुन कुछ मुसकराये और उनको धीरज देकर बोले— "आप लोग एक तरफ़ खड़े होकर तमाशा देखिये, हम अकेले ही सब काम करेंगे।" महा तेजस्वी कर्ण ने अर्जुन पर और मद्र-नरेश ने भीम पर हमला किया। अर्जुन तेज़ बाणों की मार से कर्ण की नाक में दम करने लगे। ब्राह्मण की ऐसी बेढब शक्ति को देख कर

कर्ण आश्चर्य में आगए। उन्होंने कहा—

"हे ब्राह्मण! तुम्हारा बल, हथियार चलाने में तुम्हारी योग्यता और तुम्हारे शरीर की मजबूती देख कर हम बड़े प्रसन्न हुए। मालूम होता है कि तुम साक्षात् धनुर्वेद हो। हमें क्रोध आने पर खुद इन्द्र या कुन्ती के पुत्र अर्जुन को छोड़कर हमारा कोई भी सामना नहीं कर सकता।"

अर्जुन ने उत्तर दिया—

"हम न तो धनुर्वेद हैं, न इन्द्र; किन्तु अस्त्र-विद्या जानने वाले एक ब्राह्मण हैं। तुम को हराने के लिए लड़ाई के मैदान में आये हैं।"

इस बात के सुनते ही कर्ण ने ब्रह्म-तेज की श्रेष्ठता स्वीकार की और युद्ध से पीछा छुड़ाया। इधर शल्य और भीम में घूँसों और ठोकरों के द्वारा और भी बेढब लड़ाई होने लगी। अन्त में भीम ने एक ऐसी उखाड़ मारी कि शल्य ज़मीन पर चारों खाने चित्त गिरे। इस से ब्राह्मण लोग मारे हँसी के लोट पोट हो गये। शल्य ने भी लज्जित हो कर हार मानी। यह देख कर बाकी राजा लोग डर गये। वे आपस में बात चीत करने लगे—

"ब्राह्मण-कुमार कौन हैं? ये किस के पुत्र हैं और कहाँ के रहने वाले हैं? यह जानना ज़रूरी है।"

कृष्ण ने मौका पाकर कहा:—

"हे नरेशगण ! ब्राह्मण-कुमार ने धर्म से राजकुमारी को प्राप्त किया है। इसलिए शान्त हूजिये। युद्ध की और जरूरत ही क्या है ?"

तब सब ने लड़ाई का विचार छोड़ दिया और अपने अपने घर की राह ली।

१०

साहित्य की महत्ता

ज्ञान-राशि के सञ्चित कोश ही का नाम साहित्य है। सब तरह के भावों को प्रकट करने की योग्यता रखने वाली और निर्दोष होने पर भी यदि कोई भाषा अपना निज का साहित्य नहीं रखती तो वह, रूपवती भिखारिनी की तरह कदापि आदरणीय नहीं हो सकती। उसकी शोभा, उसकी श्रीसम्पन्नता, उसकी मान-मर्यादा उसके साहित्य ही पर अवलम्बित रहती है। जाति-विशेष के उत्कर्षापकर्ष का, उसके ऊँच-नीच भावों का, उसके धार्मिक विचारों और सामाजिक संगठन का, उसके ऐतिहासिक घटनाचक्रों और राजनैतिक स्थितियों का प्रतिबिम्ब देखने को यदि कहीं मिल

सकता है तो उसके ग्रन्थ-साहित्य ही में मिल सकता है। सामाजिक शक्ति या सजीवता, सामाजिक अशक्ति या निर्जीवता और सामाजिक सभ्यता तथा असभ्यता का निर्णायक एक मात्र साहित्य है। जिस जाति-विशेष में साहित्य का अभाव या उसकी न्यूनता आपको देख पड़े, आप यह निःसन्देह निश्चित समझिए कि वह जाति असभ्य किंवा अपूर्णसभ्य है। जिस जाति की सामाजिक अवस्था जैसी होती है उसका साहित्य भी ठीक वैसा ही होता है। जातियों की क्षमता और सजीवता यदि कहीं प्रत्यक्ष देखने को मिल सकती है तो उनके साहित्य-रूपी आईने ही में मिल सकती है। इस आईने के सामने जाते ही हमें वह तत्काल मालूम हो जाता है कि अमुक जाति की जीवनी-शक्ति इस समय कितनी या कैसी और भूतकाल में कितनी और कैसी थी। आप भोजन करना बन्द कर दीजिए या कम कर दीजिए, आपका शरीर क्षीण हो जायगा और अचिरात् नाशोन्मुख होने लगेगा। इसी तरह आप साहित्य के रसास्वादन से अपने मस्तिष्क को वञ्चित कर दीजिए, वह निष्क्रिय होकर धीरे-धीरे किसी काम का न रह जायगा। बात यह है कि शरीर के जिस अङ्ग का जो काम है वह उससे यदि न लिया जाय, तो उसकी वह काम करने की शक्ति नष्ट हुए बिना नहीं रहती। शरीर का खाद्य भोजनीय पदार्थ है और मस्तिष्क का खाद्य साहित्य। अतएव यदि हम अपने मस्तिष्क को निष्क्रिय और कालान्तर में निर्जीव सा नहीं

कर डालना चाहते तो हमें साहित्य का सतत सेवन करना चाहिए और उसमें नवीनता तथा पौष्टिकता लाने के लिए उसका उत्पादन भी करते जाना चाहिए। पर, याद रखिए, विकृत भोजन से जैसे शरीर रुग्ण होकर बिगड़ जाता है उसी तरह विकृत साहित्य से मस्तिष्क भी विकारग्रस्त होकर रोगी हो जाता है। मस्तिष्क का बलवान और शक्तिसम्पन्न होना अच्छे ही साहित्य पर अवलम्बित है। अतएव यह बात निर्भ्रान्त है कि मस्तिष्क के यथेष्ट विकास का एक-मात्र साधन अच्छा साहित्य है। यदि हमें जीवित रहना है और सभ्यता की दौड़ में अन्य जातियों की बराबरी करना है तो हमें श्रमपूर्वक, बड़े उत्साह से, सत्साहित्य का उत्पादन और प्राचीन साहित्य की रक्षा करनी चाहिये और यदि हम अपने मानसिक जीवन की हत्या करके अपनी वर्तमान दयनीय दशा में पड़ा रहना ही अच्छा समझते हों तो आज ही इस साहित्य-सम्मेलन के आडम्बर का विसर्जन कर डालना चाहिए।

आँख उठाकर ज़रा और देशों तथा और जातियों की ओर तो देखिए। आप देखेंगे कि साहित्य ने वहाँ की सामाजिक और राजकीय स्थितियों में कैसे-कैसे परिवर्तन कर डाले हैं। साहित्य ही ने वहाँ समाज की दशा कुछ की कुछ कर दी है; शासन-प्रबन्ध में बड़े-बड़े उथल-पुथल कर डाले हैं; यहाँ तक कि अनुदार धार्मिक भावों को भी जड़ से उखाड़ फेंका है। साहित्य में जो शक्ति छिपी

रहती है वह तोप, तलवार और बम के गोलों में भी नहीं पाई जाती। योरप में हानिकारिणी धार्मिक रूढ़ियों का उत्पाटन साहित्य ही ने किया है; जातीय स्वातन्त्र्य के बीज उसी ने बोये हैं; व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य के भावों को भी उसी ने पाला, पोसा और बढ़ाया है, पतित देशों का पुनरुत्थान भी उसी ने किया है। पोप की प्रभुता को किसने कम किया है? फ्राँस में प्रजा की सत्ता का उत्पादन और उन्नयन किसने किया है? पादाक्रान्त इटली का मस्तक किसने ऊँचा उठाया है? साहित्य ने, साहित्य ने, साहित्य ने। जिस साहित्य में इतनी शक्ति है, जो साहित्य मुर्दों को भी जिन्दा करने वाली सञ्जीवनी औषधि का आकर है, जो साहित्य पतितों का उठाने वाला और उत्थितों के मस्तक को उन्नत करने वाला है उसके उत्पादन और संवर्धन की चेष्टा जो जाति नहीं करती वह अज्ञानान्धकार के गर्त में पड़ी रह कर किसी दिन अस्तित्व ही खो बैठती है। अतएव समर्थ होकर भी जो मनुष्य इतने महत्त्वशाली साहित्य की सेवा और अभिवृद्धि नहीं करता अथवा उस से अनुराग नहीं रखता वह समाजद्रोही है, वह देशद्रोही है, वह जतिद्रोही है, किंबहुना वह आत्मद्रोही और आत्महन्ता भी है।

—महावीर प्रसाद द्विवेदी

❀ ❀ ❀

११

विषधर सर्प

सृष्टि में संख्यातीत पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग और पेड़-पौधे पाये जाते हैं। उनमें से किसी एक का भी सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना मनुष्य की ससीम शक्ति के बाहर की बात है। विद्वानों ने पता लगाया है कि जिन नैसर्गिक नियमों के अनुसार मनुष्य अपना जीवन धारण करता है, अधिकांश उन्हीं नियमों के अनुसार अन्य प्राणी भी जीते और जीवन-चर्य्या चरितार्थ करते हैं। आचार्य्य वसु ने तो इस बात तक के निर्भ्रान्त प्रमाण दिये हैं कि जीव-जन्तु ही नहीं, उद्भिज्ज तक में वही चेतन-शक्ति अपना काम कर रही है जो मनुष्यों, पशु-पक्षियों और कीट-पतङ्गों में विद्यमान

रहती है। उस ज्ञानमय परमात्मा की प्रभुता और अनन्त शक्ति को तो देखिए। उसने अपने व्यापक नियमों से समस्त संसार का नियमन करके अपनी अचिन्त्य शक्तिमत्ता का कितना प्रबल प्रमाण दे रक्खा है। फिर भी, हज़ारों नास्तिक किसी ईश्वर, जगन्नियन्ता या कर्ता के अस्तित्व में सन्देह करते हैं। वे लोग जड़-प्रकृति, स्वभाव या "नेचर" (Nature) को ही उसका आसन दे डालना चाहते हैं। यही सही। इस दशा में आस्तिक जन नास्तिकों की प्रकृति को ही पुरुष मान लें तो क्या हर्ज?

घर का ज्ञान प्राप्त करते-करते घर-निर्म्माता तक पहुँच जाना आश्चर्य की बात नहीं। छाते को लेकर ढूँढ़ने वाला उस कारख़ाने तक ज़रूर पहुँच सकता है जहाँ से बन कर वह बाहर निकला था। वहाँ उसे उस छाते के निर्माण से सम्बन्ध रखने वाली सैकड़ों बातें मालूम हो सकती हैं; यहाँ तक कि उसके निर्माता कारीगरों से भी उसकी जान-पहचान हो सकती है। इसी तरह ईश्वर की सृष्टि में ये जो अनन्त जड़-चेतन पदार्थ देखे जाते हैं उनके विषय में ज्ञान प्राप्त करते-करते उनके निर्माता या नियन्ता का विचार चित्त में थोड़ा बहुत अवश्य ही उत्पन्न हो जाता है और ऐसे विचार व्यर्थ नहीं। सौभाग्य से यदि उनका विकाश होता चला जाय तो किसी दिन विचार-कर्ता उसी कोटि की आनन्द-प्राप्ति का पात्र हो सकता है जिस कोटि की आनन्द प्राप्ति के लिए योगी और

तपस्वी योग साधन करते हैं।

इस दृष्टि से किसी छोटे से भी छोटे जीव-जन्तु के विषय में ज्ञान सम्पादन करना सर्वथा लाभदायक है। ऐसे ज्ञान सम्पादन से लौकिक लाभ भी होते हैं। तितलियों और रेशम के कीड़ों का ज्ञान प्राप्त करना इसका उदाहरण समझिए। पर इस प्रकार के ज्ञान की भी प्राप्ति के लिए खोज और श्रम आवश्यक है। बिना श्रम के कुछ नहीं मिलता; अन्नग्रास भी मुँह में नहीं जाता। खेद है, हम लोग श्रम से बहुत डरते हैं; खोज से दूर भागते हैं। यदि हमें किसी साधारण चिड़िया-घर के आँगन में फुदकने वाली गौरैया का भी कुछ हाल जानना होता है तो झट हम नैचुरल-हिस्ट्री के ढँग की कोई अँगरेज़ी पुस्तक ढूँढ़ने दौड़ते हैं और उसी की नक़ल करके समाचार-पत्रों और सामयिक पुस्तकों के लिए लेख तैयार करते हैं। मामूली कौवे का हाल खुद देख-भाल करके नहीं लिखते, अँगरेज़ी "जैकडा" के वर्णन की कापी करके सुलेखक बन बैठने की ताक में रहते हैं।

भारत में अनेक प्रकार के सर्प पाए जाते हैं। पर आज तक किसी ने भी उन सब का ज्ञान प्राप्त करके कोई पुस्तक नहीं लिखी। परन्तु सात समुद्र पार रहने वाले अँगरेज़, जो यहाँ कुछ ही समय के लिए आते हैं, साँपों को पालते, उनकी परीक्षा करते, उनकी जीवन-चर्य्या का ज्ञान प्राप्त करते और फिर बड़ी-बड़ी पुस्तकें और

बड़े-बड़े लेख लिखते हैं। ऐसे ही एस० एच० पी० नाम के किसी महाशय ने, टाइम्स आफ़ इण्डिया में, साँपों के विषय में एक लेख लिखा है। हम भी ठहरे अपने अनेक अकर्मण्य भाइयों के देश-वासी। अतएव अपने नगर, गाँव, खेत, बाग़, जङ्गल इत्यादि में विहार करने वाले सर्पों का ज्ञान स्वयं प्राप्त करने का प्रयास न उठा कर पूर्वोक्त लेखक के लेख की ही कुछ बातें उठा कर नीचे रक्खे देते हैं। साँपों और बिच्छुओं के बिलों में कौन हाथ डालता फिरे!

जिन लोगों ने साँपों की जाँच-पड़ताल की है उनका कहना है कि हिन्दुस्तान में साँपों की ३०० जातियाँ हैं। उन में से कुछ जातियाँ विषधर हैं, कुछ निर्विष। जलचर या सागरवासी सर्प सभी विषधर हैं। उनको छोड़ देने पर थलचर साँपों में से ४० जातियाँ ऐसी हैं जिनकी दंष्ट्राओं में विष रहता है। विषधर होना, न होना, बहुत कुछ देश-विशेष से सम्बन्ध रखता है। किसी किसी देश में विषधर साँप अधिक पाए जाते हैं, किसी किसी में विष-विहीन। आस्ट्रेलिया में विषधर साँपों की अधिकता है। पर जिस मैडेगास्कर टापू में और सब देशों से अधिक सर्प निवास करते हैं वहाँ एक भी जाति ऐसी नहीं जिसमें विष हो।

हिन्दुस्तान में दो प्रकार के काले साँप, बारह प्रकार के करैत, सात प्रकार के भूरे (बरजतिया) साँप पाए जाते हैं।

काले नागों में से एक जाति बहुत बड़ी होती है। उसे नागराज (King Cobra) कहना चाहिए। उसकी डाढ़ों में बड़ा ही तीव्र विष रहता है। यह साँप बहुत लम्बा होता है। बम्बई के अजायब घर में एक साँप है जिसकी लम्बाई १५ फ़ुट ५ इञ्च है। ये साँप बिना छेड़े भी मनुष्य पर आक्रमण करते हैं, विशेष करके इनकी मादी। जिस समय इस जाति की नागिन अण्डे रखती है उस समय वह ज़रा सी आहट पाने पर भी काटने दौड़ती है। उस समय उसकी हिंसक-वृत्ति बहुत बढ़ जाती है। कुपित होने पर यह साँप जब तन कर खड़ा हो जाता है तब इसके शरीर के उत्थित अंश की उँचाई मनुष्य के क़द के बराबर पहुँच जाती है। उस समय इसकी कोप-कराल फणा को देख और फुङ्कार को सुन कर अत्यन्त साहसी मनुष्य का भी हृदय दहल उठता है। इस जाति के साँप अपने ही भाई-बन्धुओं को अपना भक्ष्य बनाते हैं। विषधर हो अथवा निर्विष, सामने आ जाने पर किसी को नहीं छोड़ते। एक दफ़े एक नागराज ६ फ़ुट लम्बा एक अजगर निगल गया था। इस प्रकार के साँप सिर्फ़ घने जङ्गलों में पाये जाते हैं।

साधारण जाति के काले साँप प्रचुरता से सर्वत्र ही पाये जाते हैं। इनमें भी कई उपभेद हैं। किसी के फन पर कुण्डलाकार घेरा सा होता है, जिसे गोपद (गोखुर) कहते हैं। किसी में यह घेरा कुछ लम्बा होता है और किसी में होता ही नहीं। यह साँप जिस

समय क्रोधाविष्ट होकर अपना फन फैला देता है उस समय फन का दैर्घ्य बहुत बढ़ जाता है। इसकी नागिन जाड़ों में अण्डे देती है। दो महीने में बच्चे निकल आते हैं। उस समय उनकी लम्बाई कोई ८ इंच होती है। पैदा होने के कुछ ही दिन बाद इनकी डाढ़ों में विष पैदा हो जाता है और इनके काटने से प्राणियों की मृत्यु हो जाती है।

करैत जाति के साँपों का रंग कुछ भूरा होता है। उनके शरीर पर थोड़ी थोड़ी दूर पर छल्ले से बने रहते हैं। यह साँप भी बस्तियों में ही अधिक रहता है और विषधर है। इसी के काटने से अधिकांश मनुष्यों और पशुओं की मृत्यु होती है। बिना छेड़े यह साँप मनुष्य पर कम आक्रमण करता है। पर छेड़े जाने पर यह किसी की रियायत करना नहीं जानता।

धामन जाति के साँप बहुत कम देखने में आते हैं। वे छिपे पड़े रहते हैं और रात ही के समय डरते डरते बाहर निकलते हैं। उनसे मनुष्यों और पशुओं की प्राण-हानि बहुत ही कम होती है।

भूरे साँप बहुत अधिक पाये जाते हैं। ये कुछ काहिल होते हैं। भागते कम हैं। इनके भी कई उपभेद हैं। एक जाति के शरीर पर जगह जगह चट्टे से होते हैं, पर सिर पर कोई चिह्न विशेष नहीं होता। एक और जाति के सिर पर त्रिशूल या बाण के फल के

सदृश चिह्न होता है। यह साँप अपने शरीर की कुण्डली बना कर बैठ जाता है और शरीर की कुण्डलियों को आपस में इस ज़ोर से रगड़ता है कि रगड़ के कारण अपूर्व ध्वनि निकलती है।

विषधर साँपों के सिर में एक छोटी सी थैली रहती है। उसी में विष भरा रहता है। यह थैली आँख के पीछे मांस के भीतर होती है। काटते समय दबाव पड़ने से थैली का मुँह खुल जाता है और विष निकल पड़ता है। यह विष एक तन्तुमय नाली से बह कर डाढ़ों में पहुँचता है। ये डाढ़ें किसी किसी जाति के साँप के जबड़े के पीछे और किसी किसी के आगे रहती हैं। डाढ़ों में छेद सा रहता है और काटते समय विष काटी हुई जगह में टपक पड़ता है।

सर्प-विष का प्रभाव दूर करने के लिये आज तक अनेक ओषधियाँ तैयार हुई हैं। पर पूरी सफलता किसी से भी नहीं हुई। सर्प-विष से ही डाक्टरों ने कुछ ओषधियाँ तैयार की हैं। पिचकारी से वे शरीर के भीतर पहुँचाई जाती हैं। पर जिस प्रकार के सर्प के विष से ये ओषधियाँ बनती हैं उसी प्रकार के सर्पदंश को ये लाभ पहुँचा सकती हैं, औरों को नहीं। सर्प-दंश की सब से अच्छी दवा यह है कि साँप काटते ही उस जगह को तेज़ चाकू से काट दे। फिर उससे जितना ख़ून निकल सके दबा कर निकाल दे। उस जगह को गरम लोहे से दाग़ भी दे; साथ ही, साँप काटते ही,

काटी हुई जगह से कुछ दूर ऊपर, थोड़े थोड़े अन्तर पर, दो बन्द पतली रस्सी, सुतली या कपड़े के लगा दे। ऐसा करने से विष चढ़ने का डर नहीं रहता। क्योंकि ख़ून का दौरान बन्द के इसी तरफ़ रहता है। आगे नहीं बढ़ता।

केले की गाभ का रस, एक छटाँक से आध पाव तक, घण्टे घण्टे भर बाद पिलाने से भी, सुनते हैं, विष की मारकता कम हो जाती है।

—महावीर प्रसाद द्विवेदी।

१२

नेपोलियन बोनापार्ट

योरप के इतिहास में नेपोलियन एक अद्वितीय और प्रतिभाशाली महापुरुष हो गया है। अपनी वीरता, साहस और बुद्धिमत्ता से वह साधारण स्थिति से फ्रांस का सम्राट हो गया और योरप के सारे देशों में उस ने अपनी धाक जमा ली। फ्रांस के छोटे से देश को उसने साम्राज्य में परिणत कर दिया और उसकी कीर्ति बढ़ा कर उसे योरप के देशों में अग्रगण्य बना दिया।

नेपोलियन बोनापार्ट का जन्म कार्सिका नामक टापू में, जो इटली के दक्षिण में है, सन् १७६९ ई० में हुआ था। कार्सिक के निवासियों का जीवन विचित्र था। उनमें परस्पर इतना द्वेष था

कि वे सदा एक दूसरे के प्राण लेने की घात में रहते थे और इसी विचार में मग्न सांसारिक सुख से पराङ्मुख हो कर अपने शत्रुओं से बदला लेने के लिए षड्यन्त्र रचा करते थे। हँसी, मज़ाक, सङ्गीत और नृत्य कभी उसकी सड़कों में दिखाई नहीं देते थे। स्त्रियाँ स्वतन्त्रता से वंचित रक्खी जाती थीं और घर में दिन भर कुलियों के सदृश काम करती थीं। ऐसे समाज में नेपोलियन ने अपनी बाल्यावस्था व्यतीत की और शिक्षा पाई, जिसका उसके जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा। विलक्षण पुरुषों के विषय में बहुधा विद्वानों की यह धारणा है कि उनके चरित्र आप ही आप सङ्गठित हो जाते हैं और उनमें ऐसे गुणों का समावेश हो जाता है जिनका कारण इतिहासज्ञ और तत्त्ववेत्ता भी नहीं बतला सकते। परन्तु सौभाग्यवश नेपोलियन बोनापार्ट को घरेलू शिक्षा अच्छी प्राप्त हुई थी। उसका पिता वकालत का काम करता था। यद्यपि वह अधिक धनी नहीं था, तो भी उसकी आय इतनी थी कि वह बिना किसी असुविधा के अपने परिवार का भरण-पोषण कर सकता था। उसकी माता लेटीज़िआ को कुछ भी शिक्षा नहीं मिली थी, परन्तु वह बचपन ही से बड़ी दृढ़प्रतिज्ञ, विचारशीला और वीर स्त्री थी। आपत्ति और दुःख के समय वह कभी व्याकुल नहीं होती थी और कठिनाइयों के उपस्थित होने पर बड़े धैर्य और साहस से उनका सामना करती थी। उसकी मितव्ययिता प्रशंसनीय थी।

यह गुण नेपोलियन ने उसी से सीखा था; क्योंकि जब वह फ्राँस का सम्राट् हुआ और असंख्य धन उसके हाथ आया, तब भी उसने कभी अपव्यय नहीं किया।

नेपोलियन शैशवावस्था में फौजी शिक्षा प्राप्त करने के लिए फ्राँस भेजा गया; परन्तु वहाँ रईसों के लड़कों के साथ उसकी नहीं पटती थी। वह उनके अपमान-सूचक शब्दों को सुन कर दुःखी होता था और अपने देश की दुर्दशा को देख कर सन्तप्त-हृदय होकर ईश्वर से उसकी मुक्ति के लिए प्रार्थना करता था। परन्तु पढ़ने लिखने में उसकी प्रवीणता को देख कर उसके अध्यापक और अन्य लोग भी चकित हो जाते थे। इतिहास मे उसे ऐसा प्रेम था कि उसने अल्पावस्था ही में ग्रीस और रोम के वीरों के जीवन-चरित पढ़ डाले थे। उसकी मानसिक शक्ति ऐसी प्रबल थी कि कठिन से कठिन विषय को भी वह शीघ्रता से समझ जाता था। अपने विद्यार्थी-जीवन में उसने अपना अधिकांश समय अध्ययन में ही व्यतीत किया और निबन्ध इत्यादि लिखने के लिये कई बार पारितोषिक भी पाया। प्रारम्भिक जीवन में नेपोलियन के विचार विचित्र थे। ईसाई धर्म में उसकी श्रद्धा अधिक नहीं थी। उसका उत्साह-पूर्ण हृदय मनुष्य-जाति के दौर्बल्य और राष्ट्रों की उदासीनता को देख कर दुःखी होता था। उसे यह इच्छा होती थी कि मैं भी कार्य-क्षेत्र में कूद कर मनुष्य-जाति के हित-सम्पादन के

निमित्त प्रयत्न करूँ। कहते हैं कि ऐसे विचार होते हुए भी उसका स्वभाव नरम नहीं था। परन्तु वह अपने सम्बन्धियों और कुटुम्बियों से सदा प्रेम करता था और उनके साथ दया का बर्त्ताव करता था। अपनी पूज्य माता का उसने सदा आदर किया और फ्राँस के राजसिंहासन पर बैठने पर भी उसका भाव अपनी माता के प्रति ज्यों का त्यों बना रहा। वह बहुधा कहा करता था कि मेरी उन्नति का प्रधान कारण मेरी माता ही है। वास्तव में बालक का भविष्य माता की शिक्षा पर बहुत कुछ निर्भर होता है।

फ़ौजी स्कूल की पढ़ाई समाप्त करके नेपोलियन ने सेना में नौकरी करली और इस प्रकार जीविका उपार्जन कर वह अपने कुटुम्ब का पालन-पोषण करने लगा। उसका पद छोटा था और वेतन भी अधिक नहीं था परन्तु उसके भाग्य में तो एक दिन फ्राँस का सम्राट् होना लिखा था। युद्ध के समय वह ऐसी असाधारण कुशलता दिखलाता था कि बड़े-बड़े सेनाध्यक्ष उसके शौर्य्य और साहस को देख कर चकित रह जाते थे। यद्यपि देखने में वह हृष्ट-पुष्ट नहीं था, तथापि भीषण संग्राम और भयङ्कर परिस्थितियों में उस की मानसिक और शारीरिक शक्ति को देख कर बड़े-बड़े युद्धविद्या-विशारद और अनुभवी सैनिक आश्चर्य प्रकट करते थे। उसने सहस्रों लड़ाइयाँ लड़ीं और अपने शत्रुओं को हराया। उसकी वीरता की सब लोगों ने मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। परन्तु यह

समझना भूल होगी कि वह केवल योद्धा ही था। उसकी व्यावहारिक कुशलता और दूरदर्शिता उन संस्थाओं से सिद्ध होता है जो उसने फ्रांस में स्थापित की थीं।

नेपोलियन के शासक होने के पूर्व फ्राँस में एक महान् राष्ट्रीय विप्लव हो चुका था, जिसने देश की स्थिति ही बदल दी थी और योरुप के सारे देशों में हल चल मचा दी थी। इस राज्य-विप्लव के बाद वह फ्रांस का अधिष्ठाता बना और शासन का कार्य उसने अपने हाथ में लिया। राष्ट्र-विप्लव के समय फ्राँस में बड़े परिवर्तन हो गए थे। रईसों के प्राचीन अधिकार जो माध्यमिक काल से चले आते थे, छीन लिये गए थे। स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृ-भाव ये ही राज्य-क्रान्ति के मूल मन्त्र थे और इन्हीं की विजय के लिए फ्राँस के लोगों ने असह्य यातनाएँ सही थीं और अज्ञानता-वश अपने ही देशभाइयों पर अनेक अत्याचार किए थे। इस आपत्ति के समय बड़े बड़े भीषण दृश्य देखने में आए। हज़ारों निर्दोष स्त्री-पुरुषों के प्राण गए और प्राचीन संस्थाएँ नष्ट हो गईं। प्रजा-तन्त्र राज्य स्थापित हो गया और जिन रईसों और विद्वानों ने इसका विरोध किया, उन्हें फाँसी का दण्ड दिया गया। ईसाई धर्म की अवहेलना और निन्दा की गई। नए मत प्रचलित किए गए और प्राचीन धर्म्मानुयायी पादरियों की सम्पत्ति छीन ली गई। राज्य की सभाओं का काम भी उचित रीति से नहीं होता था। उनमें

पूरा गोलमाल था। भिन्न भिन्न राष्ट्रीय दलों में पारस्परिक द्वन्द्व-युद्ध हो रहा था और प्रजा को महा कष्ट होता था। योरप के राष्ट्रों ने आत्म-रक्षा के निमित्त युद्ध करना प्रारम्भ किया। लाखों मनुष्यों के प्राण गए; परन्तु शांति और सुख तब भी सुलभ नहीं हुए। वयोवृद्ध मनुष्यों का तिरस्कार, तरुणों की ढिठाई, धनाढ्यों की दुश्चरित्रता, क्रांतिवादियों की उद्दण्डता, स्त्रियों का अनाचार, नाट्यशालाओं की लज्जा-हीनता—ये विशेषताएँ उस समय फ्रांस के समाज में थीं। जन साधारण के दुःख की सीमा नहीं थी। बेचारे इधर उधर मारे मारे फिरते थे। कोई बात नहीं पूछता था। न कर वसूल करने का यथोचित प्रबन्ध था, न न्याय का। व्यापार और शिक्षा की सुविधा नहीं थी। राष्ट्र के सारे अङ्ग विशृंखल थे। पद और प्रभुता के लिए राजनीतिज्ञ परस्पर युद्ध कर रहे थे। ऐसी अवस्था में ईश्वर ने नैपोलियन बोनापार्ट को फ्रांस का स्वामी बनाया और उसकी अलौकिक वीरता और विलक्षण बुद्धि के कारण प्रजा ने मुक्त कण्ठ से स्वागत किया।

फ्रांस को इस राजनीतिक अस्थिरता के काल में ऐसे शासक की आवश्यकता थी जो शासन-परिपाटी से खूब परिचित हो। राज्य में चारों ओर अशांति थी। शिक्षा बन्द हो गई थी। अराजकता अपना विकराल रूप धारण किए लोगों को त्रास दिखा रही थी। क़ानून का आदर नहीं था। आर्थिक दशा हीन थी। धन के

अभाव के कारण राष्ट्र के सारे अंग शक्तिहीन होगए थे। अविश्वास और अश्रद्धा के कारण प्रत्येक नागरिक का जीवन दुःखमय हो रहा था। विदेशी व्यापारियों ने इस अविश्वास और आर्थिक संकीर्णता के कारण व्यापार बन्द कर दिया था। जहाज़ी बेड़े का नाश हो चुका था। किसी विभाग में भी योग्यता, दक्षता और सचाई से काम नहीं होता था। बहिष्कृत रईसों के षड्यन्त्रों को रोकना, शक्ति-विहीन राष्ट्रीय दलों के असन्तोष को दूर करना, सम्पत्ति-हीन लुटे हुए पादरियों के हृदय की धधकती हुई आग को बुझाना—ये सब कठिन समस्याएँ फ्राँस के नए शासक के सम्मुख उपस्थित थीं।

नेपोलियन ने शीघ्र ही उत्साह-पूर्वक अपना कार्य आरम्भ किया। शारीरिक अथवा मानसिक परिश्रम करने में कोई उसकी बराबरी नहीं कर सकता था। कभी कभी तो वह रात दिन काम करने में लगा रहता था और अविरत परिश्रम करने पर भी नहीं थकता था। छोटी छोटी बातों को भी वह स्वयं देखता था, और राज्य का कोई काम ऐसा नहीं था, जो उसकी सम्मति बिना होता हो। उसने यह समझ लिया था कि फ्राँस में दृढ़ और संगठित शासन की आवश्यकता है। इसीलिए उसने पुलिस को विशेष अधिकार दिया, और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पहले की अपेक्षा बहुत कम कर दी। समाचार-पत्रों के सम्पादकों को राज्य के विरुद्ध लेख

लिखने पर कड़ा दण्ड देना आरम्भ किया और जो लोग अपमान-सूचक शब्दों से उसकी आलोचना करते थे, उन्हें देश से निकाल दिया।

परन्तु इस से यह न समझना चाहिए कि नेपोलियन ने फ्राँस के हित के लिए कुछ भी नहीं किया। उसने शिक्षा का प्रचार किया और बहुत से मदरसे स्थापित किए, जिनमें निश्चित सिद्धान्तों के अनुसार शिक्षा होने लगी। उसने क़ानून बनाने के लिए भी एक कमेटी नियुक्त की, जिसने महत्त्वपूर्ण काम किया। इस क़ानून के अनुसार पिता के अधिकार बढ़ा दिए गए और राष्ट्र की निरंकुशता घरों में दिखाई देने लगी। पिता १६ वर्ष से कम अवस्था के पुत्र को एक मास कारावास दे सकता था और १६ वर्ष से २१ वर्ष तक की आयु वाले को छः मास। ऐसा दण्ड देने के कारण बताने के लिए वह बाध्य नहीं था। २६ वर्ष से कम आयु वाले लड़कों और २१ वर्ष से कम आयु वाली लड़कियों का विवाह पिता की सम्मति के बिना नहीं हो सकता था। स्त्रियों का नेपोलियन विशेष आदर नहीं करता था। वह कहता था कि पति को अपनी स्त्री से यह कहने का अधिकार है—"तुम बाहर घूमने नहीं जा सकती हो, तुम अमुक पुरुष से भेंट नहीं कर सकती हो और तुम थियेटर देखने नहीं जा सकती हो।" घर के प्रबन्ध में भी स्त्रियों को अधिकार नहीं दिया गया। स्त्रियों को अधिक शिक्षा देने के पक्ष में भी

वह नहीं था। वह कहता था कि स्त्रियों के लिए घर का काम-काज सीखना और थोड़ा पढ़ना-लिखना ही पर्याप्त है—यही नेपोलियन में दोष था। उसने स्त्री-शिक्षा के महत्व को अच्छी तरह नहीं समझा और इसी कारण उसने ऐसी सम्मति प्रकट की। आश्चर्य है कि जो महापुरुष आजन्म अपनी माता के उपकार को नहीं भूला, उसने स्त्रियों की उन्नति के लिए कुछ भी उपाय नहीं किया।

नेपोलियन ने धीरे-धीरे बहुत से देश जीत लिए। इटली, हालेंड और स्विटज़रलेंड आदि देश फ्राँस के अधीन हो गए, और वे उसे अपना अधिपति मानने लगे। जब नेपोलियन का राज्याभिषेक हुआ और उसने सम्राट की उपाधि धारण की तब योरोप के अन्य देशों को यह बात बुरी लगी। उन्होंने उसे पराजित करने के लिए कई संघ रचे और बहुत सी लड़ाइयाँ लड़ीं। इन लड़ाइयों में नेपोलियन ने कई बार अपने शत्रुओं के दाँत खट्टे किये और उन्हें रण-क्षेत्र से मार भगाया। परन्तु जब उसका प्रभुत्व अधिक बढ़ गया, तब उसने पराजित देशों के प्रति निर्दयता का व्यवहार करना आरम्भ किया। वह अपने लाभ के लिए दूसरों की किंचिन्मात्र भी परवाह नहीं करता था, और यही कारण है कि उसने अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए लाखों युवा पुरुषों को युद्ध की प्रचण्ड अग्नि में झोंक दिया। उसके ऐसे व्यवहार और स्वार्थ-प्रियता के कारण अन्य देशों के लोग उसके विरुद्ध हो गए। इँग्लेंड से नेपो-

लियन बड़ी शत्रुता रखता था और उसका नाश करने के लिए उसने अनेक उपाय किये थे, परन्तु एक भी सफल नहीं हुआ। अन्त में वाटरलू की लड़ाई में इँग्लैंड ने योरोप के अन्य देशों की सहायता से नेपोलियन बोनापार्ट को युद्ध में परास्त किया और योरोपीय राष्ट्रों के अस्तित्व की रक्षा की। इस युद्ध में ड्यूक आफ़ वैलिङ्गटन ने, जो भारत के प्रसिद्ध गवर्नर जनरल लार्ड वेलेज़ली का भाई था, बड़ी वीरता और बुद्धिमत्ता से शत्रु को हराया और विजय प्राप्त की। नेपोलियन कैद कर लिया गया और सेंट हेलेन नामक टापू में भेज दिया गया, सन् १८२१ ई० में जहाँ उसका देहान्त हो गया। आपत्ति-काल में उसके इष्ट-मित्रों ने, जिन्हें उसने उच्च पदों पर नियुक्त किया था, उसका साथ नहीं दिया और इस शोचनीय अवस्था में उसे अकेला ही रहना पड़ा।

यद्यपि नेपोलियन बोनापार्ट का साम्राज्य अधिक समय तक नहीं रहा और चंचला (लक्ष्मी) ने उसका परित्याग शीघ्र कर दिया परन्तु तो भी यह मानना पड़ेगा कि वह असाधारण मनुष्य था। उसके महापुरुष होने में कोई सन्देह नहीं। उसने फ्रॉंस में सुराज्य स्थापित कर उसका बड़ा उपकार किया। फ्रॉंस की जो उन्नति हुई है, वह उसी की नीति का फल है। उसने फ्रॉंस के शासन की बाग-डोर ऐसे समय अपने हाथ में ली थी जब कि राष्ट्रीय संस्थाएँ चूर हो गई थीं और स्वतन्त्रता की पुकार मचाने वाले अपनी स्वार्थ-

परता से परतन्त्रता की जड़ पक्की कर रहे थे। असन्तुष्टों को सन्तुष्ट करना, निराशों को आशा दिलाना, जन-साधारण के स्वत्वों की रक्षा करना और उनकी उन्नति का साधन निकालना सरल काम नहीं था। नेपोलियन ने अपनी बुद्धिमत्ता से इस महा कठिन कार्य का सम्पादन किया और इसी कारण उसका नाम संसार के इतिहास में सदा अमर रहेगा।

१३

देवबाला की मृत्यु

लेखक—श्रीयुत अयोध्यासिंह उपाध्याय

[आप का जन्म सन् १८६५ में निज़ामाबाद ज़िला आज़मगढ़ में हुआ था। आप आज़मगढ़ की कलेक्टरी में सदर कानूनगो के पद पर बहुत वर्षों तक काम करते रहे हैं। आजकल आप काशी के हिन्दू-विश्व-विद्यालय में हिन्दी के अध्यापक हैं। आपने ठेठ हिन्दी, साधारण हिन्दी और कठिन हिन्दी सभी प्रकार की भाषाओं में रचना की है। आपने २५ से अधिक ग्रन्थ रचे या अनुवादित किये हैं। गद्य की अपेक्षा आप पद्य अधिक अच्छा लिखते हैं।

कविता के लिए आपने अपना नाम "हरि औध" रख छोड़ा है।]

सूरज वैसा चमकता है, बयार वैसी ही चलती है, धूप वैसी ही

उजली है, रूख वैसे ही अपनी ठौरों खड़े हैं, उनकी हरियाली वैसी ही है, बयार लगने पर उनके पत्ते वैसे ही धीरे धीरे हिलते हैं, चिड़ियाँ वैसी ही बोल रही हैं, रात में चाँद वैसा ही निकला, धरती पर चाँदनी वैसी ही छिटकी, तारे वैसे ही निकले, सब कुछ वैसा ही है। जान पड़ता है देवबाला मरी नहीं। धरती सब वैसी ही है पर देवबाला मर गई। धरती के लिये देवबाला का मरना जीना दोनों एक सा है। धरती क्या गाँव मे चहल पहल वैसी ही है। हँसना, बोलना, गाना, बजाना, उठना, बैठना, खाना, पीना, आना, जाना सब वैसा ही है। देवबाला के मरने से कुछ घड़ी के लिए दो एक जन का कलेजा कुछ दुखा था, पर अब उनको देवबाला की सूरत तक नहीं है। वह भी देवबाला को भूल गये। हाँ! अब तक एक कलेजे में दुःख की आग जल रही है। अब तक एक जन की आँखों में आँसू बहता है, वह देवबाला के लिये बावला बन रहा है। वह दूसरा कोई नहीं रमानाथ है। पीछे किरिया करम का झमेला हुआ, दूसरे काम काज की झंझट हुई। रमानाथ को ही यह सब कुछ सम्हालना पड़ा। धीरे धीरे उसका दुःख भी घटने लगा, धीरे धीरे वह भी देवबाला को भूल रहा है। एक एक करके दिन जाने लगे। देवबाला को मरे कई दिन हो गये, पर देवनन्दन अब तक नहीं भूले हैं। अब तक वह लड़कपन की हँसती खेलती देवबाला, अब तक वह ब्याह के पहले की बिना घबराहट की लजीली देवबाला, अब

तक वह दुखिया रोती कलपती देवबाला, उनकी आँखों में, कलेजे में, रोयें रोयें में, घूम रही है। सो उठते, बैठते, खाते, पीते, देव-बाला ही की सूरत उनको बनी रहती है। वह सोचते हैं। क्यों? देवबाला की कोई ऐसी कमाई तो नहीं थी, जिससे उसको इतना दुःख मिले, फिर किस लिए उसका ब्याह ऐसे निठल्लू, निकम्मे, अनपढ़ बुरे के साथ हुआ, जिससे उसको कलप कलप कर दिन बिताना पड़ा? क्यों उसके माँ बाप ने उसको ऐसे घर में ब्याहा जहाँ वह एक मूठी नाज के लिए तरसती रही? क्यों ब्याह के छही महीने पीछे ससुर मर गया? बरस भर पीछे सास भी मर गई। माँ बाप जगन्नाथ जी गये, फिर न लौटे। रमानाथ कहते थे, वह दोनों एक दिन कलकत्ते में मर गये। क्यों एक के पीछे एक यह सब कलेजा कँपाने वाली बातें हो गईं? और क्यों जब उसके दिन फिर फिरने को हुए तो वह आपही चल बसी? क्या जो इस पृथ्वी पर डर कर चलता है वही मुँह के बल गिरता है? क्या धरम से रहने वाले ही को सब कुछ भुगतनी होती है। राम जाने यह क्या बात है। पर जो ऐसा न होता, देवबाला को इतना दुःख न भोगना पड़ता। सास ससुर सब दिन जीते नहीं रहते। माँ, बाप, सास, ससुर के मरने से कभी देवबाला को इतना दुःख न भुगतना होता, जो रमानाथ भला होता। रमानाथ के बुरे और निकम्मे होने ही से देवबाला की यह सब दशा हुई। इससे मैं समझता हूँ देश की

बुरी रीति जो रमाकान्त के जी को डाँवाडोल नहीं कर सकती, अनसमझी से जो वह हाड़ ही को सब बातों से बढ़ कर समझते, झूठे घमण्डों के बस उतर कर ब्याह करके लोगों से हँसे जाने का जो उनको दुःख न होता, तो वह हठ न करते और जो वह हठ न करते तो रमानाथ जैसे कूर के साथ देवबाला का ब्याह न होता, और जो रमानाथ के साथ देवबाला का ब्याह न होता, तो कभी देवबाला जैसी भली तिरिया की यह दशा न होती। देश की बुरी रीतियों, झूठे घमण्डों से कितने फूल जो ऐसे ही बिना बेले कुम्हिला जाते हैं, कितनी लहलही बेलियाँ जो नुच कर सूख कर धूल में मिल जाती हैं नहीं कहा जा सकता। राम! क्या यही चाहते हो, यह देश बुरी रीतियों से ऐसे ही दिन दिन मिट्टी में मिलता रहे। इतना कह कर देव-नन्दन फिर सोचने लगा जब मैंने जग से नाता तोड़ लिया, जी के उचाट से घर दुआर छोड़ कर साधू हो गया। अपना ब्याह तक नहीं किया, एक कौड़ी भी अपने पास नहीं रखता। काम लगने पर दूसरे का दुःख छुड़ाने के लिए दो चार सौ अपने भाई से लेता था। अब वह भी नहीं लेता। उसी को समझा दिया मेरे बाँट के रुपये से दीन दुखियों का भला करते रहना। जब इस भाँति मैं झमेलों से दूर हूँ, तूँबा और लँगोटी ही से काम करता हूँ—

तो फिर एक तिरिया की घड़ी घड़ी सुरत किया करना, उसके दुःखों को सोच सोच कर मन मारे रहना, देस की बुरी रीति के

लिये कलेजा पकड़ना, आँसू बहाना, मुझे न चाहिए। अब इन बखेड़ों से मुझको कौन काम है। धरती का ढँग ऐसा है, सब दिन सब का एक सा नहीं बीतता। उलट फेर इस जग में हुआ ही करता है, इसको कौन रोकने वाला है। फिर उसने सोचा, भभूत लगाने से क्या होगा, गेरुआ पहनने से क्या होगा, घर दुआर छोड़ने से क्या होगा, लँगोटी किस काम आवेगी, तूँबा क्या करेगा, साधू होने ही से क्या, जो दूसरे का दुःख मैं न दूर करूँ, दुखिया को सहायता न दूँ, जिस काम के करने से दस का भला हो उसमें जी न लगाऊँ। देस की बुरी बात के दूर होने के लिए जतन करना, लोगों के झूठे घमंड को समझा बुझाकर छुड़ाना, जिससे एक को कौन कहे लाखों का भला होगा, क्या मेरा काम नहीं है, क्या मेरे साधू होने का सब से बड़ा फल यह नहीं है? देवबाला भूल जावे उसको अब भूल जाना ही अच्छा है। पर साँस रहते मैं दूसरों की भलाई के कामों को कैसे भूल सकता हूँ! पर क्या कभी मेरे मन की बात पूरी होगी? क्या कभी यहाँ वाले अपने देस की बुरी चालों को दूर करना सीखेंगे।

क्या दूसरों की भलाई का रंग यहाँ वालों पर चढ़ सकता है? क्या हठ छोड़ कर इस देश के लोग भली भाँति बातों के करने में जी लगा सकते हैं? क्या जतन करने से कुछ होगा? इसी बेले देवनन्दन ने सुना जैसे किसी ने कहा "हाँ होगा"। उन्होंने आँख

उठा कर देखा, आकाश से एक जोत सामने उतरती चली आती है और उसी में बैठा जैसे कोई कह रहा है, "हाँ होगा"। देवनन्दन थिर होकर उसको देखने लगा। उसी में फिर यह बात सुन पड़ी, क्यों तुम मुझको जानते हो? मेरा नाम आता है? मेरे बिना धरती का कोई काम नहीं चल सकता. मैं तुमको बतलाती हूँ। जतन करो, जतन करने से सब कुछ होगा। देवनन्दन ने बहुत बिनती के साथ कहा. कब तक होगा, माँ? फिर यह बात सुनने में आई कि जतन करने वाले को कब तक की बात मुँह पर न लानी चाहिए। जब तक उसका काम न हो तब तक उसे जतन करते रहना चाहिए। देवनन्दन ने देखा, इतनी बातोंके कहने के पीछे वह जोत फिर आँखों से ओझल हो गई। देवनन्दन कब तक जीते रहेंगे और किस किस ढँग से उन्होंने देस की बुरी चालों को दूर करने के लिए जतन किया, कैसे कैसे खोटी छुटा कर अपने देश भाइयों का भला करना चाहा, इन सब बातों को यहाँ उठाने का काम नहीं है। पर जब तक वे जीते रहे, उनका यह काम था। कुछ दिनों रमानाथ भी उसका साथी हो गया था।

बहुत दिन तक लोगों ने देवनन्दन को दूसरों की भलाई के लिए घूमते देखा था, पर पीछे उनको भी धरती छोड़नी पड़ी। जिस दिन उन्होंने धरती छोड़ी, उस दिन चारों ओर से लोगों को यह बात सुन पड़ी थी "क्या फिर कोई देवनन्दन जैसा माई का लाल न जन्मेगा?" —["ठेठ हिन्दी का ठाठ" से]

१४

सम्भाषण में शिष्टाचार

लेखक—श्रीयुत कामता प्रसाद गुरु

[गुरु जी का जन्म संवत् १९३२ के पौष मास में सागर (मध्य प्रदेश) में हुआ था। आपके पूर्वज रानियों के गुरु थे। इसीलिए इनका परिवार 'गुरु' कहलाने लगा। गुरु जी हिन्दी के उच्च कोटि के लेखक हैं। आज कल आप जबलपुर के नार्मल स्कूल में अध्यापक हैं। आप ने कुछ काल तक सरस्वती और बाल-सखा का भी संपादन किया है। आपकी भाषा व्याकरण-सम्मत तथा सरल रहती है और लेख न्याय-संगत तथा सारगर्भित होते हैं। उनमें विनोद की मात्रा भी अच्छी रहती है। आपने हिन्दुस्तानी शिष्टाचार और सुदर्शन आदि कई ग्रन्थ लिखे हैं। पर आपका रचा हिन्दी-व्याकरण सब से महत्त्वपूर्ण और विद्वत्तासूचक है।]

मनुष्य की विद्या, बुद्धि और स्वाभाव का पता उसकी बातचीत से लग जाता है, इसलिए उसे अपने विचार प्रकट करने के लिए बातचीत में बड़ी सावधानी रखना चाहिए। सम्भाषण में सावधानी की आवश्यकता इसलिए भी है कि बहुधा बात ही बात में कर्ष बढ़ आती है। यथार्थ में मनुष्य की बातचीत ही उसके कार्यों की सफलता अथवा असफलता का कारण होती है। किसी कवि ने कहा है—'कहैं कृपाराम सब सीखिवो निकाम एक बोलिवो न सीखो सब सीखो गयो धूल में।' जिसकी बातचीत में सभ्यता वा शिष्टाचार का अभाव रहता है उससे लोग बातचीत करना नहीं चाहते।

सम्भाषण करते समय श्रोता की मर्यादा के अनुरूप 'तुम', 'आप' अथवा 'श्रीमान्' का उपयोग करना चाहिए। इनमें 'आप' शब्द इतना व्यापक है कि वह 'तुम' और 'श्रीमान्' का भी स्थान ग्रहण कर सकता है। 'तुम' का उपयोग अत्यन्त साधारण स्थिति के लोगों के लिए या अधिक घनिष्ट परिचय वाले समवयस्क के लिए और 'श्रीमान' का उपयोग अत्यन्त प्रतिष्ठित महानुभावों के लिए किया जाय। बहुत ही छोटे लड़कों को छोड़ कर और किसी के लिए 'तू' का उपयोग करना उचित नहीं। किसी के प्रश्न का उत्तर देने में 'हाँ' या 'नहीं' के लिए केवल सिर हिलाना असभ्यता है। उसके बदले "जी हाँ" या "जी नहीं" कहने की बड़ी आव-

श्यकता है। बातचीत इस प्रकार रुक रुक कर न की जाय कि जिस से श्रोता को उकताहट मालूम पड़ने लगे। बातचीत करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि बोलने वाला बहुत देर तक अपनी ही बात न सुनाता रहे, जिस से दूसरों को बोलने का अवसर मिले और वे बोलने वाले की बक बक से ऊब न जायँ। बातचीत बहुधा संवाद के रूप में होनी चाहिए, जिस से श्रोता और वक्ता—दोनों का अनुराग सम्भाषण में बना रहे।

सभ्य वार्तालाप में इस बात का ध्यान रक्खा जाता है कि किसी के जी को दुखाने वाली कोई बात न कही जाय। सम्भाषण को जहाँ तक हो सके, कटाक्ष, आक्षेप, व्यङ्ग्य, उपालम्भ और अश्लीलता से मुक्त रखना चाहिए। अधिकार की अहम्मन्यता में भी किसी के लिए कटु शब्द का प्रयोग करना अपने को असभ्य सिद्ध करना है। किसी नए व्यक्ति के विषय में परिचय प्राप्त करने के लिए बातचीत में उत्सुकता न प्रकट की जाय और जब तक बड़ी आवश्यकता न हो किसी की जाति, वेतन, वंशावली, वय आदि न पूछा जाय। किसी से कुछ पूछते समय प्रश्नों की झड़ी लगाना उचित नहीं। यदि कोई सज्जन आपका प्रश्न सुन कर भी उत्तर न दें तो उसके लिए उनसे अधिक आग्रह न करना चाहिए। यदि ऐसा जान पड़े कि वह उत्तर देना भूल गया है तो अवश्य ही नम्रता-पूर्वक दूसरी बार उस से प्रश्न किया जाय।

बातचीत में आत्म-प्रशंसा को यथा-सम्भव दूर रखना चाहिए। साथ ही बातचीत का ढङ्ग भी ऐसा न हो कि श्रोता को उसमें अपने अपमान की झलक दिखाई दे। बातचीत में विनोद बहुत ही आनन्द लाता है, परन्तु सदैव हँसी-ठट्ठा करने की टेव वक्ता और श्रोता दोनों के लिए हानिकारक है। सम्भाषण में उपमा और रूप का प्रयोग भी बड़ी सावधानी से किया जाय, क्योंकि इसमें बहुधा अर्थ का अनर्थ हो जाने का डर रहता है। यदि वार्तालाप करते समय कवियों के छोटे छोटे पद्यों और कहावतों का उपयोग किया जाय तो इनसे बोलचाल में सरलता और प्रामाणिकता आ जाती है। तथापि 'अति सब की बुरी होती है'।

यदि कोई दो-चार सज्जन इकट्ठे किसी विषय पर बातचीत कर रहे हों तो अचानक उनके बीच में जाना अथवा उनकी बातें सुनना अशिष्टता है। ऐसे अवसर पर लोगों के पास जाकर बिना कुछ पूछे ही बातचीत करने लगना अनुचित है। कभी कभी किसी मनुष्य को चुपचाप देखकर लोग उससे कुछ कहने का आग्रह करते हैं। ऐसी अवस्था में उस मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह कोई मनोरञ्जक बात या विषय छेड़ कर उनकी इच्छा-पूर्ति करे।

किसी की असम्भव बातें सुन कर भी उसकी हाँ में हाँ मिलाना चापलूसी है और न्याय-सङ्गत बातें मानकर भी उनका खण्डन करना दुराग्रह है। लोगों को इन दोषों से बचना चाहिए।

यद्यपि वार्तालाप में दूसरे के मत का समर्थन करने से, अथवा उसकी प्रशंसा में दो-चार शब्द कहने में चापलूसी का कुछ आभास रहता है, तथापि इतनी 'चापलूसी' के बिना सम्भाषण नीरस और अप्रिय हो जाता है।

इसी प्रकार अपने मत का समर्थन करने और दूसरे के मत का खण्डन करने में कुछ न कुछ दुराग्रह झलकता है, तो भी इतना दुराग्रह सभ्य और शिक्षित समाज में क्षन्तव्य है। किसी अनुपस्थित सज्जन की अकारण निन्दा करना शिष्टता के विरुद्ध है और परनिन्दक को सभ्य तथा शिक्षित लोग बहुधा अनादर की दृष्टि से देखते हैं। विद्वानों के समाज में मत-भेद होने के अनेक कारण उपस्थित होते हैं, इसलिए जब किसी के मत का खण्डन करने का अवसर आवे तब बहुत ही नम्रता-पूर्वक और क्षमा-प्रार्थना करके उस मत का खण्डन करना चाहिए। खण्डन भी ऐसी चतुराई से किया जाय कि विरुद्ध मत वाले को बुरा न लगे। बातचीत में क्रोध के आवेश को रोकना चाहिए। और यदि यह न हो सके तो उस समय मौन धारण ही उचित है। वचनों का उत्तर व्यंग्य से ही देना नीति की दृष्टि से अनुचित नहीं है, तथापि शिष्टाचार कम से कम एक बार सहन करने का परामर्श देता है।

जिससे बातचीत की जाती है उसकी योग्यता का विचार कर के वर्णनात्मक अथवा विचारात्मक विषय पर सम्भाषण किया

जाय। नवयुवकों से वेदान्त की चर्चा करना और वयोवृद्ध लोगों को शृङ्गार-रस की विशेषतायें बताना शिष्टाचार के विरुद्ध है। सड़क पर खड़े होकर अथवा चलते हुए किसी स्त्री से (विशेषकर दूसरे घर की स्त्री से) बात-चीत करना अशिष्ट समझा जाता है। यदि कोई मनुष्य किसी विचारात्मक कार्य में लगा हो तो उसके पास ही ज़ोर-ज़ोर से बात न करना चाहिए। रोगी मनुष्य से अधिक समय तक बातचीत करना उसके लिए हानिकारक है, और इससे उसके रोग की भयङ्करता का उल्लेख करना रोग से भी अधिक भयानक है।

यदि अपने किसी अनुपस्थित मित्र या सम्बन्धी की निन्दा की जा रही हो तो निन्दक को नम्रता-पूर्वक इस कार्य से विरत कर देना चाहिए। और यदि इतने पर भी अपनी बात का कोई प्रभाव निन्दक पर न पड़े तो किसी बहाने उसके पास से उठ कर चले आना उचित है। इससे उसे अपनी मूर्खता और आपकी अप्रसन्नता का कुछ आभास हो जायगा। जो मनुष्य स्वयं अकारण दूसरे की निन्दा नहीं करता उसके सामने दूसरों को भी ऐसी निन्दा करने का साहस बहुधा नहीं होता।

किसी सभा-समाज या जमाव में अपने मित्र अथवा परिचित व्यक्ति से ऐसी भाषा का अथवा ऐसे शब्दों का उपयोग न करना चाहिए, जिन्हें दूसरे न समझ सकें, अथवा जो उन्हें विचित्र जान

पड़ें। ऐसे अवसर पर किसी विशेष विषय की अथवा अपने ही धन्धे या नौकरी की बातें करने से दूसरे लोगों को अरुचि उत्पन्न हो सकती है। यदि किसी विशेष अथवा गहन विषय पर बहुत समय तक सम्भाषण करने की आवश्यकता न हो तो थोड़े-थोड़े समय के अन्तर पर विषय को बदल देना अनुचित न होगा।

बातचीत करते समय भाषा की उपयोगिता पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है। कई लोग साधारण पढ़े-लिखे लोगों के साथ बातचीत करने में, 'विचार-स्वातन्त्र्य', 'व्यक्तिगत आक्षेप', 'वैयक्तिक धारणा' आदि शब्दों का उपयोग करते हैं, जो साधारण पढ़े लिखे लोगों की समझ में नहीं आ सकते। इसी प्रकार पण्डितों के समाज में मनुष्य के लिए 'मानस', माता के लिए 'महतारी', पिता के लिए 'बाप' और भोजन के लिए 'खाना' कहना असङ्गत है।

हिन्दी-भाषी लोग बहुधा श, ष और क्ष का अशुद्ध उच्चारण करने के लिए प्रसिद्ध हैं। इसलिए शिक्षित लोगों को इस उच्चारण-दोष से बचना चाहिए। कई 'उर्दूदाँ' सज्जन अपनी बात-चीत में सिर को 'सर', आँगन को 'सहन', बजाज को 'बज़्ज़ाज़' और कलम को 'क़लम' कह कर अपनी भाषा-विज्ञता का परिचय देते हैं, जो शिक्षित-हिन्दी-भाषी-समाज में उपहासयोग्य समझा जाता है। हमारे कई हिन्दी-भाषी भाई उर्दू-उच्चारण-शुद्धता के मोह में

पढ़ कर, हिन्दी के 'ज'-वाले शब्दों में 'ज़' की अशुद्ध झड़ी लगाते हैं और कदाचित् उसे अपनी उर्दूदानी का प्रमाण समझते हैं। पर यह उनकी भूल है। क्योंकि ऐसा उच्चारण अशुद्ध होने के कारण दोनों भाषा-भाषियों-द्वारा उपहास्यमान होता है। हमने उर्दू न जाननेवाले एक वकील महाशय को 'ज़ायदाद', 'मज़बूर' 'हर्ज़' और 'ताज़' कहते सुना है। कई एक महाशय तो 'मुझे ज़ल्दी घर ज़ाना है' कह कर वकील साहब को भी मात कर देते हैं। यद्यपि हमने उपर्युक्त वकील साहब को शिष्टता के अनुरोध से उस समय उनकी भूल नहीं बताई, पर हमें उनकी यथार्थ 'उर्दूदानी' का पता चल गया। कई लोग भूल से हिन्दी के फ अक्षर को 'फ़' कहते हैं, जिसका उदाहरण उनके 'फ़ल', 'फ़ूल' और 'फ़न्दा' कहने में मिलता है।

शिष्ट भाषण में इन दोषों से बचने की बड़ी आवश्यकता है। बिना उर्दू पढे उस भाषा के ज़, फ़, क़ और ग़ का उच्चारण करने का किसी को साहस न करना चाहिए। क्योंकि इससे शिक्षित-समाज में, विशेषकर शिक्षित मुसलमानों में, हँसी होती है। ये लोग अपने शुद्ध उच्चारण पर बड़ा गर्व करते हैं और दूसरी जातियों के अशुद्ध उच्चारण की हँसी उड़ाया करते हैं। इसके लिए सब से उत्तम उपाय तो यही है कि उनके उर्दू-शब्दों का उच्चारण हिन्दी के प्रचलित अक्षरों में किया जाय। हिन्दी-लिपि में, उर्दू के

संसर्ग से) अक्षरों के नीचे जो बिन्दी लगाने की अनिष्ट प्रथा है उसी से उच्चारण सम्बन्धिनी ये सब भूलें होती हैं।

मातृभाषा में बातचीत करते समय बीच बीच में अँगरेज़ी शब्दों को मिला कर एक प्रकार की खिचड़ी भाषा बोलने की जो दूषित प्रथा है उसका तो सर्वथा त्याग किया जाना चाहिए। भारत वर्ष में इस 'खिचड़ी-सम्भाषण-प्रथा' का तो इतना प्रचार है कि कदाचित् ही कोई प्रान्त इसके आधिपत्य से बचा हो।

इसी प्रकार मातृभाषा में ऐसे प्रान्तीय शब्द भी न लाये जायँ जो या तो बिलकुल भदेस हों या दूसरे प्रान्त वाले जिन्हें समझ न सकें। बिना किसी कारण के अपनी मातृभाषा को छोड़ अन्य भाषा में बातचीत करना शिष्टता के विरुद्ध है।

❀ ❀ ❀

१५

हिन्दी में विराम-चिह्नों का दुरुपयोग

अँगरेज़ी भाषा की शिक्षा के कारण हिन्दी में उसके विराम-चिन्हों का उपयोग होने लगा है। यह सुधार हिन्दी के सिवा, और दूसरी आर्यभाषाओं में भी हुआ है; पर यहाँ उनके उल्लेख की आवश्यकता नहीं है। हम यहाँ इस विषय पर भी कुछ नहीं कहते कि इन विराम-चिन्हों से हिन्दी को क्या लाभ अथवा हानि हुई है। इस लेख में हम केवल यही बताना चाहते हैं कि हिन्दी की अधिकांश पुस्तकों और सामयिक पत्रों में इन विराम-चिन्हों का दुरुपयोग होता है।

विराम-चिन्हों के विषय पर हिन्दी में किसी ने विशेष रूप

और विस्तार से विवेचन नहीं किया है और अधिकांश विराम-चिन्हों के उपयोग में लेखक लोग एकमत नहीं हैं; इसलिए केवल हिन्दी जानने वाले इनका उपयोग करते समय बहुधा भूलें कर डालते हैं, जिनका फल यह होता है कि कई एक लेखों के यथार्थ अर्थ-बोध में पाठकों को भ्रम हो जाता है।

सब से अधिक दुरुपयोग आश्चर्य-चिह्न का होता है जो प्रायः प्रत्येक सम्बोधन-पद के साथ लगा दिया जाता है; जैसे "मित्र! आप से मैं एक बात कहना चाहता हूँ।" इस प्रकार के वाक्यों में जब तक कोई तीव्र मनोविकार सूचित करने का प्रयोजन न हो, तब तक निरे सम्बोधन में आश्चर्य-चिह्न का उपयोग भ्रामक है। हा, यदि कोई यह कहना चाहे कि "मित्र! इस समय मेरी लाज तुम्हारे ही हाथ है!", तो "मित्र" के साथ आश्चर्य-चिह्न उचित होगा। नई प्रणाली के पत्रों में 'श्रीमन्"!, "प्रियवर"!, "मान्यवर महोदय"!, "प्रभो"!, आदि शब्दों के साथ आश्चर्य-चिह्न देकर लेखक की रुचि पर अवश्य आश्चर्य होता है! इसी प्रकार, वाक्य के अन्त में जहाँ एक भी आश्चर्य-चिह्न की आवश्यकता नहीं है, वहाँ तीन-तीन चिह्न लगे हुए मिलते हैं!!! इस प्रकार के चिह्न केवल भड़कीले विज्ञापनों ही में शोभा देते हैं; जैसे, "आइए! देखिए!! लीजिए!!!" नीचे लिखे उदाहरणों में आश्चर्य-चिन्हों का उचित उपयोग हुआ है; क्योंकि उसमें लेखक ने विलायती समाचार-पत्रों

और लेखकों के लेखों की जो प्रतिष्ठा सूचित की है उससे हम लोगों के चित्त में अद्भुत रस की उत्पत्ति होती है—

"सन्डे पिक्टोरियल नाम का एक समाचार-पत्र विलायत से निकलता है। वह साप्ताहिक है। विन्स्टन चर्चिल साहब ने उसमें—महायुद्ध के चार अध्याय—नामक चार लेख लिखे, उनके लिए उन्हें १५ हजार रुपया दक्षिणा मिली! जिन संख्याओं में उनके ये लेख निकले, उनमें प्रत्येक की २५ लाख कापियाँ बिकीं" !!!
—सर०।

यदि इस विचार को कोई विलायत वाला लिखता, तो सम्भव था कि वह इसमें आश्चर्य का एक भी चिह्न न लगाता। सारांश यह है कि अनेक स्थानों में आश्चर्य-चिह्न के शुद्ध पर्यायी विराम (,) और पूर्ण विराम (।) ही हैं; पर लोग यथार्थ की अपेक्षा अद्भुत से अधिक रीझते हैं!

उलटे कामाओं (अवतरण-चिन्हों) के उपयोग में भी बहुधा असावधानी और भूल होती रहती है। हिन्दी में इनके उपयोग की उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी अँगरेज़ी में है; क्योंकि पिछली भाषा में परोक्ष भाषण (Indirect Speech) की अधिकता होने के कारण, प्रत्यक्ष भाषण को चिन्हों द्वारा सूचित किए बिना, उस का अर्थ समझने में कठिनाई होती है। ऐसी अवस्था में हम लोगों को इन चिन्हों का उपयोग एक उचित सीमा के भीतर ही करना

चाहिए। अधिकांश लेखक "कहना", "पूछना", "बोलना", "बताना", आदि क्रियाओं के पश्चात् आने वाले आश्रित वाक्यों को नियम-पूर्वक इन चिन्हों के भीतर रखते हैं; परन्तु सब लोग इस बात को आवश्यक नहीं समझते। इस विषय के नीचे जो उदाहरण दिए जाते हैं उन से जान पड़ेगा कि अवतरण-चिन्हों का उपयोग बहुत करके ऐच्छिक है—

(क) स्वामी ने उत्तर दिया—"भाई, जो मनुष्य दीन, अतिथि और साधु-सन्त का आदर और सत्कार करता, उनको यथेच्छ भोजन देता और यथा-शक्ति द्रव्य-दान देकर उनको बिदा करता है, उसीका जीवन सार्थक है"।—ना० प्र० प०।

(ख) उन्होंने कहा कि नई रोशनी के हमारे सजातीय नवयुवक हम लोगों का तो नहीं, परन्तु विजातीय कवियों का अत्यधिक आदर करते हैं।—सर०।

(ग) तब गुरु ने कहा कि तुमने हमारे बिना पूछे गायों का दूध क्यों पिया? ऐसा तुम्हें न करना चाहिए। तब गुरु से—"मैं दूध नहीं पीऊँगा"—ऐसी प्रतिज्ञा कर (वह) फिर गायें चराने को ले गया और लौटते समय गुरु के समीप आकर प्रणाम किया।
—विद्यार्थी।

इनमें के तीसरे उदाहरण में यह विशेषता है कि आश्रित वाक्य मुख्य वाक्य के पूर्व और उसके कुछ शब्द पश्चात् आया है। ऐसी

अवस्था में आश्रित वाक्य को, स्पष्टता के लिए, अवतरण-चिन्हों के बीच में रखना आवश्यक है। इसके पूर्व जो आश्रित वाक्य आया है वह यथा-स्थान लिखा गया है; इसलिए उसे अवतरण-चिन्हों में रखने की आवश्यकता नहीं हुई।

कोई कोई लेखक अवतरण-चिन्हों का काम डैश (—) से लेते हैं जिसके कारण संयोजक "कि" का लोप होजाता है; जैसे, स्वामीजी ने हँस कर कहा—लोग कुछ दिनों के लिए गृहस्थ बनना छोड़ दें तो कुछ लाभ होने की सम्भावना है।—सर०।

डैश का यह उपयोग संवाद-मय लेखों (और नाटकों) में तो सर्व-सम्मत है, परन्तु वर्णन के बीच में और विशेष कर प्रस्ताविक क्रिया (कहना, पूछना आदि) के पश्चात् जो संवाद आते हैं उनमें विराम (कामा) ही उपयुक्त जान पड़ता है; जैसे, एक दिन उपमन्यु के परीक्षार्थ गुरुजी ने कहा, वत्स उपमन्यो! आज तुम वन में जाकर हमारी गायें चरा लाओ।—विद्यार्थी।

किसी किसी पुस्तक में एक के बदले तीन तीन चिन्ह लगाए जाते हैं; जैसे, वह बच्चा एक दाई को देते समय उसने कहा था,—"इसका पालन-पोषण बहुत अच्छी तरह करना क्योंकि यह विलक्षण और अमानुषी शक्ति का आदमी होगा।"।—ना० प्र० प०।

इस उदाहरण में "करना" और "क्योंकि" के बीच में तो लेखक ने अर्द्ध-विराम (,) छोड़ दिया; पर जहाँ अकेले एक कामा

से काम निकलता था, वहाँ कामा, डैश, और उलटे कामा लगा दिये! यदि वाक्य लम्बा हो, और आश्रित वाक्य दूसरे पैरे में लिखा जाय, तो मुख्य वाक्य के अन्त में डैश लगाना ही ठीक होगा; जैसे, सब कुछ कहते कहते अन्त में उन्होंने यही कहा है कि कहाँ तक कहूँ—

यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा
तत्तदेवावगच्छ त्व मम तेजोंऽशसम्भवम्।

—ना० प्र० प०।

हम समझते हैं कि हिन्दी में अवतरण-चिन्हों का उपयोग कवल नीचे लिखे स्थानों में होना चाहिये।

(क) व्याकरण तथा तर्क के उदाहरणों में।

(ख) किसी के महत्त्व-पूर्ण वचन उद्धृत करने में।

(ग) पुस्तक, समाचार-पत्र, चित्र, पदवी, लेख, आदि के नामों में; जैसे, "गीतारहस्य", "पाटलिपुत्र", "वधू की सहेलियाँ", "रायबहादुर", "शिक्षा का माध्यम", आदि।

(घ) किसी शब्द अथवा अक्षर का प्रयोग केवल शब्द या अक्षर के अर्थ में होने पर; जैसे, अनुवाद के अंश में "एक" शब्द "पहाड़" के पहले रक्खा जाता तो ठीक था।

(ङ) किसी वस्तु के व्यक्तिवाचक नाम और लेखक के उपनाम में; जैसे, "अरेबिया" (जहाज) "मधुप"। —इ०।

(च) अप्रचलित विदेशी शब्द में; जैसे, "रैड क्रास", "बौंटी। —इ० ।

(छ) किसी विशेष प्रचलित अथवा आक्षेपयोग्य शब्द या वाक्यांश में; जैसे, "बलमटेर", "प्रस्ताव", "बायकाट", "नाइका", "स्वतन्त्र काव्य की बेड़ियाँ" ।—इ० ।

(ज) ऐसे शब्द के लिए जिसका धात्वर्थ भी बताना हो; जैसे, विभक्ति को "विभक्त" करके लिखना चाहिए, इन्द्र "सिंहासन" पर बैठा । —इ० ।

हम यहाँ यह कह देना आवश्यक समझते हैं कि ऊपर लिखे नियम सर्वथा पूर्ण और निरपवाद नहीं हैं ।

अर्द्धविराम (;) के उपयोग में बहुधा यह भूल होती है कि कई लेखक "इसलिए", "परन्तु", "और", "क्योंकि" से आरम्भ होनेवाले वाक्यों को सदा पूर्ण-विराम के पश्चात् लिखते हैं; जैसे, "मछलियों पर इस परिवर्त्तन का और भी जल्दी और अधिक प्रभाव पड़ता है। और कीड़े-मकोड़े आदि तो ऋतु-परिवर्त्तन के अनुसार और भी शीघ्र परिवर्त्तित हो जाते हैं" ।—ना० प्र० प० ।

बङ्गाली भाषा भी इस पद पर प्रतिष्ठित हो सकती है। क्योंकि फ़राँसीसी भाषा की तरह वह बड़ी मधुर है ।—सर० । इ० ।

ऊपर लिखे समुच्चयबोधक शब्दों से केवल किसी विशेष अवस्था में वाक्यों का आरम्भ हो सकता है; सर्वत्र नहीं। यदि

एक लेखांश में बहुत सी युक्तियाँ देकर किसी विषय का मण्डन किया जाय और दूसरे लेखांश में उसका खण्डन किया जाय, तो इस लेखांश को भी "पर" से आरम्भ कर सकते हैं; पर छोटे-छोटे वाक्यों के पर नोचना अन्याय है। इस प्रक्रिया से तो व्याकरण और न्याय के "संयुक्त वाक्यों" का अस्तित्व ही लुप्त हो जाने का डर है!

हिन्दी में कोष्ठक का प्रयोग बड़ी ही विचित्र रीति से होता है। इसके भीतर कभी कभी दो दो वाक्य रख दिये जाते हैं; पर यह विचार नहीं किया जाता कि इन वाक्यों के साथ दूसरे वाक्यों या शब्दों का कुछ सम्बन्ध मिलता है या नहीं। उदाहरण के लिए नीचे लिखा वाक्य देखिए—

"स्त्रियाँ भोजन बेगम साहबा के सम्मुख ले जा कर खोलतीं तब दस्तरख्वान (जिस कपड़े पर भोजन रक्खा जाता है) पर भोजन विधिपूर्वक रखतीं"।

इस वाक्य में जिस योग्यता से "दस्तरख़्वान" का अर्थ समझाया गया है, उस योग्यता के सामने "खोलतीं" और "तब" के बीच का विराम उड़ गया! फिर "सम्मुख" के पीछे आने वाला "भोजन" उसके पहले ही आ बैठा! पर इन बातों से हमें यहाँ कोई सम्बन्ध नहीं है; हमारा आक्षेप कोष्ठकगत वाक्य पर है जो "दस्तर.ख्वान" का समानाधिकरण है। इस वाक्य के पश्चात्

"पर" शब्द पढ़ कर एक बार वैयाकरण भी चक्कर में आ जायगा ! वह कहेगा कि क्या कभी वाक्य के पश्चात् भी विभक्ति अथवा सम्बन्ध-सूचक अव्यय आता है ! विस्तार-भय से हम यहाँ समानाधिकरण शब्दों और वाक्यों के विषय में कुछ न लिख कर, केवल इसी वाक्य को शुद्ध करते हैं, जो इस प्रकार होना चाहिए—

'तब दस्तरख़्वान (भोजन रखने के कपड़े) पर भोजन रखतीं'। अथवा दूसरे प्रकार से, "तब दस्तरख़्वान पर (जिस कपड़े पर भोजन रखते हैं) भोजन रखतीं"। बिना इस प्रकार के परिवर्त्तन के वाक्य का अर्थ केवल अटकल ही से लगाया जायगा।

कोष्ठक के इस दुरुपयोग के अनेकों उदाहरण मिलते हैं; और ऐसा जान पड़ता है कि लोग इसे कलाई-घड़ी के समान शोभा की वस्तु समझते हैं; फिर चाहे वह ठीक समय बतलावे, चाहे ग़लत। इस दुरुपयोग का एक और उदाहरण यह है—

"इनके लिए सन् १८८४ में एक नाइट-स्कूल (रात्रि की पाठशाला) खोला गया"।

इस उदाहरण में दोनों समानाधिकरण शब्द एक ही लिङ्ग के होने चाहिए। "पाठशाला" के बदले "विद्यालय" लिखने से भूल शुद्ध हो सकती है।

कोष्ठक के समान डैश की भी दुर्गति है। यद्यपि डैश कभी कभी

विराम और अवतरण-चिन्हों का पर्यायी हो जाता है, तथापि उस का यथार्थ सम्बन्ध कोष्ठक से है और इसी के समान उसका प्रयोग होता है। दोनों में विशेष अन्तर यह है कि कोष्ठक बहुधा शब्दार्थ अथवा अतिरिक्त वर्णन में आता है और डैश कुछ अधिक सम्बद्ध विषय सूचित करता है। हिन्दी में डैश के उपयोग की बहुधा यह भूल होती है कि इसका उपाय (उपयोग?) कहीं-कहीं सीमा के बाहर हो जाता है और डैशों की भरमार से पाठकों का मन ऊब जाता है। इस विषय में सरस्वती के सम्पादक* महाशय की प्रवृत्ति सब से अधिक दिखाई देती है। डैश के योग से बने हुए वाक्य बहुधा व्याख्यान ही की भाषा में शोभा देते हैं। इस विषय के दो उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

(क) अपनी इस इच्छा को—महत्त्वाकांक्षा को—प्रतिज्ञा को—सदैव जागृत रखने के लिए उसने अपने नेत्रों के सामने P अक्षर लिख रक्खा था!—विद्यार्थी।

(ख) अनेक प्रकार के व्यवहारों में से जो अनुभव हुए हैं—

---

* हम समझते थे कि इससे समानार्थक शब्दों का ज्ञान बढ़ता है, आशय स्पष्टतर हो जाता है और यदा कदा मनोरञ्जन भी हो सकता है। पर अब मालूम हुआ कि यह ढँग पाठकों के केवल जी उबाने का कारण होता है।—स० सं०।

जो तजरुबे हुए हैं—उन्हीं के आधार पर सम्पत्तिशास्त्र के सिद्धान्त निश्चित किए गए हैं।—सं० शा०।

प्रश्नवाचक चिह्न के सम्बन्ध में भी हिन्दी में भूलें मिलती हैं। ये भूलें बहुधा दो स्थानों में होती हैं। एक भूल "बताना", "कहना" "समझाना" और "लिखना" आदि क्रियाओं के विधि-काल में होती है जिसे कुछ अर्द्ध-शिक्षित परीक्षक भूल से प्रश्नवाचक समझ लेते हैं; जैसे, "सिकन्दर ने भारतवर्ष पर जो चढ़ाई की थी, उसका संक्षिप्त वर्णन लिखो?" दूसरी भूल उन प्रश्नवाचक शब्दों के कारण होती है जो अर्थ में केवल सम्बन्ध-वाचक हैं; जैसे, कई लोग यह नहीं जानते कि रबर कैसे बनता है? ऐसे स्थानों में प्रश्न-चिह्न के बदले पूर्ण विराम का प्रयोग करना चाहिए। कभी-कभी आश्चर्य और प्रश्न के चिन्हों की आपस में मुठभेड़ हो जाती है; जैसे, वह मन में चिन्ता करने लगा कि अब मैं क्या करूँ? इस वाक्य में प्रश्न के बदले आश्चर्य का चिह्न चाहिए।

हिन्दी में कोलन (:) का स्वतन्त्र उपयोग नहीं होता; क्योंकि इससे विसर्ग का भ्रम हो जाने की सम्भावना* है; पर डैश के

* इसी से हमने लेखक महाशय के इस लेख के कोलन डैशों (:—) में से कोलन निकाल डाले हैं। उनके कथन को स्पष्ट करने के लिए केवल इसमें और नीचे के पैरे में दोनों रहने दिये हैं। स० सं०

साथ यह चिह्न आगे आने वाली बात की सूचना देने के लिए प्रयुक्त होता है। इस मिश्रित चिह्न (:—) के उपयोग में हम लोग कभी-कभी यह भूल करते हैं कि इस का प्रयोग एक ही पैरे के भीतर कर देते हैं: जैसे, शब्द दो प्रकार के होते हैं:— सार्थक और निरर्थक। इस उदाहरण में केवल डैश चाहिए। कोलन और डैश का उदाहरण नीचे दिया जाता है:—

इस लेख के लिखने में हमने नीचे लिखे मासिक पत्रों और पुस्तकों से कुछ उदाहरण चुने हैं:—

(१) सरस्वती

(२) नागरी-प्रचारिणी पत्रिका।

(३) विद्यार्थी।

(४) सम्पत्तिशास्त्र।

(५) आत्मोद्धार।

—कामताप्रसाद गुरु

१६

शुक की कथा

अनुवादक—श्रीयुत गदाधर सिंह

[इनका जन्म सन् १८६६ में काशी में हुआ था, वैसे आप रहने वाले सर्चेढ़ा ज़िला कानपुर के हैं। आप राजपूत सेना में नौकर हैं। आप चीन की लड़ाई में शामिल हुए थे। आप आर्य समाज के पुराने सभासद् हैं। आपने 'चीन में १३ मास', और 'हमारी एडवर्ड-तिलक यात्रा' नामक दो पुस्तकें लिखी हैं। बंगला पुस्तक कादम्बरी का हिन्दी में अनुवाद भी किया है।]

शूद्रक नामक एक परम बुद्धिमान् महाप्रतापी राजा अपने बाहुबल और पराक्रम से क्रमशः अशेष देश जीत कर वेत्रवती नदी के तीर पर विदिशा नामक नगरी में अकंटक राज्य करता

था। एक दिन प्रातःकाल राजा अपने मन्त्री कुमारपालित और अनेक राजाओं के संग सभा में बैठा था कि द्वारपाल ने आ कर निवेदन किया—पृथ्वीनाथ, दक्षिण देश से एक तोता लिए हुए एक चाण्डाल-कन्या आई है। वह कहती है कि महाराज सब रत्नों के आकर हैं; इस हेतु मैं यह पक्षि-रत्न उनके चरण-कमल में अर्पण करने को लाई हूँ।' द्वार पर खड़ी है। आज्ञा हो तो आकर आपके पदारविन्द के दर्शन करे। राजा प्रतिहारी का वाक्य सुन, चकित हो, सभासदों की ओर देख कर बोले—"कुछ हानि नहीं; आने दो।" प्रतिहारी राजाज्ञा पाते ही चाण्डाल कन्या को ले आया।

कन्या ने सभा-मण्डप में प्रवेश करते ही देखा कि ऊपर एक मनोहर चँदवा टँगा है। उसके चारों ओर मोती की झालर लगी है। नीचे राजा हेममय आभरण धारण किए एक मणिमय सिंहासन पर सुशोभित हैं और उनके चारों ओर सभासद-गण अपने अपने उचित स्थान पर बैठे हैं। उस समय की शोभा ऐसी जान पड़ती थी जैसे सुमेरु गिरि भूधरमण्डल के मध्य अपूर्व श्री धारण किए बैठा है। चाण्डाल कन्या सभा की शोभा देख कर बड़ी चमत्कृत हुई। राजा की चितवन अपनी ओर फेरने की इच्छा से एक बाँस की छड़ी को, जो उसके हाथ में थी, उसने "सभाभूमि" में मारा। तब जंगल में तालफल के गिरने से जैसे

सब हाथी उसी की ओर देखने लगते हैं, उसी भाँति छड़ी का शब्द सुन कर सम्पूर्ण सभासदादि चाण्डाल-कन्या की ओर देखने लगे। राजा ने भी उसी ओर दृष्टिपात करके देखा कि एक बूढ़ा मनुष्य और पीछे पिंजरा हाथ में लिए एक बालक और उन दोनों के मध्य एक परम सुकुमार कन्या खड़ी है। कन्या का रूप-लावण्य ऐसा था कि किसी भाँति वह चाण्डाल-कुल की नहीं जान पड़ती थी। राजा उसकी अनुपम सुन्दरता और सुकुमारता को देख बड़े विस्मित हुए और एकटक देखने लगे। वे अपने मन में तर्कना करने लगे कि विधाता ने यह सोच कर कि लोग इस कन्या को हीन-जाति जान कर न छुएँगे, इसको इतना रूप-लावण्य दिया है। यदि ऐसा न होता तो ऐसी कान्ति और रूप का होना भी अनहोना है। जो हो, चाण्डाल के घर में ऐसी रूपवती का सम्भव असम्भव और बड़े आश्चर्य का विषय है। राजा इस प्रकार कल्पना कर रहे थे कि उसी समय कन्या ने आकर विनयपूर्वक प्रणाम किया। बूढ़ा हाथ में पिंजरा लेकर सम्मुख खड़ा होकर विनीत वचन कहने लगा—"महाराज! यह सुआ सकल शास्त्रवेत्ता, राजनीतिज्ञ, सद्वक्ता, चतुर, सकल कलाभिज्ञ, महा कवि और गुणी है। जो विद्या मनुष्यों को कठिनता से आती है, वह इसके कंठाग्र बसती है। इसका नाम वैशम्पायन है। संसार के समस्त राजाओं की अपेक्षा आप बड़े विद्वान और गुण-

ग्राही हैं। इस हेतु मैं यह शुक पक्षी आप के पास लाया हूँ। यदि आप अनुग्रह कर ग्रहण करें तो यह कृतार्थ हो जाय।" यह कह पिंजरा रख वह दूर जा खड़ा हुआ।

सुए ने पिंजरे के भीतर से अपना दहिना चरण उठा कर "राजा की जय हो!" ऐसा आशीर्वाद दिया। राजा पक्षी के मुख से अर्थयुक्त वाक्य सुन कर बड़े विस्मित और चमत्कृत हुए और कुमारपालित को पुकार कर कहने लगे, देखो मन्त्री! पक्षी भी मनुष्य की नाईं शुद्ध वर्णोच्चारण और मधुर स्वर से बात कर सकते हैं। मैं जानता था कि ये केवल आहार, निद्रा और भय जानते हैं, बुद्धि-शक्ति और वाक्-शक्ति इनमें कुछ भी नहीं। परन्तु शुक का व्यापार देख कर हम को बड़ा आश्चर्य होता है। प्रथम तो यह आश्चर्य है कि पक्षी मनुष्य की चाल पर बात करता है। दूसरे यह कि जैसे ब्राह्मण दहिना हाथ उठा के आशीर्वाद देते हैं, उसी भाँति शुक भी दहिना चरण उठा के यथा रीति आशीर्वाद देता है। कैसा आश्चर्य! इसकी बुद्धि और मनोवृत्ति भी मनुष्य के समान है।

राजा की बात सुन कर मन्त्री ने कहा—महाराज, पक्षी यदि मनुष्य की नाईं बोल सकता है, तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं, क्योंकि लोग तोता-मैना इत्यादि पक्षियों को बड़े श्रम से शिक्षा देते हैं और वे भी पूर्व जन्म के संस्कार के कारण अनायास ही सीख लेते हैं। पहले वे भी मनुष्य की भाँति बोल सकते थे, पर अग्नि के शाप

से जड़ हो गए हैं। यही बातचीत होते होते सभा-भङ्ग-सूचक मध्याह्न काल का शंख बजा। स्नान का समय निकट जान राजा ने सभास्थित अपर राजाओं को विनीत वचन कह कर विदा किया। चाण्डाल-कन्या को भी विश्राम करने की आज्ञा दी और ताम्बूल-वाहक से कहा कि तुम वैशम्पायन को महल में ले जाओ और स्नान-भोजन कराओ।

अनन्तर इसके आप भी सिंहासन से उठ कर राजभवन में गए और स्नान-पूजा आदि करके शयनागार में शय्या पर पौढ़े और प्रतिहारी को वैशम्पायन के लाने की आज्ञा दी। प्रतिहारी वैशम्पायन को शयनागार में ले आया। राजा ने पूछा—हे वैशम्पायन, तुम्हारा जन्म किस प्रकार से और कौन से देश में हुआ? तुम कोई सिद्ध हो वा कोई महापुरुष हो? तपबल से कलेवर बदले देश देश में भ्रमण करते हो या किसी देवता की आराधना कर तुम ने वर पाया है? पहले तुम कहाँ रहते थे? किस भाँति चाण्डाल के हाथ पड़ कर पिंजरे में बन्द हुए? हम को इन सब बातों के सुनने की बड़ी इच्छा है। सो तुम अपना सम्पूर्ण वृत्तान्त कह कर हमारे चित्त को उद्वेग-रहित करो।

वैशम्पायन ने राजा की यह बात सुन कर कहा कि यदि आप को सुनने की बड़ी अभिलाषा है, तो सुनिए। भरतखण्ड के मध्य विन्ध्याचल के निकट विन्ध्य नामक एक जङ्गल है। उस जङ्गल में

गोदावरी नदी के तीर पर अगस्त्य ऋषि का आश्रम था, जहाँ त्रेता में भगवान् रामचन्द्र पिता के आज्ञानुसार सीता-लक्ष्मण समेत पञ्चवटी में पत्तों की कुटी बना कर कुछ दिन टिके थे, जहाँ दुष्ट दशानन के भेजे हुए मारीच नामक निशाचर ने सोने का मृग बन कर सीताहरण कराया था, जहाँ जानकी-वियोग से व्याकुल राम और लक्ष्मण सजलनयन और गद्गद् वचनों से नाना प्रकार का विलाप और अनुताप करते हुए वहाँ के पशु-पक्षी और लताद्रुमादि को भी दुःखित करते थे। उसी आश्रम के समीप एक पम्पा नामक सरोवर है, जिसके पश्चिम ओर रामचन्द्र ने तीर से सात ताल को वेध कर बालि को मारा था। उसी के समीप एक बड़ा भारी शाल्मली का वृक्ष है। उसकी जड़ में एक बड़ा अजगर बहुत दिनों से रहता था। उस वृक्ष की शाखा इतनी लम्बी और छतनार थी, मानो गगन-मण्डल के नापने के लिए हाथ फैलाए है, और उसकी पेड़ी इतनी ऊँची थी, जैसे कोई पृथ्वी के चतुर्दिक देखने को सिर उठाए हो। उस वृक्ष के खोखलों में, फुनगी और पत्तों का खोता बनाकर, अनेक प्रकार के शुक, सारिका और अन्य पक्षी सुख से वास करते थे। वह वृक्ष बड़ा प्राचीन था और पतझड़ होने पर भी रहने वाले पक्षियों के बच्चों के रात दिन उस में रहने से पल्लवमय देख पड़ता था। उस पर के पंख रहित बच्चे कहीं कहीं उस के फल समान जान पड़ते थे। पक्षी सब अपने खोतों में सोते और

प्रातःकाल आहार की खोज में गोल बाँध कर आकाश-मार्ग में उड़ जाते। उस समय ऐसी शोभा जान पड़ती थी जैसे कोई हरी दूब-सम्पन्न खेत उड़ा चला जाता है। वे सब दिग्दिगान्तरों में जाकर आहार एकत्र कर आप भी खाते और अपने बच्चों के लिए मुँह भर भर कर ले आते थे।

उस प्राचीन वृक्ष के खोखल में मेरे माता-पिता भी रहते थे। दैव-संयोग से मेरी माता गर्भवती हुई और मेरे जन्म के उपरान्त प्रसव की पीड़ा से मर गई। मेरे पिता बड़े बूढ़े थे और स्त्री के मरने से यद्यपि बड़े व्याकुल और शोकचित्त हुए, परन्तु प्रीति-वश शोक त्याग कर मेरे लालन-पालन में दिन व्यतीत करने लगे। उनको चलने फिरने की कुछ शक्ति न थी, तब भी धीरे धीरे उस वृक्ष के नीचे उतर कर जो कुछ आहार-द्रव्य पृथ्वी पर गिरा हुआ मिलता, उसे ला कर मुझे खिलाते और बचा खुचा आप खाते थे। एक समय प्रातःकाल जब चन्द्रमा अस्त हो गया था, पक्षी सब चहचहा रहे थे, सूर्य्य के उदय से गगन-मण्डल रक्त-वर्ण हो रहा था, आकाश-स्थित अन्धकार रूपी धूल सूर्य्य की किरण रूपी झाड़ू से परिष्कृत हो गई थी और सप्त ऋषि लोग स्नानादि के निमित्त मानसरोवर के तट पर उतरे थे, उसी समय उस वृक्ष के रहने वाले सब पक्षी भी अपनी अपनी इच्छा के अनुसार देशदेशान्तर को चले। उन के बच्चे चुपचाप खोतों में बैठे थे और मैं भी अपने

पिता के पास बैठा था कि एकाएक मृगया का शब्द सुनने में आया। कहीं सिंह कड़े स्वर से गरज रहे थे; कहीं घोड़े, हाथी और मृग आदि बनैले पशु वन को मथन कर रहे थे; कहीं बाघ, रीछ और सूअर आदि भयानक जीव दौड़ रहे थे और कहीं महिष आदि बड़े बड़े जन्तु बड़े वेग से इधर उधर दौड़ रहे थे और उनके शरीर के धक्के से वृक्ष-लतादि टूट रहे थे। हाथी की चिंघाड़ से और घोड़ों के हिनहिनाने से, सिंह के गरजने और पक्षियों के कलरव से वन कोलाहलमय हो गया था और पेड़ सब भय के मारे काँपते थे। मैं उस कोलाहल को सुन कर बहुत डरा और काँपने लगा और अपने पिता की गोद में छिपकर वहीं से व्याध लोगों की बातें सुनने लगा। वे कहते थे कि देखो वह सूअर जाता है, वह हरिन दौड़ता है और वह हाथी जाता है इत्यादि।

जब मृगया का कोलाहल बन्द हुआ और जंगल में सन्नाटा हो गया, तो मैं धीरे धीरे पिता की गोद से निकल कर, खोते के बाहर सिर निकाल कर, जिधर शब्द होता था, उसी ओर देखने लगा। तो क्या देखता हूँ कि यमराज के भाई के से विकट रूप के एक सेनापति के संग यमदूत की नाईं बहुत से व्याध चले आते हैं। उनको देख कर साक्षात् भूत-मध्यस्थ भैरव अथवा दूत-संयुक्त कालान्तक का स्मरण होता था। मद्य की उन्मत्तता से दोनों नेत्र रक्त-वर्ण हो रहे थे, समस्त शरीर में रुधिर लगा हुआ था और

संग में बहुत से बड़े बड़े कुत्ते थे। उन्हें देखने से यह जान पड़ता था, मानो कोई भयङ्कर असुर जङ्गल के पशुओं को पकड़ पकड़ कर खाता चला आता है। व्याधों को देख कर मैंने मन में विचार किया कि ये कैसे दुष्कर्मी और दुराचारी हैं। जङ्गल इनका घर है, धनुष धन, कुत्ते मित्र और बाघ-सिंह आदि हिंसक जन्तुओं के साथ वास और पशुओं की प्राण-हत्या इनकी जीविका है। इन के हृदय में दया का नाम भी नहीं है और न अधर्म का कुछ भय है। सत्कर्म तो ये जानते ही नहीं कि किसे कहते हैं! ये लोग सदा धर्म-पथ को छोड़ निन्दित और घृणित बने रहते हैं। मैं इस प्रकार तर्कना कर रहा था कि वे मृगया की थकावट को दूर करने की इच्छा से उसी वृक्ष के नीचे आ बैठे जिस में मैं रहता था; और एक निकटवर्ती सरोवर से जल और मृणाल ला कर उन लोगों ने जलपान किया और फिर चले गये।

उस सेना में से एक वृद्ध को उस दिन कुछ आखेट नहीं मिला था। वह उनका संग छोड़ उसी वृक्ष के नीचे खड़ा रहा। जब वे सब चले गये तो उसने अपनी लाल लाल आँखों से एक बेर वृक्ष को नीचे से ऊपर तक देखा। उस के देखने ही से उस में के बच्चों के प्राण उड़ गये। हाय! दुष्टों को कोई कर्म असाध्य नहीं है। जैसे निसेनी द्वारा अटारी पर चढ़ने में किसी को क्लेश नहीं होता, उसी प्रकार वह दुष्ट काँटों से घिरे हुए वृक्ष पर बड़ी

सरलता से चढ़ गया और एक एक खोते में से बच्चों को निकाल निकाल कर उन का प्राण ले ले कर पृथ्वी पर पटकने लगा। पिता हमारे वृद्ध तो थे ही इस अचिन्तित आपत्ति के आने से बड़े दुःखी हुए। भय से शरीर काँपने लगा और तालू सूख गया। इधर उधर देखते थे, परन्तु प्राण-रक्षा का कोई उपाय देख नहीं पड़ता था। तब हम को अपनी छाती के नीचे छिपा कर बैठे। उस समय मैंने देखा कि उनके नेत्रों से आँसू की धारा बही चली जाती थी। उस व्याध ने धीरे धीरे हमारे खोते के पास के सब बच्चों को मारते हुए अपने कर-कपाल-सर्प द्वारा मेरे पिता को पकड़ा। यद्यपि पिता ने उसको जहाँ तक बन पड़ा, ठोकरों से भली भाँति मारा और काटा, परन्तु उसने छोड़ा नहीं, वरन् खोते से निकाल खूब मारा और अधमरा करके पृथ्वी पर फेंक दिया। मैं भय के मारे पिता के पंख में चिपट गया था। इससे उसने मुझे देखा नहीं। उस वृक्ष के नीचे सूखे पत्तों का ढेर लगा था। मैं उसी पर गिरा और मुझे कुछ चोट न आई।

जब तक बालक अधिक दिन का नहीं होता स्नेह का संचार उसमें नहीं होता; पर भय जन्म-दिन से ही उत्पन्न होता है। इस हेतु मुझको पिता के मरने का कुछ सोच नहीं हुआ, परन्तु डर से व्याकुल हो कर मैं भागने की चेष्टा करने लगा। अपने कम्पित चरण और छोटे छोटे पंखों की सहायता से गिरता पड़ता चला

जाता था और मन में यह सोचता जाता था कि अब तो काल-ग्रास से बचा; और जा कर एक निकटवर्ती तमाल वृक्ष की जड़ में छिपा। इतने में वह व्याध वृक्ष से उतर सब मरे हुए पक्षि-शावकों को एक लता से बाँध जिधर वह सेना गई थी, उसी ओर चला गया।

ऊँचे से गिरने और भय के कारण मेरा शरीर थर थर काँपता था और पिपासा से कण्ठ सूखा जाता था। यह सोच कर कि अब वह व्याध दूर चला गया होगा, मैंने सिर निकाल कर चारों ओर देखा और डरते डरते धीरे धीरे चलने का उद्योग करने लगा। गिरते पड़ते चलते चलते शरीर मृत्तिका से लिप्त हो गया और साँस फूलने लगा। उस समय मैंने मन में सोचा कि चाहे किसी को कितना ही क्लेश क्यों न हो पर वह जीवन-आशा नहीं छोड़ता। मैंने अपने नेत्रों से देखा कि पिता स्वर्ग लोक को सिधारे, और मैं स्वतः इतने ऊँचे से विकलेन्द्रिय हो कर गिरा, पर अभी तक जीने की आशा कैसी मन में बनी है। हाय! हमारा-सा निर्दय और कौन है? माता जन्मते ही मर गई, पिता पत्नी-विरह परित्याग कर मेरे लालन-पालन में नियुक्त थे। और बुढ़ापे में भी मेरे लिए इतना क्लेश सहते थे। परन्तु मैं सब भूल गया। मुझ सरीखा कृतघ्न और दूसरा नहीं है और अपना-सा निर्दयी और दुराचारी भी मैं किसी को नहीं देखता। कैसे आश्चर्य की बात है! इस अवस्था

में मुझ को प्यास लगी। दूर से सारस और हंस का शब्द सुन कर मैंने अनुमान किया कि सरोवर दूर है, कैसे वहाँ पहुँचूँगा और जल-पान करके अपनी पिपासा रूपी अग्नि को शान्त करूँगा।

इसी सोच-विचार में दोपहर हो गया और सूर्य अग्निमय किरणों से संसार को उत्तप्त करने लगा। मार्ग लोहे की चद्दर की भाँति उष्ण हो गया और बालू में मेरा पाँव भुनने लगा। यद्यपि मरने की कोई इच्छा न थी, पर उस समय के क्लेश से व्याकुल हो कर बारम्बार ईश्वर से यही प्रार्थना की कि प्राण ले ले। आँख के सामने अँधेरा छा गया और प्यास से कण्ठ शुष्क और अङ्ग शिथिल हो गया। वहाँ से थोड़ी ही दूर पर जाबालि नामक एक महा तपस्वी ऋषि रहते थे। उनके वीर पुत्र हारीत उसी ओर से सरोवर पर स्नान को जाते थे। उनका तेज ऐसा था जैसे सूर्य का। माथे पर जटा, ललाट में त्रिपुण्ड, कान में स्फटिक माला, बायें हाथ में कमण्डलु, दाहिने में दण्ड, कंधे पर कृष्ण मृगछाला और गले में यज्ञोपवीत सुशोभित था। उनकी शान्त मूर्त्ति को देख कर ऐसा जान पड़ता था कि जैसे शान्ति-सागर श्रीपार्वती-वल्लभ मेरी रक्षा को चले आते हैं। साधु लोगों का चित्त कृपालु तो होता ही है। मेरी यह दशा देख कर उनके मन में दया आई और उन्हों ने मेरी ओर संकेत करके टहलुए से कहा—देखो यह एक सुए का बच्चा मार्ग में पड़ा है। ऐसा जान पड़ता है कि किसी शाल्मली

के वृक्ष पर से गिरा है। इस का साँस फूल रहा है और नेत्र बन्द हो रहे हैं। जान पड़ता है कि बड़ा प्यासा है। यदि थोड़ी देर जल न मिलेगा तो अवश्य मर जायगा। चलो हम इसे सरोवर पर ले चल कर जल पिलावें। सम्भव है कि बच जाय। यह कह कर उन्होंने मुझ को मार्ग में से उठा लिया। उनके स्पर्श मात्र से मेरा शरीर शीतल हो गया। अनन्तर इसके मुझे मानस-तीर ले जा कर मेरा मुँह खोल अपनी उङ्गली से जल पिलाया। जल पीने से पिपासाग्नि शांत हुई। फिर मुझे स्नान कराके नलिनी-पत्र की शीतल छाया में बैठा दिया। आप भी स्नान कर सूर्य्य को अर्घ्य दान दे, गीला वस्त्र उतार, पुनीत नवीन वस्त्र धारण कर, मुझको ले तपोवन की ओर धीरे धीरे चले।

तपोवन के निकट पहुँच कर मैंने देखा कि वहाँ के वृक्ष सब कुसुमित और पल्लवित हो रहे थे और फल-भार से भूमि स्पर्श करते थे। इलायची और लवंग की सुगन्ध चारों ओर छा रही थी और मधुप झंकार करते हुए एक पुष्प से दूसरे पुष्प पर भ्रमण कर रहे थे। अशोक, चम्पक, किंशुक, मल्लिका और मालती आदि नाना प्रकार के वृक्षों और लताओं के एकत्र होने और उनकी डालियों के मिल जाने से स्थान स्थान पर सुन्दर रमणीय गृह बन गये थे, जिनमें सूर्य्य की किरण प्रवेश नहीं कर सकती थी। बड़े बड़े ऋषि लोग मन्त्र पढ़ पढ़ कर होम कर रहे थे

अग्नि की ज्वाला से वृक्षों की पत्तियाँ मलिन हो रही थीं और वायु होम-गन्धमय होकर धीरे धीरे बह रही थी। कोई तो उच्च स्वर से वेद पढ़ रहे थे और कोई शान्त भाव से धर्मशास्त्र पढ़ रहे थे। मृग-गण निःशंक चारों ओर भ्रमण कर रहे थे।

तपोवन को देख कर मैं बड़ा प्रसन्न हुआ। उसके भीतर देखा कि रक्त-पल्लव-सम्पन्न रक्ताशोक वृक्ष के नीचे एक पवित्र स्थान में बेंत के आसन पर महातपी जाबालि ऋषि बैठे हैं और उनके आस पास और और मुनि लोग बैठे हैं। जाबालि ऋषि बड़े बूढ़े थे और उनके बाल और रोएँ सब पक गये थे। ललाट में खली पड़ गई थी, सिर नीचा हो गया था। पञ्जर और मस्तक की हड्डी निकल आई थी और श्रवण-सम्पुट श्वेत लोम से ढक गये थे। उनकी मूर्त्ति देखने से जान पड़ता था कि वे करुण-रस के प्रवाह, क्षमा और सन्तोष के आधार, शान्ति रूपी लता के मूल, क्रोध-भुजङ्ग के महा-मन्त्र, सत्पथदर्शक और सत्स्वभाव के आश्रय हैं। उनको देख कर मेरे मन में एक बार भय और विस्मय दोनों उत्पन्न हुए और मैंने कहा कि इनका कैसा प्रभाव है! इनके प्रभाव से वन में हिंसा, द्वेष, वैर और मात्सर्य आदि का नाम भी नहीं है। हरिन के बच्चे सिंह के बच्चों के संग सिंहनी का दूध पीते हैं, हाथी और सिंह परस्पर प्रेम से खेल रहे हैं, मृग सब स्थिर-चित्त होकर शृगाल के संग चर रहे हैं और सूखे वृक्ष

भी कुसुमित हो रहे हैं। मानो सत्ययुग कलियुग के भय से भाग कर इसी तपोवन में आ छिपा है। वृक्षों की शाखा में मुनियों की छाला, कमण्डलु और माला लटक रही थी और नीचे बैठने के लिए वेदी बनी थी। मानो सब वृक्ष भी तपस्वी का वेष धारण करके तपस्या करते थे।

ऋषिकुमार मुझको उसी रक्ताशोक के नीचे रख, अपने पिता के चरण-कमल की वन्दना कर, स्वतन्त्र हो एक आसन पर बैठे। सब ऋषिकुमारों ने मुझ को देख कर बड़ा आश्चर्य माना और हारीत से पूछा कि हे सखा! इस शुक के बच्चे को तुमने कहाँ पाया? उन्होंने कहा कि जब मैं स्नान करने को जाता था, तब इसको देखा कि अपने खोते से गिर कर पृथ्वी पर लेट रहा था। इसकी वह दशा देख कर मुझे दया आई। परन्तु जिस वृक्ष पर से यह गिरा था, उस पर का चढ़ना कठिन समझ मैं इसे अपने संग लेता आया। अब चाहिए कि हम सब यत्नपूर्वक इसकी रक्षा करें।

हारीत की यह बात सुनकर जाबालि ऋषि ने मेरी ओर देखा। उनकी दृष्टि पड़ते ही मैंने अपने को कृतार्थ जाना। उन्होंने परिचित की भाँति बारम्बार मेरी ओर देख कर कहा कि यह अपने किये का फल भोग रहा है। महर्षि त्रिकालदर्शी थे। तपस्या के बल से उनको भूत, भविष्य और वर्तमान समान जान पड़ता था और ज्ञानदृष्टि द्वारा सम्पूर्ण संसार उनको करतल-पदार्थ की भाँति

था। सब लोग उनका प्रभाव जानते थे; इसलिए किसी को अविश्वास नहीं हुआ, वरन् सब व्यग्र होकर पूछने लगे—महाराज, इसने क्या दुष्कर्म किया है और क्या पाप कर उसका फल भोग करता है? पूर्व जन्म में यह कौन जाति था और किस प्रकार इसने पक्षिकुल में जन्म लिया? कृपा कर इन सब बातों का वर्णन कर के हमारी उद्वेगाग्नि को शान्त कीजिए।

महर्षि ने कहा कि निःसन्देह इसकी कथा उद्वेगजनक है; परन्तु थोड़े समय में समाप्त नहीं हो सकती। अब सन्ध्या होती है। मुझको स्नान करना है और तुम लोगों के भी देवार्चन का समय हो गया। आहारादि सम्पूर्ण नित्य-क्रिया समाप्त करके निश्चित हो कर बैठो तो मैं इसका आद्योपान्त वर्णन करूँ। ऋषि की यह बात सुन कर मुनिकुमार सब स्नान, पूजा आदि कर्मों में नियुक्त हुए।

अब सन्ध्या हो गई। मुनिकुमारों ने रक्तचन्दन से अर्घ्य दिया था: वह उनके अंग में लग कर ऐसी शोभा देता था जैसे लोहित वर्ण सूर्य्य। तमारि की किरणों ने धीरे-धीरे पृथ्वी से कमलवन में और कमलवन से वृक्षों के शिखर पर और वहाँ से पहाड़ों की चोटी को जा कर उस को स्वर्ण-वर्ण किया। वायु से चलायमान पत्र रूपी हस्त द्वारा सब वृक्ष पक्षियों को अपने अपने खोतों में बुलाने लगे और विहङ्गों ने भी कलरव करके उत्तर दिया। मुनि सब ध्यानस्थित होकर और हाथ बाँध कर सन्ध्या-वन्दन करने

लगे। कामधेनु के दुहे जाने का शब्द चारों ओर सुनाई देने लगा। हरी कुशा अग्निहोत्र की वेदी पर बिछाई गई। तिमिरनाशक के भय से छिपा हुआ तिमिर प्रकट हुआ। सन्ध्या के क्षय होने के शोक से दुःखित रात्रि अन्धकार रूपी मलिन वस्त्र धारण करके दृष्टिगोचर हुई। ग्रह रूपी चोर भी, जो सूर्य्य के प्रताप से छिपे थे, बाहर निकले। पूर्व दिशा में चन्द्रमा का थोड़ा थोड़ा प्रकाश होने लगा। इससे उसकी शोभा ऐसी जान पड़ती थी, मानो वह मुसकिरा रही हो। सुधाधर का पहले कला मात्र, फिर आधा और फिर क्रमशः समस्त मण्डल प्रकाशित हुआ और अन्धकार का नाश हुआ। कोई फूली और मन्द मन्द समीर के बहने से मृग आह्लादित हुए। जीव-जन्तु आनन्दमय, कुमुद गन्धमय और तपोवन प्रकाशमय हुआ।

हारीत भोजन आदि समाप्त करके मुझे ले ऋषिकुमारों के साथ पिता के समीप जा पहुँचे और देखा कि वे एक बेत के आसन पर बैठे हैं और जालपाद नामक शिष्य पंखा झल रहा है। वे पिता के सम्मुख हाथ जोड़ कर खड़े हुए और बोले कि हे पिता, हम लोगों को इस सुए के बच्चे का वृत्तान्त सुनने की बड़ी इच्छा है। यदि आप कृपा कर वर्णन करें तो हम सब बड़े कृतार्थ हों।

महर्षि ने ऋषिकुमारों की वह दशा देख कर कथा आरम्भ की जिसे सुन कर ऋषि-कुमारों को बड़ा आश्चर्य्य हुआ।

१७

हिन्दी नाटक और रङ्गशाला

लेखक—रायबहादुर बाबू श्यामसुन्दर दास, बी० ए०

[बाबू श्यामसुन्दर दास के पूर्वज अमृतसर से जाकर काशी में बसे थे। आप का जन्म वहीं सन् १८७५ में हुआ था। आप पहले एक हाई स्कूल में हेडमास्टर थे, पर अब हिन्दू-विश्वविद्यालय, बनारस में हिन्दी के प्रोफ़ैसर हैं। काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा आपही के उद्योग का फल है। आपकी हिन्दी बहुत साफ़ और मँजी हुई होती है। आपने कई विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। उन में से हिन्दी कोविद रत्नमाला, साहित्यालोचन और भाषा-विज्ञान बहुत प्रसिद्ध हैं। हिन्दी शब्द-सागर, मनोरञ्जन पुस्तक माला, और पृथ्वीराजरासो का भी आपने संपादन किया है।]

यों कहने को तो चाहे हिन्दी में नेवाज कृत 'शकुन्तला' नाटक, हृदयराम कृत 'हनुमान' नाटक, या ब्रजवासी दास कृत 'प्रबोध चन्द्रोदय' आदि कई सौ वर्ष पहले के बने हुए कई नाटक वर्त्तमान हों, पर वास्तव में नाट्यकला की दृष्टि से वे नाटक नहीं कहे जा सकते, क्योंकि उन रचनाओं में नाटक के नियम का पालन नहीं किया गया और वे काव्य ही काव्य हैं। हाँ, 'प्रभावती' और 'आनन्द रघुनन्दन' आदि कुछ नाटक अवश्य ऐसे हैं जो किसी प्रकार नाटक की सीमा में आ सकते हैं। कहते हैं कि हिन्दी का पहला नाटक बाबू हरिश्चन्द्र के पिता श्रीयुक्त बाबू गोपालचन्द्र उपनाम गिरधर दास कृत 'नहुष' नाटक माना जाना चाहिए। पर वह भी साधारण बोल चाल की हिन्दी में नहीं, बल्कि ब्रज भाषा में है। इसके उपरान्त लक्ष्मण सिंह ने शकुन्तला नाटक का अनुवाद किया था। यद्यपि यह नाटक भाषा आदि के विचार से बहुत अच्छा है, किन्तु मौलिक नाटक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह कालिदास कृत शकुन्तला नाटक का अनुवाद है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने तो मानो नाटक-रचना से ही आधुनिक हिन्दी को जन्म दिया था। उन्हों ने लगभग बीस नाटक लिखे थे, जिन में से अधिकांश अनुवाद नहीं तो छायानुवाद अवश्य थे, तो भी उनके कई नाटक बहुत अच्छे हैं और अब भी अनेक स्थानों पर खेले जाते हैं। लाला श्री

निवास दास कृत रणधीर प्रेम मोहिनी नाटक अवश्य अच्छा है। पर वह इतना बड़ा है कि उसका पूरा पूरा अभिनय नहीं हो सका। यही दशा बल्कि इससे भी कुछ बढ़ कर पण्डित बदरी नारायण चौधरी कृत 'भारत सौभाग्य' नाटक की है। पण्डित बालकृष्ण भट्ट कृत कई नाटक हैं सही, पर कई कारणों से उनका भी सर्व साधारण में कोई विशेष आदर नहीं। हिन्दी में मृच्छकटिक नाटक के तीन अनुवाद हैं, पर एक भी रङ्गशाला के योग्य न होने के कारण सर्व प्रिय नहीं हो सका।

बाबू राधा कृष्णदास का "महाराणा प्रताप" नाटक अवश्य ऐसा है जिसका हिन्दी में बहुत कुछ आदर हुआ है और जिसका अनेक स्थानों पर अभिनय भी हुआ करता है। इन नाटकों के अतिरिक्त हिन्दी में गिनती के कुछ और मौलिक या संस्कृत से अनूदित नाटक भी हैं जो विशेष उल्लेखयोग्य नहीं जान पड़ते। लाला सीताराम बी० ए० ने संस्कृत के कई नाटकों का अनुवाद किया है पर वे अनुवाद उतने अच्छे नहीं हैं। स्वर्गवासी पण्डित सत्य-नारायण कविरत्न कृत मालतीमाधव और उत्तररामचरित्र के अनु-वाद अवश्य ऐसे हैं जो स्थायी साहित्य में स्थान पाने योग्य हैं। भारतेन्दु जी के कुछ काल अनन्तर हिन्दी में अनुवाद की धूम मची और बंगला से अनेक उपन्यासों तथा नाटकों के अनुवाद प्रकाशित हुए। विशेषतः काशी के भारत-जीवन प्रेस से ऐसे कई

नाटकों के अनुवाद निकले। इधर कुछ दिनों से इन अनुवादों की संख्या और भी बढ़ गई है जिन में से विशेष उल्लेख-योग्य बंगला के सुप्रसिद्ध नाटककार श्रीयुक्त द्विजेन्द्र लाल राय तथा गिरीश घोष के नाटकों के अनुवाद हैं। राय महाशय के प्रायः सभी नाटकों के सुन्दर अनुवाद बम्बई के हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय से प्रकाशित हुए हैं। पर इधर दस-बीस वर्षों के अन्दर हिन्दी में मौलिक नाटक प्रायः बने ही नहीं। इधर कुछ दिनों से काशी के श्री युक्त बाबू जयशङ्कर प्रसाद ने साहित्य के इस अङ्ग की पूर्ति की ओर ध्यान दिया है और उनको मौलिक नाटक लिखने में अच्छी सफलता भी हुई है। उनके लिखे हुए नाटकों में से अजात शत्रु, जनमेजय का नागयज्ञ और विशाख आदि नाटक बहुत अच्छे हैं। आज कल कुछ धनवानों की कृपा से हिन्दी के लेखकों को अनेक प्रकार के पुरस्कार आदि मिलने लगे हैं। इस से आशा होती है कि शीघ्र ही हिन्दी में मौलिक रचना का आरभ हो जायगा और साहित्य के अन्यान्य अङ्गों के साथ ही साथ इस अङ्ग की भी शीघ्र ही और अच्छी पूर्ति होगी।

जहाँ नाटकों का ही अभाव हो, वहाँ नाटक-मण्डलियों और रङ्गशालाओं के अभाव का क्या पूछना है। बँगला, मराठी और गुजराती भाषा-भाषियों ने बहुत दिनों से अपनी अपनी भाषा में अच्छे अच्छे मौलिक नाटकों की रचना आरम्भ कर रक्खी है और उन

नाटकों के साथ ही साथ अपने अपने ढँग की रंगशालाएँ भी स्थापित कर ली हैं। उनकी अनेक अच्छी अच्छी नाटक-मण्डलियाँ भी स्थापित हैं। उन रंगशालाओं और नाटक-मण्डलियों के देखने से इस बात का ठीक अनुमान हो सकता है कि उन लोगों ने इस सम्बन्ध में कितनी उन्नति की है। और हिन्दी भाषा इस विषय में कितनी पिछड़ी हुई है। भारत में आधुनिक ढंग की रंगशालाओं और नाटक-मण्डलियों की स्थापना बहुत थोड़े दिन पहले से अर्थात् गत शताब्दी के प्रायः मध्य में आरम्भ हुई है। इन पचास साठ वर्षों में ही यहाँ अँगरेज़ी ढङ्ग की रँगशालाएँ बनने लगी हैं और उसी ढंग पर अभिनय होने लगे हैं। बँगला, मराठी और गुजराती नाट्य-शालाओं और नाटक-मण्डलियों आदि का आरम्भ और विकास इन्हीं थोड़े दिनों में हुआ है। यद्यपि उसी समय के लगभग पहले पहल आधुनिक ढंग की रंगशालाओं में हिन्दी नाटकों का भी प्रवेश हुआ था, तथापि हिन्दी के दुर्भाग्य से लोगों ने इस ओर विशेष ध्यान न दिया, जिस के कारण आज कल हिन्दी में नाटकों की दशा इतनी गिरी हुई है। यदि यह बात न होती तो आज हिन्दी के नाटक भी अन्यान्य भारतीय भाषाओं के नाटकों के समान बहुत उन्नत दशा में होते। सब से पहले बनारस के बनारस थियेटर में सन् १८६८ में पण्डित शीतलाप्रसाद त्रिपाठी का बनाया हुआ "जानकी मंगल नाटक" बहुत धूम धाम से खेला गया था।

इसकी देखा देखी प्रयाग और कानपुर के लोगों ने भी अपने अपने यहाँ "रणधीर-प्रेममोहिनी" और "सत्य हरिश्चन्द्र" का अभिनय किया था। इसके उपरान्त हिन्दी में अच्छे नए नाटकों के न बनने के कारण रंग-शालाओं में हिन्दी का प्रवेश न हो सका और हिन्दी भाषा-भाषी प्रायः पारसी थियेटरों के उर्दू नाटक देख कर ही सन्तुष्ट रहने लगे। कदाचित् यहाँ यह बतलाने की आवश्यकता न होगी कि बंगला, मराठी या गुजराती आदि के नाटकों को देखते हुए पारसी थियेटरों के उर्दू नाटक कितने अधिक कुरुचि-पूर्ण और निकृष्ट होते हैं। पर फिर भी हिन्दी भाषा-भाषी उन्हीं नाटकों के अभिनय देखकर अपने आप को धन्य माना करते थे। इधर पाँच सात वर्षों से पारसी कम्पनियों के थियेटरों में भी हिन्दी का प्रवेश हो चला है और दिन पर दिन उनमें खेले जाने वाले हिंदी नाटकों की संख्या बढ़ती जाती है। अब तो कुछ ऐसी व्यवसायी मण्ड-लियाँ भी तैयार हो गई हैं जो बहुधा केवल हिंदी के ही नाटक खेला करती हैं। पारसी कम्पनियों में तो अब कदाचित् ही कोई ऐसी हो जो दो चार हिंदी नाटकों का अभिनय न करती हो। इस सम्बन्ध में दिल्ली के पण्डित नारायण प्रसाद बेताब का उद्योग परम प्रशंसनीय है, जिन्हों ने पहले पहल महाभारत नाटक की रचना करके और एक पारसी कम्पनी की रंगशाला में उस का अभिनय कराके लोगों का ध्यान कुरुचिपूर्ण नाटकों की ओर से हटाया और

उन्हें सुरुचिपूर्ण हिंदी नाटकों की ओर प्रवृत्त किया। अब प्रायः सभी स्थानों में लोग हिंदी नाटकों का अभिनय बड़े चाव से देखा करते हैं, जिस से आशा है कि थोड़े ही दिनों में हिंदी भी नाट्य-क्षेत्र में भारत की अन्य भाषाओं के समकक्ष हो जायगी। इधर हिंदी में मौलिक नाटकों की रचना भी आरम्भ हो चली है, और दिन पर दिन ऐसे नाटकों की संख्या बढ़ने की संभावना है। हमारे लिये ये दोनों ही बातें बहुत आशाजनक और उत्साहवर्द्धक हैं।

❀ ❀ ❀

१८

सभ्यता का विकास

ईश्वर की सृष्टि विचित्रताओं से भरी हुई है। जितना ही इसे देखते जाइए, इसका अन्वेषण करते जाइए, इसकी छान बीन करते जाइए, उतनी ही नई नई शृङ्खलाएँ विचित्रता की मिलती जायँगी। कहाँ एक छोटा सा बीज और कहाँ उससे उत्पन्न एक विशाल वृत्त; कहाँ एक बिन्दुमात्र पदार्थ और कहाँ उस से उत्पन्न मनुष्य। दोनों में कितना अन्तर और फिर दोनों में कितना घनिष्ठ सम्बन्ध! ज़रा सोचिए तो सही, एक छोटे से बीज के गर्भ में क्या क्या भरा हुआ है। उस नाम मात्र के पदार्थ में एक बड़े से बड़े वृत्त को उत्पन्न करने की शक्ति है जो

समय पाकर पत्र, पुष्प, फल से सम्पन्न हो वैसे ही अगणित बीज उत्पन्न करने में समर्थ होता है जैसे बीज से उसकी स्वयं उत्पत्ति हुई थी। कैसे बिन्दुमात्र पदार्थ से मनुष्य का शरीर बनता है! कैसे क्रम क्रम से नवजात बालक के अंग पुष्ट होते जाते हैं, उस में नई शक्ति आती जाती है, उसके मस्तिष्क का विकास होता जाता है, उसमें भावनाएँ उत्पन्न होती जाती हैं और समय पाकर वह उस शक्ति से सम्पन्न हो जाता है जिस से वह अपनी ही सी सृष्टि की वृद्धि करता जाय! फिर एक ही प्रणाली से उत्पन्न अनेक प्राणियों की भिन्नता कैसी आश्चर्यजनक है! कोई बलवान है, तो कोई विचारवान, कोई न्यायशील है तो कोई अत्याचारी, कोई दयामय है तो कोई क्रूरातिक्रूर, कोई सदाचारी है तो कोई दुराचारी, कोई संसार की माया में लिप्त है तो कोई परलोक-चिन्ता में रत। पर क्या इन विशेषताओं के बीच कोई सामान्य धर्म्म भी है या नहीं? विचार करके देखिए। सब बातें विचित्र, आश्चर्य-जनक और कौतूहलवर्द्धक होने पर भी किसी शासक द्वारा निर्धारित नियमावली से बद्ध हैं। सब अपने अपने नियमानुसार उत्पन्न होते, बढ़ते, पुष्ट होते और अन्त में उस अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं जिसे हम मृत्यु कहते हैं; पर यहीं उनकी समाप्ति नहीं है, यहीं उनका अन्त नहीं है। वे सृष्टि के कार्य-साधन में निरन्तर तत्पर हैं। मर कर भी वे सृष्टि-निर्माण में योग देते हैं। योंही वे

जीते मरते चले जाते हैं। इन्हीं सब बातों की जाँच विकासवाद का विषय है। यह शास्त्र हमको इस बात की छान बीन में प्रवृत्त करता है और बतलाता है कि कैसे संसार की सब बातों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में अभिव्यक्ति हुई, कैसे क्रम क्रम से उन की उन्नति हुई और किस प्रकार उनकी संकुलता बढ़ती गई। जैसे संसार की भूतात्मक अथवा जीवात्मक उत्पत्ति के सम्बन्ध में विकास-वाद के निश्चित नियम पूर्ण रूप से घटते हैं वैसे ही वे मनुष्य के सामाजिक जीवन के उन्नति-क्रम आदि को भी अपने अधीन रखते हैं। यदि हम सामाजिक जीवन के इतिहास पर ध्यान देते हैं तो हमें विदित होता है कि पहले मनुष्य असभ्य वा जंगली अवस्था में थे। वे झुण्डों में घूमा करते थे और उनके जीवन का एक मात्र उद्देश उदर की पूर्त्ति था, जिसका साधन वे जानवरों के शिकार से करते थे। क्रमशः शिकार में पकड़े हुए जानवरों की संख्या आवश्यकता से अधिक होने के कारण उनको बाँध रखना पड़ा। इस का लाभ उन्हें भूख लगने पर स्पष्ट विदित हो गया और यहीं से मानों उनके पशु-पालन-विधान का बीजारोपण हुआ। धीरे धीरे वे पशु-पालन के लाभों को समझने लगे और उनके चारे आदि के आयोजन में प्रवृत्त हुए। साथ ही पशुओं को साथ लिये लिये घूमने में उन्हें कष्ट दिखलाई पड़ने लगे और वे एक नियत स्थान

पर रह कर जीवन-निर्वाह का उपाय करने लगे। अब वृत्ति की ओर उनका ध्यान गया। कृषि-कर्म होने लगे, गाँव बसने लगे, पशुओं और भू-भागों पर अधिकार की चर्चा चल पड़ी। लोहारों और बढ़इयों की संस्थाएँ बन गईं। आपस में लेन देन होने लगा। एक वस्तु देकर दूसरी आवश्यक वस्तु प्राप्त करने का उद्योग हुआ और यही मानो व्यापार की नींव पड़ी। धीरे धीरे इन गाँवों के अधिपति हुए जिन्हें अपने अधिकार को बढ़ाने, अपनी सम्पत्ति को वृद्धि देने तथा अपने बल को पुष्ट करने की लालसा उत्पन्न हुई। सारांश यह है कि आवश्यकतानुसार उनके रहन-सहन, भाव-विचार सब में परिवर्तन हो चला। जो सामाजिक जीवन पहले था वह अब न रहा। अब उसका रूप ही बदल गया। अब नये विधान आ उपस्थित हुए। नई आवश्यकताओं ने नई चीज़ों के बनाने के उपाय निकाले। जब किसी चीज़ की आवश्यकता आ उपस्थित होती है तब मस्तिष्क को उस कठिनता को हल करने के लिए कष्ट देना पड़ता है। इस प्रकार सामाजिक जीवन में परिवर्तन के साथ ही साथ मस्तिष्क-शक्ति का विकास होने लगा। सामाजिक जीवन के परिवर्तन का दूसरा नाम असभ्यावस्था से सभ्यावस्था को प्राप्त होना है; अर्थात् ज्यों ज्यों सामाजिक जीवन का विकास, विस्तार और उसकी संकुलता बढ़ती गई त्यों त्यों सभ्यता देवी का साम्राज्य स्थापित

होता गया। जहाँ पहले असभ्यता वा जंगलीपन ही में मनुष्य सन्तुष्ट रहते थे तहाँ उन्हें सभ्यतापूर्वक रहना पसंद आने लगा। सभ्यता-अवस्था सामाजिक जीवन में उस स्थिति का नाम है जब मनुष्य को अपने सुख और चैन के साथ साथ दूसरे के स्वत्वों और अधिकारों का भी ज्ञान हो जाता है। आदर्श सभ्यता वह है जिसमें मनुष्य का यह स्थिर सिद्धान्त हो जाय कि "जितना किसी काम के करने का अधिकार मुझे है उतना ही दूसरे को भी है" और उसे इस सिद्धान्त पर दृढ़ रखने के लिए किसी बाहरी अंकुश की आवश्यकता न रह जाय। यह भाव जिस जाति में जितना ही अधिक पाया जाता है उतनी ही अधिक वह जाति सभ्य समझी जाती है। इस अवस्था की प्राप्ति बिना मस्तिष्क के विकास के नहीं हो सकती अथवा यह कहना चाहिये कि सभ्यता की उन्नति और मस्तिष्क की उन्नति साथ ही साथ होती है। एक दूसरे का अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध है। एक का दूसरे के बिना आगे बढ़ जाना या पीछे पड़ जाना असम्भव है। दोनों साथ साथ चलते हैं। मस्तिष्क के विकास में साहित्य का स्थान बड़े महत्त्व का है।

१६

महापुरुषों के जीवन का रहस्य

लेखक—श्रीयुत रामनारायण मिश्र

[आपका जन्म १ अगस्त सन् १८७६ ईसवी को दिल्ली में हुआ था। आप इस समय हिन्दू-विश्वविद्यालय के हिन्दू स्कूल, काशी के हेडमास्टर हैं। आपने जापान का इतिहास, पारसियों का इतिहास, महादेव गोविन्द रानडे, बालोपदेश और योरप-यात्रा में छः मास, आदि पुस्तकें लिखी हैं।]

प्रातःकाल का समय था और जंगल का स्थान था। चारों ओर सन्नाटा था। सूर्य भगवान उदय हो चुके थे। कुछ युवागण जो पैमाइश करने वहाँ गये थे एक पहाड़ी नदी के किनारे जलपान कर रहे थे। इतने में एक स्त्री के ज़ोर से चिल्लाने की आवाज़

आई और यह आवाज़ बार बार आने लगी। परन्तु झाड़ियों के सबब से कुछ दिखलाई नहीं देता था। सब के सब जिधर से आवाज़ आ रही थी उधर ही दौड़े। इनमें से एक जिसकी अवस्था १८ वर्ष की थी पहले पहुँच गया। उसको देखते ही स्त्री ने कहा "हे सज्जन! मेरा प्यारा लाड़ला वह देखो नदी में डूब रहा है और मुझे ये लोग नदी में कूदने नहीं देते, मुझे छुड़ाओ और जाने दो।" "जाने कैसे दें, यह तो नदी के बहाव में बहकर चट्टानों से टक्कर खा कर एक क्षण में रसातल को चली जायगी, जाने कैसे दें?" यह वाक्य उनमें से एक आदमी के थे जो उसको पकड़े हुए थे।

१८ वर्ष के जवान ने तुरन्त अपना कोट उतार दिया और किनारे की तरफ़ जाकर एक दृष्टि चट्टानों और पानी के भँवरों पर डाली। फिर डूबते हुए बालक के वस्त्रों को देख कर वह उसकी तरफ़ कूदा।

"हे भगवन्, यह मेरे बच्चे को अवश्य बचाएगा, हा! वह देखो मेरा प्यारा वत्स अब डूबा, वह डूबा, डूबा, हा!" सब लोग नदी के किनारे की चट्टान पर आकर देखने लगे। अब तक तो लोगों को बच्चे की चिन्ता थी, अब उस नौजवान की भी फ़िक्र पड़ी। कभी तो मालूम होता कि वह भँवर में पड़ गया, कभी चट्टानों के पास से ऐसा निकल जाता मानों भगवान ही उसकी रक्षा कर रहे

हैं। दो बेर वह लड़का नैनों से ओझल हो गया पर फिर दिखाई देने लगा। तीन बेर वह इस नौजवान के हाथ में आकर फिर बहाव में पड़ गया। बहादुर नौजवान ने अपना ज़ोर बढ़ा दिया। सबके चेहरे पर घबराहट थी। सब भगवान का नाम ले रहे थे। इतने में दोनों एक सूखी चट्टान पर दिखाई दिए। बालक बेहोश था, जवान थका हुआ था। लोग उधर की तरफ़ दौड़े। बच्चे की नाड़ी ठीक थी। स्त्री ने हर्ष के आँसू बहा कर कृतज्ञतापूर्वक कहा, "परमेश्वर तुमको इसका फल देगा। आज के काम के बदले में वह तुम्हारे लिए बड़े बड़े काम करेगा। मेरे अतिरिक्त सहस्रों नर-नारी तुम्हारी भलाई के लिए प्रार्थना करेंगी।"

यह युवा जार्ज वाशिङ्गटन था, जिसने आगे चल कर अपने देश को स्वतन्त्र करने का यश पाया।

दक्षिण देश में एक हिन्दू-परिवार था। एक दिन माता अपने पुत्र को मिठाई दे रही थी। सामने मज़दूरनी के बच्चे को खड़ा देखा। आधी मिठाई अपने पुत्र को देकर वह कहने लगी—"लो, उस लड़के को भी दे दो।" पुत्र ने बड़ी मिठाई मज़दूरनी के बच्चे को दे दी और छोटी आप खा ली। माता ने पूछा, "यह क्या किया"? उत्तर दिया, "यही तो आपने कहा था", यही बालक आगे चल कर भारतमाता का सुपुत्र महादेव गोविन्द रानडे हुआ जिनके परोपकार की कथाएँ सदा चिरस्मरणीय रहेंगी।

पहली कथा पाश्चात्य देश के एक महानुभाव के बाल्यावस्था की है, दूसरी पूर्वीय देश के। पाश्चात्य देशों में बल, पराक्रम, आत्मविश्वासादि गुणों का प्रादुर्भाव अधिक होता है। इन देशों में आत्म त्याग, परोपकार और सेवाभाव अधिक होता है। महा-पुरुषों की जीवनी उनके देश के गुणों का दर्पण है।

बड़े आदमियों के जीवन में लोग बहुधा यही देखा करते हैं कि उन्हों ने किन संस्थाओं को स्थापित किया, किस प्रकार से व्याख्यान दिए अथवा ग्रन्थ लिखे, कौन कौन से बड़े काम किए। परन्तु उनके जीवन में केवल वे ही कार्य उतने शिक्षाप्रद नहीं होते जो वे प्रकटरूप में संसार के सन्मुख करते हैं जितने वे कार्य जो वे घर के अन्दर अपने नित्यप्रति के व्यवहार में करते हैं अथवा जो वे बाल्यावस्था में अनायास कर बैठते हैं। वाशिङ्गटन और रानडे की जो कथाएँ ऊपर दी गई हैं उन से हमें उनके अन्य देशोप-कारी कार्यों की अपेक्षा अधिक शिक्षा मिलती है। अमेरिका की काङ्ग्रेस का वाशिङ्गटन की नाईं प्रत्येक मनुष्य सभापति नहीं हो सकता, न रानाडे की नाईं हाईकोर्ट का जज अथवा अनेक संस्थाओं का प्रवर्त्तक हो सकता है। परन्तु यह प्रत्येक साहसी आदमी के लिए सम्भव है कि वह डूबते हुए को बचा ले। इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य संसार के पदार्थों में से जो ईश्वर ने उसको प्रदान किए हैं अपने हिस्से में से भी दूसरों को दे सकता है जैसा कि रानाडे ने

अपने समूचे पेड़े को मजदूरनी के बच्चे को दे दिया और आप आधा ही खा लिया। महापुरुषों के जीवन की छोटी कहानियाँ बड़े महत्व की होती हैं। इनके द्वारा सहस्रों मनुष्य सुमार्ग पर चल सकते हैं, धर्म का अवलम्बन कर सकते हैं और जीवन का आदर्श जान सकते हैं।

—रामनारायण मिश्र

❀ ❀ ❀

२०

नेता के कुछ गुण

लेखक—श्रीयुत माधव राव, सप्रे, बी० ए०

[श्रीयुत माधवराव जी महाराष्ट्र सज्जन थे; पर आपने राष्ट्र भाषा हिन्दी को अपनाया था। आपका जन्म १६ जून सन् १८८१ को हुआ था। आप ने नागपुर से निकलने वाले साप्ताहिक पत्र 'हिन्दी केसरी' का संपादन किया और लोक मान्य बाल गङ्गाधर तिलक के मराठी ग्रन्थ "गीतारहस्य" का हिन्दी में अनुवाद किया। आप पन्द्रहवें अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति भी हुए थे। इन के कुछ ग्रन्थों के नाम ये हैं—आत्मविद्या, दासबोध, भारतीय युद्ध, जीवन संग्राम में विजय-प्राप्ति के उपाय, महाभारत मीमांसा। इन की मृत्यु २३ एप्रिल १९२६ ई० को हुई।]

नेता के कुछ गुण

नेता की आवश्यकता सभी कामों में, सभी समाजों में और सभी अवस्थाओं में हुआ करती है। प्राचीन भारतवर्ष नेताओं के महत्त्व से भली भाँति परिचित था। हमारे अनेक धर्मग्रन्थों में स्पष्ट वचन पाये जाते हैं; जैसे, "गुरु बिन ज्ञान न होय," "गुरु बिन कौन बतावे बाट," इत्यादि बात सच है। पथप्रदर्शक के बिना आत्मोद्धार के मार्ग का ज्ञान नहीं हो सकता। नेता में किन किन गुणों की आवश्यकता है इस विषय की चर्चा प्रायः प्रत्येक स्थान में और प्रत्येक समाज में हुआ करती है। लोग अपनी अपनी बुद्धि तथा ज्ञान की पहुँच के अनुसार नेताओं के गुणों के संबंध में नियम बना लिया करते और निर्णय भी कर लेते हैं कि अमुक व्यक्ति बहुत अच्छा नेता है। विद्यार्थियों की समाज में तो इस विषय पर अच्छा वाद-विवाद हुआ करता है। अपने अपने स्वभाव और बुद्धि की दौड़ के अनुसार कोई कर्मवीर गांधी को अग्रगण्य नेता समझता है, कोई लोकमान्य तिलक को भारत-शिरोमणि अगुआ मानता है, कोई माननीय मालवीयजी की मोहिनी मूर्ति पर मुग्ध होता है, कोई बाबू सुरेन्द्र पर अपना सर्वस्व अर्पण कर देता है, कोई श्रीमती बीसेण्ट को त्रिकालदर्शी योगैश्वर्य-सम्पन्न मार्गदर्शिका बतलाता है और कोई लार्ड सिंह के लार्डशिप में ही भारत का कल्याण समझता है। किसी किसी की राय में सच्चा नेता वही है कि जो अपने पेट का धंधा छोड़कर भूखों मरता फिरे

और सार्वजनिक आश्रय के अनन्त समुद्र में अपनी जीवन-नौका को डूबने-उतराने दे इस प्रकार नेताओं के गुणों के सम्बन्ध में अनेक मत दीख पड़ते हैं। यदि इस विषय का वर्तमान साहित्य देखा जावे, तो मालूम होगा कि इस पर बड़े बड़े नेताओं ने भी अपने विचार लेखों और व्याख्यानों द्वारा प्रकट किये हैं। कुछ दिन पहले लाला लाजपतरायजी ने इसी विषय पर एक बहुत अच्छा लेख प्रकाशित किया था। खेद है कि वह लेख इस समय मेरे पास नहीं है। हमारे देश का प्राचीन साहित्य तो इस विषय की चर्चा से भरा पड़ा है। महाभारत में नेताओं के गुणों का वर्णन अनेक स्थानों में किया गया है।

इस समय, इस विषय पर, मैं न तो अपने विचार प्रकट करूँगा और न किसी वर्तमान नेता के। "दासबोध" नामक सुविख्यात ग्रंथ में श्री समर्थ रामदास स्वामी ने अपने मार्मिक विचार प्रकट किये हैं। श्रीसमर्थ मेरे परात्पर गुरु और नेता हैं; अतएव उन्हीं के विचारों के आधार पर मैं इस लेख में संक्षिप्त रीति से यह बतलाने का प्रयत्न करूँगा कि नेता में कौन कौन से गुण होने चाहिए। भगवान् श्रीकृष्ण बड़े भारी कर्मवीर नेता हैं। उन्हों ने स्वयं अपने विषय में कहा है:—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिपु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥

नेता के कुछ गुण

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥

इसका भावार्थ यही है कि निस्पृह लोकसेवा अथवा "लोक-संग्रह" ही नेता का प्रधान उद्देश होना चाहिए। इसी महान उद्देश को सामने रखकर प्रत्येक नेता को, अपनी अपनी शक्ति के अनुसार, काम करना पड़ता है। इस उद्देश की सिद्धि के लिये प्रबोध-शक्ति की और जनता को अपनी ओर झुका लेने की बुद्धिमत्ता अपेक्षित है। रामदास स्वामी के मतानुसार ये बातें तभी हो सकती हैं जब इन ग्यारह गुणों का अभ्यास किया जावे:—१ यात्रा, २ विवेक, ३ परिश्रमशीलता, ४ मृत्यु के सम्बन्ध में निर्भयता, ५ कीर्ति की चाह, ६ वैराग्य, ७ निस्पृहता, ८ मृदु वचन, ९ क्षमा, शान्ति, सहिष्णुता, १० परोपकार, और ११ उत्कटता। अब इन्हीं ग्यारह गुणों में से कुछ का विशेष विचार करना चाहिए।

जिसे नेता बनना है या लोक-सेवा करना है उसे किसी एक स्थान में न रहना चाहिए—समस्त देश में भ्रमण करना चाहिए। किसी भी गाँव अथवा नगर में प्रवेश करने के पहले उसे यह जान लेना चाहिए कि वहाँ देश-भक्त कौन है, देश-द्रोही कौन है, वाचाल कौन है, सच्चा काम करनेवाला कौन है, दांभिक और पाखंडी कौन है, सत्य आचरण वाला कौन है, एक फूटी कौड़ी के लिये कपने भाइयों की गर्दन पर छुरी चलानेवाला कौन है, इन्द्र

पद प्राप्त होने की पूर्ण आशा होने पर भी, देश का घात कभी न करनेवाला कौन है, इत्यादि। इन बातों का पता लगाकर फिर उस ग्राम में प्रवेश करना चाहिए। लोगों के असली हाल को जान लेने पर भी, यह भेद किसी को न बतलाकर, सबका सम्मान करना चाहिए और अवसर देखकर भ्रष्ट बुद्धिवाले लोगों को सज्जनता के द्वारा वश कर सन्मार्ग में लाने का प्रयत्न करना चाहिए। दुर्जन को दुर्जन कहने में कोई लाभ नहीं—उसे केवल पहिचान रखना चाहिए, और उस पर कपट-भाव न रखकर उसका उपकार तथा सुधार करने में कभी न चूकना चाहिए।

प्रयत्न-वाद और परिश्रम-शीलता की आवश्यकता तो संसार में सब के लिए है; परन्तु नेताओं के लिए अत्यन्त अधिक है। नेता के, अर्थात् बड़ी बड़ी ज़िम्मेदारी के कामों के सूत्रधार के, थोड़े से आलस्य से हज़ारों-लाखों मनुष्यों की अपार हानि हो सकती है। श्रीसमर्थ ने बतलाया है कि दैव का भरोसा करते हुए और उद्योग का त्याग कर हाथ पर हाथ धरे कभी न बैठे रहना चाहिए। उनका मत है कि राजा अथवा रङ्क होना, उत्तम अथवा अधम होना और सुखी अथवा दुःखी होना प्रारब्ध का परिणाम नहीं, किन्तु अपने गुणों और कार्यों का परिणाम है। उन्हों ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि प्रयत्न और परिश्रम किए बिना तथा कष्ट सहे बिना कोई फल नहीं मिलता, कष्ट के बिना राज्य नहीं हो सकता। उनका

मत है कि वह नेता नहीं है जो अपने पूर्वजों की केवल कीर्ति गाने में जीवन व्यतीत कर दे और स्वयं कुछ भी न करे।

नेताओं में वैराग्य का होना भी बड़ा आवश्यक है। इस गुण के अभाव में राष्ट्र के बड़े कार्य नहीं किये जा सकते। जो मनुष्य अपने स्त्री-पुत्रों में रातदिन व्यस्त रहता है वह संसार का कुछ भी भला नहीं कर सकता। अत्यधिक मोह-ममता और विषय-वासना के बंधन में रहने पर दूसरा कुछ काम नहीं हो सकता। लोकोपकार करनेवाले नेताओं को कुटुम्बी जनों की विपदावस्था और बीमारियों पर कभी कभी लापरवाही और दुर्लक्ष्य करना पड़ता है। स्वार्थ-त्याग किये बिना परोपकार हो सकना असंभव है। नेता के कार्यों से लोगों को यह मालूम हो जाना चाहिए कि यद्यपि वह सभी कार्य करता है, परन्तु वह सर्वत्र उपस्थित होकर भी कहीं नहीं है। यही सच्चा वैराग्य है।

जब तक नेता स्वयं निस्पृह न हो, तब तक वह देशहित का कोई कार्य नहीं कर सकता। नेताको देशहित में ही स्वहित समझना चाहिए। मनुष्य या तो स्वार्थ का साधन कर सकता है या परोपकार का। दोनों का साधन हो नहीं सकता। दोनों का साधन करते समय दोनों नष्ट हो जाते हैं और अपकीर्ति प्राप्त होती है। नेता को सामान्य लोगों की अवस्था से ऊपर रहना चाहिए। स्वार्थरहित मनुष्यों का जनता पर बड़ा दिव्य प्रभाव पड़ता है। ऐसे

मनुष्यों के एक एक शब्द पर सहस्रों रुपये बरसने लगते हैं; क्योंकि दरिद्र से दरिद्र लोगों को भी मालूम रहता है कि ऐसे सज्जन स्वयं अपने लिये कुछ नहीं करते—दूसरों का उपकार ही करते हैं। ध्यान रहे कि जो मनुष्य निस्पृह नहीं होगा उसे दूसरों के दुःख में दुःख और सुख में सुख नहीं होगा।

परोपकार के लिये सदैव तत्पर रहना सात्विकता का सूचक है। यही नेता का सर्वप्रधान गुण है। इस विषय का भेदभाव रखना अनुचित है कि अमुक का उपकार और अमुक का काम करना चाहिए। दूसरों को और विशेषतः दुर्जनों को भी आत्मवत् मानने पर, और अवसर पड़ने पर उनका उपकार करने से, आत्मिक शक्तियों का पूर्ण विकास होता है। दूसरे की विपत्ति के समय किसी भय अथवा असावधानी से मुँह छिपाना नेताओं का काम नहीं है। यदि नेता किसी की विपत्ति में सहायता करने दौड़ेगा, तो पचासों आदमी भी उसकी सहायता करने के लिये दौड़ जावेंगे और उस आपत्ति-ग्रसित मनुष्य का दुःख-भार हल्का हो जावेगा। इस तरह के कृत्यों से जन-समुदाय के सामने मनुष्यता का उज्ज्वल उदाहरण उपस्थित होगा और भ्रातृभाव का यथेष्ट प्रसार होगा।

स्वामी रामदास ने नेताओं में उत्कटता का होना परम आवश्यक बतलाया है। उत्कटता किसी कार्य में पूर्ण प्रवीण होने

को कहते हैं। जब तक मनुष्य किसी न किसी कार्य में पूर्णतया सिद्धहस्त न होगा, तब तक वह लोगों को अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकता। उत्कटता, प्रवीणता अथवा तल्लीनता किसी भी विषय में हो सकती है, जैसे भक्ति करने में, ज्ञान रखने में चतुर होने में, योग और निस्पृहता में, भजन-भाव में, देश-सेवा में, इत्यादि। इनमें से एक गुण भी जिस मनुष्य के पास हो वह लोगों को किसी महत्कार्य की ओर शीघ्र झुका सकता है। केवल सदिच्छा से धर्म और देश का भला कर सकना कठिन है—सद्गुण और सत्कार्य भी होना चाहिए। देश तथा धर्म की भलाई करने के लिए जिसके अंतःकरण में पवित्र इच्छा और आन्तरिक स्फूर्ति हो उसे स्मरण रखना चाहिए कि किसी न किसी विषय में दक्ष हुए बिना कीर्ति और इष्ट-सिद्धि नहीं होती।

इसके सिवा नेताओं के लिए और भी अन्य गुणों की आवश्यकता बतलाई गई है, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। विस्तार के भय से यहाँ उन सब का वर्णन नहीं किया जा सकता। इन सब आवश्यक गुणों की शिक्षा श्रीसमर्थ रामदास स्वामी ने अपने समय में हज़ारों शिष्यों को दी थी। ये ही शिष्य समाज के नेता बनकर, ईश्वर के दूत बनकर और लोकहित की मूर्त्ति बनकर जिस समय अपने धर्म और प्यारे स्वदेश का कल्याण कर रहे थे, उस समय की श्री-समृद्धि और सफलता का अनुमान

करना कोई कठिन बात नहीं है। स्वधर्म, स्वदेश और स्वबांधवों के हित के लिए प्रयत्न करनेवाले हमारे प्राचीन नेता का यही स्वरूप था।

स्मरण रहे कि नेता के उक्त सब आवश्यक गुणों में आध्यात्मिकता ही प्रधान सूत्र है। ये गुण जैसे सांसारिक मार्ग में, वैसे ही पारमार्थिक कामों में भी उपयोगी हैं। नेता चाहे समाज का हो, धर्म का हो, राजनीति का हो या व्यापार-व्यवसाय का हो; परन्तु जबतक उसमें आध्यात्मिकता के आधार पर—ईश्वर के अधिष्ठान पर—उक्त गुण का विकास न होगा, तबतक उसका आन्दोलन सफल न होगा। माना कि आन्दोलन में शक्ति है। रामदास स्वामी भी इस तत्व का समर्थन करते हैं। परन्तु उनका कथन स्पष्ट है:—

"जो कोई आन्दोलन करेगा उसमें शक्ति है; परन्तु उसमें ईश्वर का अधिष्ठान होना चाहिए"।

तात्पर्य यह है कि हमारे नेता अपने प्रत्येक कार्य और आन्दोलन में "ईश्वर के अधिष्ठान' का अनुभव करें। यही आध्यात्मिकता नेता का प्रधान और सर्वश्रेष्ठ गुण है।

❀ ❀ ❀

२१

समर्थ और शिवाजी

जिस समय श्रीरामदास स्वामी लोकोद्धार करने के लिए कृष्णा नदी के किनारे पहुँच चाफल में निवास करने लगे उस समय वहाँ पर सोमलनाथ नाम के तहसीलदार रहते थे। उन्होंने समर्थ की योग्यता जान कर उनसे मन्त्रोपदेश लिया। कुछ ही दिनों में वहाँ रामदासी सम्प्रदाय की बहुत प्रसिद्ध होने लगी। धीरे धीरे यह समाचार शिवाजी को मालूम हुआ। उस समय शिवाजी की राजसत्ता महाराष्ट्र में खूब बढ़ रही थी। उन्होंने रायगढ़ का क़िला बनवा कर वहाँ भवानी देवी की मूर्त्ति स्थापित की थी।

शिवाजी ने पूना को मुख्य स्थान बना कर नासिक से करवीर

तक का सारा प्रान्त और कोंकण का कुछ भाग जीत लिया था। यद्यपि इस प्रकार वे राज्य सम्पादन के कार्य में लगे थे, तो भी सन्त-समागम की उन्हें विशेष रुचि थी। बालपन से ही साधु और सन्तजनों के विषय में पूज्यभाव होने के कारण वे साधु-समागम के लिए सदा उत्कण्ठित रहते थे। वे अपना राज-काज करते हुए भी चिंचवड़, देहु, आलेन्दी आदि प्रसिद्ध स्थानों में साधु जनों के दर्शनों को बार बार जाया करते थे और उन का उपदेश श्रद्धा-युक्त अन्तःकरण से सुनते थे। जहाँ जहाँ हरि-भजन या कीर्तन होता था वहाँ वहाँ वे अवश्य जाते थे। उनकी माता जीजाबाई ने उन्हें बचपन से ही अपने सनातन-धर्म के शास्त्र, वेद, पुराण और वेदान्त आदि के गम्भीर तत्त्व और सिद्धान्त तथा शिक्षा-दायक कथाओं की शिक्षा दिलाई थी। इस लिए अपनी माता की शिक्षा और साधु-समागम के कारण उनके मन में अपने जीवन की सार्थकता के विषय में अनेक उच्च विचार भर गए थे। वे सदा इस बात का चिन्तन करते रहते थे कि जीवन की सार्थकता उत्तम रीति से कैसे की जाय। उन्होंने एक बार सुप्रसिद्ध साधु तुकाराम बाबा से मन्त्रोपदेश की प्रार्थना की थी, पर उन्होंने शिवाजी को श्रीरामदास स्वामी की शरण में जाने की आज्ञा दी। इस प्रकार मन की मुमुक्षु अवस्था में जब शिवाजी ने श्रीसमर्थ की साधु कीर्ति सुनी, तब उन्हें उनके दर्शन की बहुत अभिलाषा हुई। इस लिए

उन्होंने श्रीसमर्थ को एक पत्र भेज अपनी राजधानी में बुलाया। परन्तु समर्थ वहाँ नहीं गए। उन्हों ने शिवाजी के पत्र का उत्तर भेज दिया।

जिस पत्र का उल्लेख किया गया है, वह इतिहास की दृष्टि से बहुत महत्त्व का है। उस में शिवाजी को समर्थ ने जो उपदेश किया है वह ध्यान में रखने योग्य है। इसलिए उस पत्र के कुछ अंश का भावार्थ यहाँ देना आवश्यक है। समर्थ शिवाजी को लिखते हैं—इस समय भूमण्डल में ऐसा कोई नहीं है जो धर्म की रक्षा करे। महाराष्ट्र-धर्म तुम्हारे ही कारण बचा है। जहाँ जो कुछ थोड़ा बहुत धर्म देख पड़ता है और साधु जनों की रक्षा हो रही है, वह सब तुम्हारे ही कारण बचा है। तुम धन्य हो। तुम ने दुष्ट जनों का संहार किया है। वे लोग तुम से डरते हैं। बहुतेरे जन तुम्हारे आश्रय में रहने लगे हैं। अब तुम को धर्म-स्थापन का काम सँभालना चाहिए। यह बात सच है कि तुम को राज-काज बहुत करना पड़ता है, जिस से चित्त-वृत्ति व्यग्र हो जाती है। ऐसी दशा में राजा और मन्त्री का विचार एक होना चाहिए। यदि एकता न होगी तो कार्य-नाश होगा। सब लोगों को राज़ी रखना, भले-बुरे की खूब जाँच करना, न्याय और नीति का कदापि त्याग न करना, लालच में कभी न फँसना, सदा सावधान रहना। हमारा बोलना स्पष्ट है, इस लिए क्रोध न आने देना। जो कुछ हमने कहा है

उसे उचित रीति से श्रवण करना हो तो हमारे बतलाये हुए मार्ग को स्वीकार करो। श्रीरामचन्द्र जी कृपा करेंगे, तुम्हारा कार्य सिद्ध होगा, तुम्हारे सारे मनोरथ पूर्ण होंगे। इस विषय में सन्देह बिलकुल मत करना।

समर्थ का पत्र पढ़ कर शिवाजी के धार्मिक और निष्ठायुक्त अन्तःकरण में श्री रामदास स्वामी के दर्शन की उत्कण्ठा और भी तीव्र हो गई। तब वे अपने संग कुछ आदमी ले कर समर्थ के दर्शन को चाफल गये। परन्तु समर्थ का दर्शन न हुआ, क्योंकि वे एक स्थान में न रह कर चाफल के आस पास कृष्णा नदी के किनारे जङ्गल, दरी और खोरियों में विचरते रहते थे। महीपति ने अपने "सन्त-विजय" में लिखा है कि इस प्रकार शिवाजी महाराज को कई बार निराश होना पड़ा, तो भी उन्होंने यत्न करना न छोड़ा। अन्त में एक दिन वे यह निश्चय कर के घर से निकले कि जब तक समर्थ का दर्शन न होगा और उन का प्रसाद न मिलेगा, तब तक भोजन न करूँगा। इस तरह दृढ़ निश्चय कर के समर्थ का पता लगाते हुए चाफल के जंगलों में भटकते भटकते जब शिवाजी बहुत विह्वल और आर्त्त हो गये, तब समर्थ के शिष्य-द्वारा उन्हें पता लगा कि समर्थ खड़ो के बाग़ में हैं। शिवाजी ने वहाँ जाकर दर्शन किया। दोनों की प्रेम-पूर्वक वार्ता हुई। शकाब्द १५७१ वैशाख शुक्ल गुरुवार के दिन समर्थ ने शिवाजी को मन्त्रो-

पदेश दिया और "दासबोध" के तेरहवें दर्शक का "लघुबोध" नामक छठवाँ समास अद्वैत ज्ञान बताने के लिए सुनाया।

यह बात ऊपर कही गई है कि समर्थ एक स्थान में बहुत समय तक नहीं रहते थे। कभी चाफल के मठ में रहते थे, कभी कृष्णा नदी के किनारे पर वन-पर्वतों की झाड़ियों में रहते थे। इस कारण शिवाजी अपने गुरु का दर्शन नित्य नियमपूर्वक नहीं कर सकते थे। उनकी यह इच्छा थी कि समर्थ मेरे समीप किसी स्थान में रहें तो नित्य समागम का लाभ हो। उन्होंने कई बार प्रार्थना भी की, पर समर्थ ने विशेष ध्यान नहीं दिया।

तब शिवाजी ने एक पत्र भेजा जिस में भिन्न भिन्न अनेक प्रसङ्गों का उल्लेख था। यह पत्र शिवाजी और समर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध का ऐतिहासिक प्रमाण है। इस पत्र से जो बातें प्रकट होती हैं, उनका कुछ सारांश नीचे दिया जाता है। इस पत्र के पढ़ने वाले स्वयं निश्चय कर लेंगे कि समर्थ और शिवाजी का कैसा घनिष्ट सम्बन्ध था। श्रीसमर्थ ने शिवाजी को मन्त्रोपदेश देकर यह आज्ञा दी थी कि तुम्हारा मुख्य धर्म राज्य-सम्पादन करके धर्म स्थापित करना, देव और ब्राह्मणों की सेवा करना, प्रजा की पीड़ा दूर करके उसका पालन और रक्षा करना है। उसी समय समर्थ ने यह आशीर्वाद भी दिया था कि तुम्हारे मन में जो इच्छा होगी, वह सब पूर्ण होगी। समर्थ की आज्ञा के अनुसार शिवाजी

ने राज्य-सम्पादन का जो उद्योग किया, वह सफल हुआ। शिवाजी का यह दृढ़ विश्वास था कि दुष्ट, दुरात्मा जनों का नाश और विपुल द्रव्य-प्राप्ति श्री गुरुचरणों के प्रताप का फल है। ऐसे समर्थ सद्गुरु रामदास स्वामी के चरण-कमलों में अपना सारा राज्य अर्पण करके शिवाजी ने यह इच्छा भी की थी कि नित्य गुरुचरणों की सेवा करने का अवसर मिलना चाहिए। उस समय भी समर्थ ने यही कहा कि हमारे पहिले बताए धर्म के अनुसार बर्ताव करना ही सेवकाई है। इसके बाद शिवाजी ने यह प्रार्थना की कि स्वामी किसी निकट के स्थान में रहें तो बार बार दर्शन का लाभ होगा, और किसी स्थान में श्रीराम की मूर्ति स्थापित करके मठ का प्रबन्ध किया जाय तो सम्प्रदाय की वृद्धि होगी। इसके अनुसार समर्थ ने चाफल में श्रीराम की स्थापना तो की, परन्तु स्वयं आस पास के गह्वरों में ही रहा करते थे। इसके बाद शिवाजी ने यह प्रार्थना की—

श्री राम की पूजा महोत्सव आदि धर्म-कृत्य साङ्गोपांग करने के लिए कितने गाँव नियत किए जायँ, सो आज्ञा दीजिए। इस पर समर्थ ने कहा किसी विशेष उपाधि की आवश्यकता नहीं है। यदि श्रीराम की सेवा करने का तुम्हारा निश्चय ही है तो यथावकाश जो कुछ नियत करने की इच्छा हो, सो करो। तब शिवाजी ने श्री समर्थ-सम्प्रदाय की सेवा करने के हेतु गाँव और भूमि-दान की सनद लिख कर समर्थ को भेज दी और यह निवेदन किया कि

श्रीराम का उत्सव सदा करते रहने की मुझे आज्ञा दीजिए।

शिवाजी का बहुत आग्रह देख कर समर्थ सातारा के पास सज्जनगढ़ के किले में रहने लगे। शिवाजी ने वहाँ एक मठ बनवा दिया। शिवाजी और समर्थ के सम्बन्ध में जितनी बातें लिखी जायँ, सब थोड़ी ही होंगी। अब सिर्फ और दो तीन बातों का उल्लेख कर के यह विषय समाप्त करेंगे।

एक दिन समर्थ माहुली सङ्गम में स्नान-सन्ध्या कर के भिक्षा माँगते हुए सातारा में शिवाजी के महल में गये और 'जय जय श्री रघुवीर समर्थ' की गर्जना कर के भिक्षा माँगी। समर्थ की वाणी सुनते ही शिवाजी का हृदय गद्‌गद् हो गया। वे विचार करने लगे कि ऐसे सत्पात्र सद्‌गुरु की झोली में क्या भिक्षा डाली जाय। तुरन्त ही उन्हों ने एक कागज़ में यह लिखा कि—'श्री समर्थ के चरणों में सब राज्य अर्पण कर दिया है।' समर्थ ने शिवाजी से पूछा—क्यों शिवा, राज्य तो तुमने हमको दे दिया, अब तुम क्या करोगे? शिवाजी ने हाथ जोड़ कर विनती की कि आपकी चरण-सेवा में रह कर समय व्यतीत करूँगा। यह सुनकर समर्थ हँसे। उन्होंने कहा—बाबा, जो जिस का काम है, वह उसी को करना उचित है। ब्राह्मणों को जप-तप कर के ज्ञान-सम्पादन करना चाहिए और क्षत्रियों को क्षात्र-धर्म का पालन करना चाहिए। इस प्रकार अपना अपना कर्तव्य करते रहने ही से मोक्ष-

प्राप्ति होती है। अपना कर्म यथोचित रीति से करने में ही जन्म की सार्थकता है। पूर्व समय में रामचन्द्र जी ने भी अपने कुलगुरु (वसिष्ठ) को आधा राज्य अर्पण कर दिया था। उस समय वसिष्ठ जी ने श्रीराम को योगवासिष्ठ रूप से नीति, न्याय और धर्म का उपदेश किया और उनका राज्य उन्हें लौटा दिया। राजा जनक ने भी याज्ञवल्क्य को राज्य अर्पण कर दिया था। उस समय उन्होंने जनक को राजधर्म का उपदेश किया। शिवा, हम वैरागियों को राज्य की क्या ज़रूरत है ? कदाचित् हमने अंगीकार किया, तो उसके सम्भालने के लिए प्रधान की ज़रूरत होगी। प्रधान तू ही बन और राज्य हमारा समझ कर उसका प्रबन्ध कर। यह उपदेश सुनते ही शिवाजी का अन्तःकरण गद्गद हो गया।

जब शिवाजी ने समझा कि अब बिना राज्य वापस लिए और उपाय नहीं है, तब उन्होंने समर्थ से कहा—अब कृपा-पूर्वक आप अपनी पादुकाएँ मुझे दीजिए। उन्हीं को स्थापन कर के मैं आपके मंत्री की तरह राज-काज करूँगा। समर्थ ने यह प्रार्थना स्वीकार की। उसी समय से शिवाजी महाराज ने अपने राज्य की निशानी, अर्थात् झण्डा भी भगवे रंग का कर दिया। मराठों का 'भगवा झण्डा' इतिहास में प्रसिद्ध ही है। शिवाजी महाराज जब सामन्तगढ़ का क़िला बनवा रहे थे, तब

एक दिन किले में लगे हुए सैकड़ों आदमियों को देख कर उनके मन में यह विचार आया कि मैं इतने मनुष्यों का पालन कर सकता हूँ, इस लिए मुझे धन्य है। इस विचार के साथ ही साथ शिवाजी के मन में एक प्रकार का अभिमान भी आ गया। इतने में ही अकस्मात् समर्थ वहाँ आ पहुँचे। उन्हें देख कर शिवाजी ने दण्डवत् प्रणाम किया और अकस्मात् पधारने का कारण पूछा। समर्थ ने कहा कि तू श्रीमान् है। हज़ारों मनुष्यों का पालन करता है। इस लिए मैं तेरा कारख़ाना देखने आया हूँ। शिवाजी ने कहा कि यह सब आपकी ही कृपा का फल है। इस प्रकार वार्तालाप करते हुए समर्थ की दृष्टि समीप पड़े हुए एक पत्थर की ओर गई। इस पत्थर को देखकर समर्थ ने कहा कि इस पत्थर को बेलदार से अभी तुड़वा डालो। शिवाजी की आज्ञा पाकर सब बेलदार उस पत्थर को तोड़ने लगे। समर्थ ने कहा—"इस में धक्का न लगने पावे और दो टुकड़े बराबर करो।" पत्थर के दो टुकड़े होते ही भीतर के पोले भाग से कुछ पानी और एक जीवित मेंडकी निकल पड़ी। यह चमत्कार देख कर सब को परम आश्चर्य हुआ। समर्थ ने कहा—'शिवा, तुम्हारी योग्यता बहुत बड़ी है, और तुम्हारी लीला अगाध है। देखो ऐसी आश्चर्यकारक बात किससे हो सकती है?' शिवाजी ने कहा—'इसमें मेरा क्या है?' समर्थ ने कहा—क्यों नहीं? तुम्हारे सिवा और कर्ता कौन है?

तुम्हारे बिना जीवों का पालन और कौन कर सकता है? शिवाजी महाराज अपने मन में समझ गए, और बोले—मुझ पामर से कुछ नहीं हो सकता। इस दास को क्षमा कीजिए। समर्थ ने कहा—मैं क्षमा करने के लिए ही यहाँ इस समय आया हूँ। परन्तु इतना बता देना आवश्यक है कि भैया, तुम उस सरकार (श्रीराम) के बड़े नौकर हो। तुम्हारे हाथ से वह औरों को देता है, इतनी बात से तुम्हें इस प्रकार का अभिमान कभी न करना चाहिए। यह सुन कर शिवाजी महाराज को बड़ा पश्चात्ताप हुआ और उन्होंने समर्थ के चरणों पर गिर बार बार क्षमा माँगी।

एक दिन सज्जनगढ़ में भोजन के बाद समर्थ शिष्य-मण्डली के प्रश्नों का उत्तर देते हुए आसन पर बैठे थे। इतने में सहज ही उन्हें अपने शरीर पर एक चट्टा उठा हुआ देख पड़ा। उस देख कर समर्थ को स्मरण हुआ कि हमारी माता ने हमारे लिए देवी जी को सोने के पुष्प अर्पण करने का संकल्प किया था, वह संकल्प पूरा नहीं हुआ। अतएव प्रतापगढ़ को, जहाँ शिवा जी ने देवी की स्थापना की थी, समर्थ स्वर्ण-पुष्प अर्पण करने को गए। वहाँ समर्थ ने देवी जी की जो स्तुति की उस में उनके आत्म-चरित्र का भी कुछ उल्लेख है। अन्तिम चार पद्यों में शिवाजी के सम्बन्ध में जो प्रार्थना की है, वह ध्यान में रखने योग्य है। उसका भावार्थ यह है—'हे माता, मेरी सिर्फ एक प्रार्थना है। यदि वरदान

देना है, तो यही वरदान दे कि जिसका तू अभिमान रखती है, और जो तेरा सर्वस्व है, उस शिवाजी की रक्षा कर। उसको हमारे देखते देखते वैभव के शिखर पर चढ़ादे। मैंने सुना है कि आज तक तूने अनेक दुष्टों का संहार किया है, परन्तु अब इस समय उस बात की प्रतीति मुझे करा दे। सब देवगण हम सब लोगों को भूल से गये हैं। तू अब हम लोगों के सत्त्व की कितनी परीक्षा लेगी! हे देवि, तू अपने भक्तों का मनोरथ शीघ्र पूर्ण कर। मैं अत्यन्त आतुर हो गया हूँ, इसलिए क्षमा कर और मेरी इच्छा सफल कर'। धन्य है शिवाजी महाराज को, जिनकी ऐश्वर्य-वृद्धि के लिए उनके सद्गुरु समर्थ देव इस तरह प्रार्थना करते हैं। इससे बढ़कर और कौन बात समर्थ और शिवाजी के पारस्परिक सम्बध में लिखी जाय? जिस महत् कार्य के लिए श्रीरामदास स्वामी ने अपना सारा पुण्य खर्च किया, अपना सारा सामर्थ्य लगाया, उसे उनके इच्छानुसार श्रीरामचन्द्र जी महाराज ने पूरा किया, यह बात सिंहावलोकन से प्रकट हो जायगी।

माधवराव सप्रे

२२

विलायती समाचार-पत्रों का इतिहास

लेखक —श्रीयुत प्यारेलाल मिश्र, बारिस्टर-एट-ला

[आप छिन्दवाड़ा में बैरिस्टरी करते थे। कुछ वर्ष हुए आपका देहान्त हो गया। आपकी शैली बड़ी ही सरल और स्वाभाविक है। आप छोटे छोटे वाक्य लिखते हैं। श्री० महावीर प्रसाद द्विवेदी आपकी लेखन-शैली की बहुत प्रशंसा किया करते हैं।]

टाइम्स के बाद दूसरा इज़्ज़तदार दैनिक "डेलीटेलीग्राफ़" समझा जाता है। इसका डील डौल टाइम्स से कुछ बड़ा है। इसमें सदैव २० पृष्ठ रहते हैं। इसका काग़ज़ टाइम्स से कुछ हलका पर मोटा रहता है। छपाई अच्छी रहती है। ग्राहक-संख्या में यह टाइम्स से बढ़ कर है। इसकी दैनिक बिक्री अनुमान तीन लाख है। इसके

लेख किसी किसी के विचार में टाइम्स से भी पुख्ता और प्रभावशाली समझे जाते हैं। इसका निकलना सन् १८५५ ई० से आरम्भ हुआ। कुछ काल तक इसकी दशा बुरी रही। पहले पहल यह एक ही ताव पर छपता था। टेक्स के मारे यह और भी पनप नहीं पाया। कर्नल स्ले ने, जो इसके जन्मदाता थे, इसे हरा भरा रखने के बहुत यत्न किये। पर पीछे इसके अच्छे दिन आये। अख़बारों का टेक्स रद् हुआ। टेलीग्राफ़ ने भी अपना मूल्य दो आने से एक आना कर दिया। मूल्य घटते ही इसने अपना आकार बढ़ाया और होनहार समझ कर कई लोग आर्थिक सहायता देने को आगे आये। आज कल इसके स्वामी लार्ड बर्नहम हैं, जो सन् १९०९ वाली इम्पीरियल प्रेस कानफ़रेन्स के अध्यक्ष चुने गये थे। इसका दफ्तर फ्लीट स्ट्रीट में आसमान से बातें करता है। इस पर लोगों का असीम प्रेम है। वे इसके बिना नहीं रह सकते। चाहे टेम्स नदी का बहना बन्द हो जाय, पर टेलीग्राफ़ का बन्द होना उन्हें मंजूर नहीं। सन् १८८६ ई० तक यह पत्र लिबरल (उदार) रहा; बाद टोरी (अनुदार) दल में जा घुसा। पार्लीमेण्ट की विस्तापूर्वक रिपोर्ट टाइम्स के बाद टेलीग्राफ़ ही में प्रकाशित होती है। इसके सम्पादकों तथा लेखकों की गणना बड़े विद्वान् और विख्यात पुरुषों में से है—जैसे सर एडविन आरनल्ड, एडवर्ड डाइसी, मैथ्यु आरनल्ड, आगस्टस साला, सर

कानन डायल, मि० सर चर्चहिल इत्यादि। मि० सर चर्चहिल दक्षिण अफ़्रीका के युद्ध में टेलीग्राफ़ के सैनिक संवाद दाता थे। इसके स्थायी सैनिक सम्पादक मिस्टर बैनेट बर्ले हैं। इन्होंने अनेक रणक्षेत्र देखे हैं। आप स्काटलैंड-निवासी एक बढ़ई के पुत्र हैं। आपका स्वास्थ्य बहुत अच्छा है। आप सदैव प्रसन्न मुख रहते हैं। आयु आपकी ५५ वर्ष की है। विद्या और परिश्रम ने इन्हें इस उच्च पद पर पहुँचाया है। टेलीग्राफ़ के मुख्य प्रबन्धकर्ता मिस्टर रोज हैं। इनका भी टेलीग्राफ़ से पुराना सम्बन्ध है। ये टेलीग्राफ़ के मुख्य स्तम्भ माने जाते हैं। टेलीग्राफ़ की उन्नति का विशेषांश आप ही के उद्योग की बदौलत है। हैं मैनेजर, पर समय पड़ने पर आप सम्पादकी भी करते हैं। युद्धों में सैनिक संवाद-दाताओं का कार्य्य-भार आपही के ज़िम्मे रहता है। आप स्वयं जा कर समाचार भेजने का प्रबन्ध करते हैं।

विलायती समाचार-पत्रों में बड़ा ज़ोर है। वे भले को बुरा और बुरे को भला बना सकते हैं। उनकी क़लम में ऐसी शक्ति है कि वह महाभारत करा सकती है, और यदि चाहे तो शान्ति भी स्थापन कर सकती है। उससे देश का बड़ा उपकार भी हो सकता है। दक्षिण अफ्रीका के युद्ध समय टेलीग्राफ़ ने विधवाओं और अनाथ बालकों के लिए जो अपील की थी उस से ४० लाख रुपया इकट्ठा हुआ था। लन्दन के कई अस्पतालों को भी टेलीग्राफ़ द्वारा

अनुमान ६ लाख रुपया सहायतार्थ मिला। इसी तरह समय समय पर उस की अपीलें देशहितार्थ हुआ करती हैं। टेलीग्राफ़ को विज्ञापन द्वार जितनी आमदनी है उतनी और किसी पत्र को नहीं। इसके ६५ से ७५ कालम केवल विज्ञपनों से भरे रहते हैं, जिससे इसकी दैनिक आमदनी कम से कम पाँच हज़ार रुपए है। ग्राहक संख्या से जो आमदनी है वह अलग है। टेलीग्राफ़ में हर तरह के विज्ञापन छपते हैं—विशेष कर किराए के मकानों के। इसी से लोग बतौर हँसी के इसे लैण्ड लेडीज़ पेपर (Land-ladies' paper) कहते हैं। लैण्ड-लेडी का सीधा मतलब किराए से मकान चलाने वाली स्त्रियाँ हैं। कई लोग हँसी में इन्हें भटियारिन कहते हैं। भटियारिन इस कारण कहते हैं कि वे सिवा मकान किराए पर देने के भाड़े वालों को भोजनादि भी देती हैं। टेलिग्राफ़ के विज्ञापन पायोनियर की भाँति मोटे दूर दूर अक्षरों में नहीं छपते। उनके अक्षर बहुत छोटे और लकीरें बहुत निकट निकट रहती हैं। विज्ञापन-छपाई विलायत में बहुत महँगी है। एक अमेरिकन ने लन्दन में एक बड़ी दूकान खोली। उसकी प्रख्याति के लिए उसने कई दैनिक पत्रों में विज्ञापन छपाए। इन में से दो चार प्रसिद्ध दैनिक पत्रों में पूरे एक सफे में दूकान का विज्ञापन छपाया, जिस की छपाई एक हज़ार रुपए रोज़ पड़ी। इस प्रकार एक सप्ताह तक रोज़ विज्ञापन निकले। इस पर से वहाँ के अखबारों की आमदनी और

दूकानदारों के ख़र्च का अन्दाज़ा किया जा सकता है। पर इस थोड़े से ख़र्च के कारण आज उस दूकान की आमदनी सहस्रों रुपये रोज़ की है। लार्ड बर्नहम के निकटवर्ती रिश्तेदार मिस्टर हैरी लासन, टेलिग्राफ़ के सुपरिण्टेण्डेण्ट हैं। याने देख रेख का कुल भार इन्हीं पर है। लासन साहेब को इस विषय का अनुभव भी अच्छा है। वे सम्पादक भी रह चुके हैं। सर्व साधारण में उनकी इज्ज़त अच्छी है। टोरी पत्र से सम्बन्ध रखने पर भी सब दलों के लोग उनसे प्रसन्न रहते हैं। सन् १९०९ के सम्पादक-सम्मेलन के समय दोनों दलों ने उन्हें अपना मुख्य प्रतिनिधि चुना था।

२३

लन्दन के पार्क

लन्दन दुनिया में एक अद्भुत नगर है। अतएव इसकी कुल बातें भी अद्भुत हैं। इस विशाल नगर में छोटे बड़े सौ से अधिक पार्क हैं, जिनका कुल रक़बा आठ हज़ार एकड़ से अधिक है, और जिनकी मरम्मत वग़ैरह के लिए सालाना दो लाख पौंड याने ३० लाख रुपया कौंटी कौंसिल अर्थात् म्यूनिसीपेलेटी ख़र्च करती है। यदि ये पार्क इस नगर में न हों तो मनुष्य को साँस लेना कठिन हो जाय। यहाँ यदि आराम, खेल-कूद वग़ैरह के कोई स्थान हैं तो यही पार्क हैं। कलकत्ते का ईडन गार्डन और जयपुर का रामबाग़ यहाँ के छोटे छोटे पार्क के मुक़ाबिले में कुछ नहीं हैं।

फिर लखनऊ, कानपुर, और बनारस के पार्क तो कोई चीज़ ही नहीं; उन्हें तो पार्क कहना ही अन्याय है। यहाँ सब से सुन्दर और सुहावने चार पाँच पार्क हैं। हाइड पार्क सब का शिरोमणि है। इसका रक़बा ६३८ एकड़ है। बाद इसके रीजैण्ट्स पार्क, सेंट जेम्स पार्क और फ़िन्सबरी पार्क हैं। परन्तु इन सब का रक़बा १०० एकड़ से भी कम है। पार्कस का पूरा वर्णन करना कठिन है। उन पर एक पोथी लिखी जा सकती है।

पार्क एक उच्च श्रेणीके बाग़ को कहते हैं। परन्तु बाग़ और पार्क में जो भेद है वह आगे मालूम होगा। हर एक पार्क के चारों ओर लोहे के खंभों में तार खिंचे है। मौक़े मौक़े पर .खूबसूरत फाटक बने हैं जिनमें से गाड़ी वग़ैरह आसानी से आ जा सकती है। फाटक में तीन दर्वाज़े होते हैं। बीच वाला दर्वाज़ा बग्घी आदि के लिए और बाजू वाले पैदल आने जाने वालों के लिये हैं। ये दर्वाज़े कुछ तंग होते हैं। हर एक पर "बाहर जाने का रास्ता" और "अन्दर आने का रास्ता" बड़े बड़े मोटे अक्षरों में लिखा रहता है। दर्वाज़े पर पुलिस या कौंटी कौंसिल का चपरासी देख रेख के लिए खड़ा रहता है। आने जाने वाले चुपचाप अपने अपने रास्तों से बिना कहे निकलते या घुसते चले जाते हैं। फाटक पर पार्क खुलने या बन्द होने का समय लिखा रहता है। जाड़ों में, जल्द दिन डूबने से, क़रीब सवा पाँच बजे

पार्क बन्द हो जाते हैं। कोई कोई कुछ देर के बाद बन्द होते हैं। पर हाइड पार्क सब रात खुला रहता है। बन्द करने के पहले पुलिसवाले जगह जगह से घंटी बजाते हैं, जिन्हें सुन कर लोग तुरन्त बाहर निकलने लगते हैं। बहुत से तो बजने के पहले ही लौट पड़ते हैं।

हर एक पार्क में दो प्रकार के रास्ते बने रहते हैं—एक पैदल चलने वालों के लिए, दूसरा .खूब चौड़ा गाड़ी वग़ैरह के लिए। किसी किसी पार्क में पैदल चलने वालों के रास्ते, जिन्हें "फ़ुट-पाथ" कहते हैं, पक्के चूने के बने रहते हैं। यह बात यहाँ केवल फिन्सबरी पार्क में है। अन्दर लेडियों और जैनटलमैनों के लिए अलग अलग बहुत साफ़ पाख़ाने, पेशाबघर जगह जगह बने हैं, जिनमें सफ़ाई का ऐसा उत्तम प्रबन्ध है कि बदबू का नामों-निशान तक नहीं। जगह जगह नल लगे हुए हैं जो आपही आप, या इशारा करते ही, खुल पड़ते हैं और सब मल-मूत्र उसी दम बहा देते हैं। एक साहब मेहतर बैठा रहता है जो इसकी देख-भाल करता है। लेडियों के लिए लेडी मेहतरानी रहती है। परन्तु लेडियों और जेण्टलमैनों के पाख़ानों और पेशाबघरों के अलग नाम होते हैं। जिस जगह "क्लोक रूम" लिखा हो वह लेडी वाला समझो, जहाँ "लवेटरी" हो वह जैन्टलमैनों वाला। इनके विषय में कलकत्ता कार्पोरेशन के भूतपूर्व सेक्रेटरी ने

हम से एक दिन कहा कि कलकत्ते जैसे शहर में भी यह बात नहीं है।

पार्क के अलग अलग स्थानों में पानी पीने को नल लगे हैं। इन नलों के खम्भे बड़े सुन्दर बने हैं। हर एक नल पर दो या चार छोटे छोटे कटोरे लोहे की ज़ञ्जीर से बँधे पड़े रहते हैं, जिनसे जिसकी तबीयत चाहे पानी पीता जाय। पानी सदैव बहता रहता है। बीच बीच में बड़े बड़े लम्बे चौड़े हरी दूब से ढँके हुए खेतनुमा खूबसूरत टुकड़े छूटे हुए हैं, जिन पर लोग बैठे या लेटे हुए दिखाई देते हैं। बैठने को पार्क भर में बेंचें पड़ी रहती हैं। घास बड़ी नहीं होने पाती, बराबर समय समय पर काट दी जाती है। तरह तरह के फूल और पौधे आदि अलग अलग क्यारियों में लगे हुए बड़े प्यारे लगते हैं। परन्तु यहाँ के फूल सुवास में बड़े मन्द होते हैं।

कुल पार्क बहुत साफ़ रक्खा जाता है, कूड़ा कचड़ा लेश मात्र को भी नहीं रहने पाता। बहुत से नौकर इसी काम पर नियत हैं। जगह जगह रद्दी काग़ज़ वग़ैरह डालने के लिए लोहे की टोकरियाँ लटकी रहती हैं, जिन पर "रद्दी काग़ज़" लिखा रहता है। कोई ग़लती से काग़ज़ यहाँ वहाँ डाल दे तो नौकर उसी दम उसे उठा लेते हैं। ये लोग हाथ में गज़ डेढ़ गज़ लम्बा लोहे का नुकीला पतला टुकड़ा लिये फिरा करते हैं। जहाँ कोई काग़ज़ का टुकड़ा देखा झट उसकी नोक से उठा लेते हैं। वृक्षों

के पत्ते इसी भाँति उठा लिये जाते हैं। ग़रज़ यह कि सफ़ाई हद दर्जे की रहती है, यहाँ तक कि लोग थूकने नहीं पाते। यदि उन्हें ऐसा ही करना है तो अपने रूमालों में करें। यथार्थ में थूकने को सभी जगह मुमानियत है। सिवा मज़दूर और गँवारों के रास्तों वग़ैरह पर कोई नहीं थूकता। ऐसा करना बुरा और असभ्य समझा जाता है। कहीं कंकड़-पत्थर पड़ा हो तो वह भी बीन कर एक तरफ़ रख दिया जाता है। पुराना सूखा वृक्ष फ़ौरन उखाड़ दिया जाता है। बेंचें, कुरसियाँ इत्यादि बे-मरम्मत की हुई नहीं रहने पातीं। सड़कों की मरम्मत हमेशा हुआ करती है।

स्कूल के लड़के-लड़कियों के अखाड़े बने हैं, जहाँ झूला, पैरेलल बार सब मौजूद हैं। सब को मुफ्त खेलने-कूदने देते हैं। परन्तु यह सुभीता केवल एक ही दो पार्क में देखा है। लेडियों और जेण्टलमैनों के लिए टेनिस, क्रिकेट, फ़ुटबाल, हाकी खेलने की अलग जगहें हैं। इन पर भी कोई चार्ज, टेक्स या महसूल नहीं देना पड़ता है। गर्मी में लोग बूढ़े बारे सभी पतङ्गें उड़ाते हैं। बीच में एक छोटी-सी नहर बनी रहती है, जिसे लोग 'झील' कहते हैं। यह कहीं कहीं उथली, कहीं कहीं गहरी होती है। हाइड पार्क वाली झील सब से बड़ी और गहरी है। साँप के आकार की लहरियों दार बनी है। दूसरे पार्कों में एक छोटा सा टापू बीच में रहता है और आस पास उसके नहर रहती है। नहर

का पानी स्वच्छ रहता है और समय समय पर बदल दिया जाता है। यह पानी नलों द्वारा आता जाता है। इन नहरों में दस बीस पचास छोटी छोटी किश्तियाँ पड़ी रहती हैं जो फ़ी घंटे अमुक किराये पर सैर करने के लिए लोग घुमाते फिरते हैं।

इनका किराया कहीं एक आना, कहीं दो तीन आने घंटा है। एक एक में चार छः नौजवान लेडी-जेण्टलमैन बैठ कर हवा खाते फिरते हैं। नावों को वे स्वयं चलाते हैं। किश्ती खड़ी होने की जगह घड़ी लगी रहती है, जिसे देख कर लोग अपना समय पूरा हो जाने पर बाहर आ जाते हैं।

जलाशय के किनारे, क़तार में पीठदार बेंचें पड़ी रहती हैं, जिन पर स्त्री-पुरुष बैठे झील की बहार देखा करते हैं। कोई कोई अपने छोटे छोटे बच्चों को सुन्दर गाड़ियों में रक्खे चारों ओर स्वच्छ हवा खिलाते फिरते हैं। एक आध शौक़ीन लेडी या जेण्टलमैन ज़ंजीर से बँधा हुआ कुत्ता लिये घूमता है। उधर कुछ दूर चल कर बैण्ड बाजा बजता है, जहाँ सैकड़ों नर-नारियाँ बड़े चाव से बाजा सुनते हैं। बैण्ड के आस पास कुर्सियाँ पड़ी रहती हैं। जिसे इन पर बैठने की इच्छा हो एक आना देकर बैठ सकता है। साथ ही उसके जो गीत गाया जाता है उसका एक छपा हुआ परचा मिलता है। जो पैसा नहीं देना चाहते वे दूर खड़े रह कर सुनते हैं। बहुत सा रुपया इस प्रकार इकट्ठा हो जाता

है। हाइड पार्क में बैंड से बाहर पड़ी हुई कुर्सियों पर बैठने वालों को भी एक आना देना पड़ता है। इस लिए वहाँ और भी अधिक रुपया इकट्ठा हो जाता है। पैसा बटोरने को पार्क वाले नौकर चमड़े की थैलियाँ टाँगे फिरा करते हैं। खाने-पीने का भी यहाँ आराम रहता है। बीच में एक अच्छा घर बना है, जहाँ जिसे जो खाना-पीना हो पैसा देकर खावे पीवे।

हर इतवार को प्रायः प्रत्येक पार्क में खूब लेकचर बाज़ी उड़ती है। बड़ी धूम होती है। अच्छा आनन्द आता है। उस दिन सुबह से शाम तक सारा पार्क लेडियों और जेण्टलमैनों से लबालब भर जाता है। उस दिन सभी को फ़ुरसत रहती है। सब लोग तरह तरह की पोशाकें पहन कर आते हैं। इतवार को स्त्री-पुरुष यहाँ ख़ास पोशाक पहनते हैं, जो देखने में बहुत भव्य मालूम होती है। उस दिन सब अपने कपड़े बदलते हैं। आज की पोशाक को "इतवार की पोशाक" कहते हैं। लेकचर के लिए ख़ास ख़ास मौक़े होते हैं जहाँ जिसका जी चाहे लेकचर दे। जिसे अपने लेकचर द्वारा कुछ चन्दा इकट्ठा करना हो उसे कौंटी-कौंसिल की आज्ञा लेनी पड़ती है; परन्तु कोई महसूल नहीं देना पड़ता। ऐसी आज्ञा दो चार हफ़्ते अथवा अधिक समय के लिए दी जा सकती है। उतना समय हो जाने पर फिर माँग ली जाती है। इन लेक-चरों में बड़ा मज़ा आता है। अपना अपना गिरोह अपनी मेज़-

कुरसी (या जिसे प्लेटफ़ार्म कहते हैं) लिए व्याख्यान अर्थात् लेकचर देता दिखाई देता है। यह प्लेटफ़ार्म छोटा सा लकड़ी का ढाँचा होता है जिसमें एक स्टूल या मोढ़ा लगा रहता है। मोढ़े के आगे दो टाँगें चार पाँच फुट ऊँची रहती हैं, जिन पर हाथ रखने या पुस्तक-काग़ज़ धरने के लिए मेज़नुमा लकड़ी की पट्टी लगी रहती है। इस प्लेटफ़ार्म को एक आदमी आसानी से उठा ले जा सकता है। इसके आगे के भाग पर बड़े बड़े अक्षरों में "सामाजिक दल" या "मुक्ति फौज" या "स्वच्छन्दवादी" या "स्त्रियों को वोट" या "ईसाई मत" इत्यादि लिखा रहता है। जो जिस फिरके का होता है, या जो जिस लिए लेकचर देता है, वही इन पर लिखा रहता है। कोई कोई अपने फ़िरके के झण्डे लगाते हैं। मुक्ति-फ़ौज वाले बाजे गाजे से आते हैं और गा बजा कर रिझाते हैं। परन्तु इन बेचारों के पास श्रोताओं की भीड़ नहीं होती है। ये सब अपनी अपनी तान बड़े उत्साह से छेड़ते हैं। स्वच्छन्दता-वादी क्रिस्तानी धर्म की बड़ी मिट्टी पलीद करते हैं। इनके मुक़ाबले में आर्य्य-समाजी कुछ भी नहीं। समाज-वादी मालदार लोगों पर बड़े कठोर आक्रमण करते हैं और साथ ही भारत पर कुछ दया दिखाते हैं। "स्त्रियों को वोट" के झुण्ड में स्त्रियाँ कहती हैं कि हम ऐसी हैं, वैसी हैं; इसलिए क्यों नहीं हमें मर्दों की भाँति पार्लीमेंट के चुनाव पर मेम्बर चुनने के हक़ मिलते? इस तरह की वे वक्तृतायें

देती हैं। कभी कभी बौद्ध धर्म वाले भी दिखाई पड़ते हैं। ईसाई अपनी नमक हलाली दिखाते हुए हर एक धर्म पर कटाक्ष करते हैं। कोई कोई वक्ता बड़े योग्य होते हैं जिन की वक्तृताओं से हमें कितनी ही बातों का लाभ होता है। वे लोग अपनी वक्तृतायें खूब तैयार करके लाते हैं और प्रश्नकर्त्ता को तुरन्त उचित उत्तर देते हैं। वे अपनी बातों का प्रचार करने के लिए छोटी मोटी पुस्तकें और समाचार-पत्र बेचते हैं। जिनकी क़ीमत बहुत कम होती है। अपने शत्रु को भी वे बोलने का मौक़ा देते हैं। जिसे चन्दा इकट्ठा करना होता है उसके झुण्ड के दो एक आदमी अपनी हैट (टोपी) या थैली श्रोताओं में घुमाते हैं। एक एक पेनी प्रायः सभी देते हैं। सिवा इन लोगों के जगह जगह पर लोग राजनैतिक विषयों पर बहस करते दिखाई देते हैं। राजनीति तो इस देश के स्त्री-पुरुषों का जीवन है। ज़रा ज़रा से बच्चे भी इन बातों को थोड़ा बहुत समझते हैं। मतलब यह है कि यहाँ के पार्क में सभी प्रकार का आनन्द आता है।

प्यारेलाल मिश्र

❀ ❀ ❀

२४

भगवान् बुद्ध का उपदेश और
उनकी शिष्य-मण्डली

लेखक—श्रीयुत लक्ष्मीधर बाजपेयी

[श्री० लक्ष्मीधर जी कानपुर ज़िले में मैथा नामक गाँव के रहने वाले हैं। आपका जन्म सन् १८७७ ई० में हुआ था। १४ वर्ष की उम्र में आपने स्कूल छोड़ दिया था। इसके बाद आपने अपने ही उद्योग से इतनी उन्नति की।

आप श्रीयुत माधवराव सप्रे के साथ 'हिन्दी केसरी' का संपादन करते रहे। फिर कोई ६ वर्ष तक आगरे के 'आर्य मित्र' तथा पूने के 'हिन्दी चित्रमय जगत्' का संपादन किया। अब कुछ समय से आप

इलाहाबाद में 'तरुण-भारत ग्रन्थावली' नाम की एक पुस्तकमाला निकाल रहे हैं। आपने मराठी, संस्कृत और अँगरेज़ी की भी कई पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद किया है। आपने जिन पुस्तकों की रचना, अनुवाद या संपादन किया है उनकी संख्या २५ से अधिक है।]

भगवान् बुद्ध के समय में भारतवर्ष में आज-कल की भाँति धर्म का ह्रास नहीं हुआ था, परन्तु धर्म की ग्लानि अवश्य हो रही थी। आज कल दरिद्रता के कारण देश में जैसे पापाचार बढ़ रहे हैं वैसे उस समय नहीं थे। परन्तु इतिहास से मालूम होता है कि भारतवर्ष के अनेक आर्य राजाओं में परस्पर कलह और एक दूसरे का वध करके राज्य पर अधिकार जमाना, इत्यादि बातें उस समय भी प्रचलित थीं। धर्म के नाम पर हिंसा का बाज़ार बहुत गर्म था। यज्ञों में पशु-बलिदान करना धम का एक मुख्य अङ्ग माना जाता था। इन्हीं सब अत्याचारों को देख कर भगवान् बुद्ध को धर्म-प्रचार की आवश्यकता मालूम हुई। भगवान् बुद्ध का धर्म कोई नवीन धर्म नहीं था। प्राचीन वैदिक या आर्य-धर्म से यदि 'ईश्वर' और वेद' का नाम निकाल दिया जाय तो वही भगवान् बुद्ध का धर्म हो जाय। उन्होंने धर्म के लिए ईश्वर अथवा वेद का आधार लेने की कोई आवश्यकता नहीं समझी। एक शब्द में उनका धर्म 'सदाचार' था। मनुष्य यदि सदाचार-पूर्वक संसार में

रहता है, किसी को कष्ट नहीं पहुँचाता और न किसी से कष्ट पाता है—तो वह धार्मिक है—फिर वह चाहे ईश्वर और वेद को मानता हो और चाहे न मानता हो। भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेशों में कहीं ईश्वर अथवा वेद का खण्डन नहीं किया है; परन्तु उनका मण्डन करने की आवश्यकता नहीं समझी। संक्षेप में उन का धर्म "नकद धर्म" था। सदाचार से ही मनुष्य शांति अथवा निर्वाणपद पा सकता है। मोक्ष के लिए मरने की आवश्यकता नहीं, कोई कठोर जप-तप करने की आवश्यकता नहीं। सदाचार से ही मनुष्य जन्म-जरा-मरण व्याधि इत्यादि के कष्टों से मुक्त होकर निर्वाण-पद प्राप्त कर सकता है।

यही भगवान् बुद्ध के उपदेश का सार है। स्वयं बुद्धत्व प्राप्त करने के बाद—सदाचार की पराकाष्ठा तक पहुँच जाने के बाद—उन्होंने इसी धर्म का प्रचार करना प्रारम्भ किया। और जब वे अपने पूर्वाश्रम के साथी कौडिन्य, भद्रजित्, वाष्प, महानाम और अश्वजित् नामक पाँच संन्यासियों से मिलने के लिए वाराणसी को जा रहे थे तब मार्ग में उपाक नामक एक संन्यासी उनको मिला। उसने भगवान् बुद्ध से पूछा कि आप किस सम्प्रदाय के सन्यासी हैं? उन्हों ने उत्तर दिया—"मैं किसी सम्प्रदाय का नहीं हूँ। जाति, वर्ण, इत्यादि भेदों से मुझे कोई मतलब नहीं। सम्पूर्ण मानव-जाति के दुःखों का नाश जिस मार्ग से हो वही मेरा मार्ग है; और उस

मार्ग को मैंने जान लिया !"

इतना कहने के बाद भगवान् बुद्ध आगे चल दिए। कुछ दूर पर मृगदाव नामक तपोभूमि में उनको उपर्युक्त पाँचों संन्यासी मिले। उन संन्यासियों ने पहले तो उन्हें तिरस्कार की दृष्टि से देखा। उन्हों ने समझा कि यह वही तपोभ्रष्ट साधु है जो पहले हमारे साथ तप करता था और फिर बीच से ही उसको छोड़ कर चला गया; परन्तु जब उन्हों ने बुद्धदेव की ओर ध्यानपूर्वक देखा तब उनकी तेजस्विता का उन संन्यासियों के मन पर एक विचित्र प्रकार का प्रभाव पड़ा। उन्हों ने भगवान् बुद्ध का बड़ा आदर-सत्कार किया। वार्तालाप होने पर बुद्धदेव ने उन साधुओं से कहा कि धर्म का सच्चा मार्ग हमको मालूम हो गया है। वास्तव में मनुष्य को प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गों का अत्यन्त सेवन न करना चाहिए। उसे बीच के मार्ग से जाना चाहिए। अर्थात् न तो मनुष्य को ऐसे कठोर व्रतों का आचरण करना चाहिए जिनसे शरीर को अत्यन्त कष्ट हो और न विषय-सुखों में ही अत्यन्त निमग्न हो जाना चाहिए।

उस समय उन्होंने उक्त भिक्षुओं को यह उपदेश दिया—

वास्तव में इस मध्यम मार्ग के अतिरिक्त निर्वाण-प्राप्ति का और कोई भी साधन नहीं है। इस मार्ग में आठ बातों की साधना करनी चाहिए—

(१) सम्यक् दृष्टि अर्थात् यथार्थ ज्ञान;

(२) सम्यक् सङ्कल्प अर्थात् उचित कार्य के विषय में मन का दृढ़ निश्चय;

(३) सम्यक् वाक् अर्थात् उचित भाषण;

(४) सम्यक् कर्मन्त अर्थात् उचित कार्य;

(५) सम्यक् अजीव अर्थात् जीविका का उचित साधन;

(६) सम्यक् व्यायाम अर्थात् उचित प्रकार के प्रयत्न और परिश्रम;

(७) सम्यक् स्मृति अर्थात् उचित प्रकार के विचार;

(८) सम्यक् समाधि अर्थात् उचित प्रकार की चित्तशान्ति की स्थिति। यही आठ बातें हैं जिनका नाम बौद्ध धर्म में 'आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग' रक्खा गया है।

इसके बाद बुद्धदेव ने जन्म, जरा, व्याधि, मरण, अप्रिय संयोग और प्रियवियोग ये छः बातें दुःख का कारण बतलाईं। पुनर्जन्म का कारण तृष्णा बतलाई। यही दुःख की जननी है। तृष्णा से निवृत्त होने पर ही दुःख का नाश होता है, और उससे निवृत होने के लिए ही उपर्युक्त 'आर्य-अष्टाङ्गिक मार्ग बतलाया गया है।

बुद्ध भगवान् ने उन तपस्वियों को चार आर्य-प्रमेय भी बतलाए जो इस प्रकार हैं—

(१) दुःख अर्थात् जो हेय है;

(२) अज्ञान अर्थात् जो हेय हेतु है;

(३) दुःख-निरोध अर्थात् दुःख से दूर होने की इच्छा;

(४) दुःख-निरोध कारिणी वृत्ति, जिस को 'हान' कहते हैं और जिसके द्वारा दुःख के नाश होने का उपाय सूझता है।

यही पहला उपदेश है जिसे भगवान् बुद्ध ने अपने उपर्युक्त पाँचों साथियों को किया। इस उपदेश से उनको बहुत सन्तोष हुआ और वे बुद्ध के शिष्य बन गए। बौद्ध ग्रन्थकारों ने इस उपदेश को 'धर्मचक्रप्रवर्तन' की संज्ञा प्रदान की है।

वाराणसी से भगवान बुद्ध उरुवेला अर्थात् गयाजी को गए। वहाँ उन्होंने उरुवेला काश्यप, नदी काश्यप और गया काश्यप नामक तीन बड़े कट्टर ब्राह्मणों को अपने धर्म की दीक्षा दी। फिर वे गयाशीर्ष पर्वत पर गए, जहाँ एक हज़ार अग्निहोत्री यज्ञ और तप का अनुष्ठान कर रहे थे। इन सब को उन्होंने आदित्यपर्याय-सूत्र का उपदेश करके अपना शिष्य बनाया। इसके बाद राजगृह जाकर वहाँ के राजा बिम्बसार को अपने धर्म की दीक्षा दी। यह राजा उस समय उत्तर भारत के राजाओं में सर्व श्रेष्ठ गिना जाता था। भगवान् बुद्ध ने जब गृह त्याग किया तब बिम्बसार ने उनको राज्यसुख को फिर से ग्रहण करने के लिए बहुत कुछ समझाया बुझाया था, पर भगवान् बुद्ध ने उसके कथन को स्वीकार नहीं

किया था। जब दूसरी बार बुद्धदेव से बिम्बसार की भेंट हुई तब बिम्बसार स्वयं उनका शिष्य बन गया। बिम्बसार उनका बड़ा भक्त था।

राजगृह के पास सञ्जय नामक परिव्राजक रहता था। उसके ढाई सौ शिष्य थे। इन में सारिपुत्र और मौद्‌गलायन नामक दो बड़े विद्वान् ब्राह्मण थे। इन दोनों ने परस्पर निश्चय किया था कि जिसको मोक्षमार्ग पहले प्राप्त हो वह दूसरे को भी उससे परिचित करे। संयोग की बात है कि एक बार भगवान् बुद्ध का अश्वजित् नामक शिष्य भिक्षाटन करता हुआ राजगृह की ओर आया। उसको देख कर उपर्युक्त सारिपुत्र नामक ब्राह्मण ने उससे पूछा—

"भाई, आपकी मूर्त्ति प्रशान्त और कान्ति शुद्ध तथा उज्ज्वल दिखाई देती है। कहिए, आप किसके शिष्य हैं? आप का धर्मपन्थ कौन सा है?"

अश्वजित् ने उत्तर दिया—"शाक्यवंशी गौतम बुद्ध हमारे गुरु हैं। उन्हीं का धर्म हमने ग्रहण किया है।" सारिपुत्र ने पूछा, "आप के धर्म का क्या सिद्धान्त है? इस पर अश्वजित् ने यह श्लोक कहा—

ये धम्मा हेतुप्पभवा हेतुं तेसां तथागतो।
तेसां च यो निरोधो एवं वादी महासमनो॥

अर्थात् सम्पूर्ण वस्तुएँ जिस कारण से उत्पन्न हुई हैं वह कारण तथागत (बुद्धदेव) ने हमको बतला दिया है। उस कारण का नाश किस प्रकार किया जाय, सो भी उस महा श्रमण ने हमको बतला दिया है।

अब सारिपुत्र को बुद्धदेव के दर्शन की अभिलाषा हुई। वह अपने साथी मौद्गलायन तथा अन्य सहपाठियों के साथ बुद्धदेव के दर्शन को गया। बुद्धदेव ने निम्नलिखित श्लोक में अपने धर्म का सार बतला कर उनको अपना शिष्य बना लिया—

सर्व पापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा।
सचित्तपरियोदपन एतं बुद्धानसासनम्॥

अर्थात् किसी प्रकार का भी पाप न करना, कल्याण-कारक कर्म करना और चित्त शुद्ध रखना ही बुद्ध का धर्म है।

सारिपुत्र और मौद्गलायन ये दोनों बुद्धदेव के प्रमुख शिष्यों में से थे। इनके विषय में यह आख्यायिका प्रसिद्ध है कि एक बार बुद्धदेव ने अपने देवदत्त नामक शिष्य को, जो पीछे से गुरु-द्रोही बन गया था, समझाने के लिए सारिपुत्र और मौद्गलायन को भेजा। देवदत्त के मित्रों ने उन दोनों का वध करने के लिए बहुत प्रयत्न किया। परन्तु जब यह बात राजा अजातशत्रु को मालूम हुई, तब उसने वधिकों को कैद कर लिया और मौद्गलायन से कहा, " आप बड़े प्रभाव-

शाली अर्हन्त हैं। क्या आप अपने प्राणों की रक्षा नहीं कर सकते ?" मौद्गलायन ने उत्तर दिया, "महाराज, यह काम कुछ कठिन नहीं है। परन्तु इस झगड़े में पड़ने की मुझे कोई आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि अपने पूर्वकर्मफलानुसार अब मुझे स्वयं ही इस सप्ताह में अपनी देह त्याग करनी पड़ेगी।" कहते हैं कि मौद्गलायन ने सचमुच ही उस सप्ताह में अपनी देह त्याग कर दी। अपने गुरुभाई मौद्गलायन की निर्वाण-यात्रा सुन कर सारिपुत्र ने भी अपनी देह त्याग कर दी। सारिपुत्र नालन्द में रहता था। भगवान् बुद्ध के यह दोनों बड़े प्रसिद्ध शिष्य थे। वे इन को अग्रश्रावक कहते थे।

भगवान् बुद्ध का पुत्र राहुल भी उनके मुख्य शिष्यों में था। उसको उन्होंने किस प्रकार धर्म की दीक्षा दी, इसकी कथा बड़ी विचित्र और करुणोत्पादक है। कहते हैं कि एक बार जब भगवान् बुद्ध अपने धर्म का प्रचार करते हुए अपनी जन्मभूमि कपिलवस्तु में पहुँचे तब उनके पिता राजा शुद्धोदन राजसी ठाट-बाट के साथ उन से मिलने आए। उस समय राजा शुद्धोदन ने जब अपने पुत्र को भिक्षा-पात्र लिए हुए भिक्षुक के रूप में देखा तब वे बहुत लज्जित और क्रोधित होकर बोले, 'वत्स, तुमने हमारे राजकुल को कलङ्क लगाया है। क्या तुम समझते हो कि हम तुम को और तुम्हारे शिष्यों को अन्न देने का सामर्थ्य नहीं रखते, जो तुम

भिक्षुक बने फिरते हो ?'

बुद्ध ने उत्तर दिया, 'महाराज, भिक्षा माँगना हमारा कुल-धर्म है।' यह उत्तर सुन कर शुद्धोदन बड़े चकित हुए। उन्होंने पूछा, 'सो कैसे ?' भगवान बुद्ध ने उत्तर दिया—

"पहले जो बुद्ध अवतीर्ण हो चुके हैं वही हमारे पूर्वज हैं। उन्होंने भिक्षा माँगने की जो परिपाटी चला दी है उसी का पालन हम करते हैं। कहा है कि यदि किसी को कोई गुप्त धन प्राप्त हो तो उसमें जो उत्तम रत्न हो उसे वह अपने पिता को अर्पण करे। सो मुझको जो अमूल्य रत्नसङ्ग्रह प्राप्त हुआ है उसमें एक दो सुन्दर रत्न मैं आपको अर्पण करता हूँ। उन रत्नों को आप स्वीकार करें। वे रत्न यह हैं—

उत्तिट्ठे न प्पमज्जेय्य धम्मं सुचरितं चरे।
धम्मचारी सुखं सेति अस्मिं लोके परं हि च ॥
धम्मं चरे सुचरितं न तं दुच्चरितं चरे।
धम्मचारी सुखं सेति अस्मिं लोके परं हि च ॥

अर्थात् उठो, आलसी मत बनो, सद्धर्म का आचरण करो, धर्माचरण करने वाले को इस लोक और परलोक में सुख मिलता है। सत्कर्म करो, असत्कर्म मत करो, धर्माचरण करने वाले को इहलोक और परलोक में सुख होता है।"

यह उपदेश सुनकर राजा शुद्धोदन का चित्त बहुत प्रसन्न हुआ

और वे बुद्धदेव को अपने महलों में ले गये। वहाँ उनके दर्शनों के लिए राजपरिवार के सब लोग, सरदार और दरबारी आये। पर बुद्धदेव की धर्मपत्नी यशोधरादेवी नहीं आईं। यह देखकर पिता की आज्ञा से भगवान् स्वयं यशोधरा के महलों में गये। यशोधरा उस समय अत्यन्त दुःख से व्याकुल पृथ्वी पर पड़ी थी। उनकी दशा को देख कर बुद्धदेव ने उनकी पूर्वजन्म की याद दिलाई और उपदेश देकर उनका समाधान किया। इसके बाद वे महलों से वापस चले गये। कुछ देर बाद यशोधरादेवी ने अपने पुत्र राहुल को बुला कर कहा, "बेटा, जाओ! बस्ती के बाहर एक संन्यासी ठहरा है। वह तुम्हारा पिता है। उसके पास जाकर अपनी पूर्वजोपार्जित सम्पत्ति का भाग माँगो।"

बेचारा राहुल माता की आज्ञा के अनुसार बुद्धदेव के पास जाकर पैतृक धन माँगने लगा। यह देख कर तथागत बुद्ध ने अपने शिष्य सारिपुत्र से कहा, "भिक्षुको, राहुल को प्रव्रज्या (संन्यासव्रत) दो।"

सारिपुत्र ने वैसा ही किया। राहुल के घुँघराले सुन्दर केश काट कर उसका मुण्डन करवाया और उसको पीले वस्त्र पहनाये। राहुल ने सब भिक्षुओं को प्रणाम किया और इस मन्त्र का तीन बार उच्चारण किया—

"बुद्धं सरणं गच्छामि, धम्मं सरणं गच्छामि, संघं सरणं

गच्छामि ॥"

राहुल के संन्यास लेने पर राजा शुद्धोदन को बड़ा दुःख हुआ। बुद्ध के पास जाकर उन्होंने अपना शोक प्रकट किया और उन से यह वचन सदा के लिए ले लिया कि अब आगे से मात-पिता की अनुमति के बिना किसी बालक को संन्यास-दीक्षा नहीं देंगे; और यदि ऐसा करें तो बड़ा पातक हो।

राहुल भगवान् बुद्ध के मुख्य शिष्यों में था।

कोसलराज प्रसेनजित् भी बुद्धदेव के अत्यन्त प्यारे शिष्यों में था। इस का स्वभाव बहुत नम्र और भावुक था। इस राजा ने लड़कपन में तक्षशिला के विश्वविद्यालय में शिक्षा पाई थी। भगवान् बुद्ध के उपदेश सुनने के लिए यह सदा आतुर रहता था। इस ने अपनी बहन के साथ बुद्धधर्म स्वीकार किया। यह राजा मगध-राज बिम्बसार का साला था। यह प्रतिदिन पाँच सौ बौद्ध भिक्षुओं को सुन्दर भोजन कराता था। कहते हैं कि इस के सुस्वादिष्ट भोजनों से भी जब भिक्षुओं को तृप्ति न होने लगी तब एक दिन इसने भिक्षुओं से पूछा—

"भिक्षुओ, आप लोग दरिद्र लोगों के साधारण भोजन से तो तृप्ति लाभ करते हैं, पर हमारे उत्तम भोजन से आप की पूरी पूरी प्रसन्नता क्यों नहीं होती?" इस पर भिक्षुओं ने उत्तर दिया—

"महाराज, श्रद्धा एक ऐसी वस्तु है कि उसी से हमको भोजन में

स्वाद आता है। दरिद्र मनुष्य हमको जो भोजन दान देते हैं उसमें श्रद्धा का अंश विशेष रहता है। इसी लिए उनके दिए हुए भोजन में हमको विशेष रुचि है।" इस उत्तर से राजा प्रसेनजित् बहुत प्रसन्न हुआ। भिक्षुओं के प्रति उसकी श्रद्धा और भी अधिक बढ़ गई। कहते हैं कि इस राजा ने मल्लिका नामक एक मालिन की सुन्दरी पुत्री से विवाह किया था और उसको अपनी पटरानी बनाया था। यह लड़की भगवान् बुद्ध के उपदेशों में पहले से ही बहुत श्रद्धा रखती थी।

जीवक नामक एक प्रसिद्ध वैद्य भी बुद्धदेव का शिष्य था। यह राजा बिम्बसार का नाती था। इसने पहले ही से सोच लिया था कि हमारे भाई हम को राजगद्दी नहीं मिलने देंगे। इस लिए अपनी जीविका के लिए इसने वैद्यक का व्यवसाय बड़ी बुद्धिमानी से चुना था। इसने तक्षशिला के विश्वविद्यालय में आचार्य अत्रेय से आयुर्वेद का उत्कृष्ट अध्ययन किया था। कहते हैं कि जब जीवक अपना अध्ययन समाप्त कर चुका तब आचार्य ने अपने शिष्य की परीक्षा लेने के लिए यह आज्ञा दी, "इस विश्वविद्यालय के आस पास सोलह मील तक भ्रमण करके तुम ऐसी कोई वनस्पति ले आओ जो किसी औषधि के उपयोग में न आ सके।" जीवक इधर उधर बहुत घूमता रहा। पर जब उस प्रकार की कोई भी बनस्पति उसको प्राप्त नहीं हुई तब वह खाली हाथ अपने गुरु के

पास लौट आया। उसने कहा, "हमको कोई भी निरुपयोगी वनस्पति नहीं दिखाई दी।" आचार्य अत्रेय उस पर बहुत प्रसन्न हुए और प्रसन्नतापूर्वक आशीर्वाद देकर उसको घर लौटने की आज्ञा दी।

जीवक एक बहुत ही यशस्वी वैद्य था। असाध्य से असाध्य रोगी को वह अपने कौशल से आरोग्य कर देता था। उसकी चिकित्सा के अनेक चमत्कार-पूर्ण कार्यों का उल्लेख बौद्ध ग्रन्थों में हुआ है। उसकी कीर्ति सुन कर राजा बिम्बसार ने उसको अपने दरबार का राजवैद्य बनाया था। बुद्धदेव पर वैद्यराज जीवक की बहुत श्रद्धा थी। उसने अपना एक आम्रवन बुद्धदेव को अर्पण किया था। राजा अजातशत्रु को बौद्ध धर्म की ओर उसी ने प्रवृत्त किया था।

कहते हैं कि एक बार राजा अजातशत्रु अपने दरबार के कार्यों से निवृत्त होकर रात को उद्यान में बैठे हुए विश्राम कर रहे थे। शुभ्र चाँदनी छिटकी हुई थी। पुष्करिणी में कुमुद प्रफुल्लित हो रहे थे। सुगन्धित पुष्पों के परिमल से सब दिशाएँ व्याप्त हो रही थीं। सुन्दर सुन्दर फ़ौवारे उद्यान की शोभा बढ़ाते हुए सम्पूर्ण जीवों के मन को हरण कर रहे थे, पर राजा अजातशत्रु को उस रमणीय उपवन में भी चैन नहीं मिल रहा था। बात यह थी कि राजा अपने दुष्कार्यों पर पश्चात्ताप करता हुआ मन ही मन

अत्यन्त खिन्न हो रहा था। उसका मन ही उसको भीतर से बेचैन कर रहा था। ऐसी दशा में बाह्य रमणीयता से उसको सुख कैसे मिल सकता था? राजवैद्य जीवक राजा के पास ही बैठा था। उसने राजा के मन की दशा को ताड़ कर बहुत ही शान्तिपूर्ण शब्दों में राजा के सामने बुद्धदेव की महिमा का वर्णन किया तथा उनके शरण में जाने का राजा को उपदेश किया। राजा तुरन्त ही हाथी पर सवार होकर बुद्धदेव के दर्शन को गया और भगवान् बुद्ध के उपदेश से उसको अनुपम शान्ति का लाभ हुआ। इस प्रकार राजा अजात शत्रु ने बुद्धदेव की शिष्यता स्वीकार की।

वैद्यविद्या में जीवक अत्यन्त ही कुशल था। अपस्मार, यक्ष्मा, कुष्ट, इत्यादि असाध्य रोगों से पीड़ित सैकड़ों रोगी दूर दूर से उसके पास आया करते थे। धनाढ्य रोगी द्रव्य की बड़ी बड़ी राशियाँ उसके सामने रख देते थे, पर राजवैद्य जीवक को द्रव्य की क्या परवा? बौद्ध धर्म पर उसकी विशेष श्रद्धा थी, अतएव पहले वह बौद्ध भिक्षुओं को ही देख कर उनका इलाज मुफ्त में करता था। इसका परिणाम यह हुआ कि अनेक रोगी कपट से बौद्ध भिक्षु बन जाते और जीवक के इलाज से रोगमुक्त होते ही बौद्ध धर्म का त्याग कर देते। इससे बौद्ध मठों में संसर्गज रोगों की वृद्धि होने लगी। अतएव बुद्धदेव को यक्ष्मा, अपस्मार, कुष्ट इत्यादि रोगों से पीड़ित लोगों के लिए सघ में प्रवेश करने

का कठोर निबंध करना पड़ा।

श्रावस्ती नगर का अनाथपिण्डक नामक एक अत्यन्त धनवान श्रेष्ठी भी भगवान् बुद्ध की शिष्यमण्डली में था। बुद्धदेव के उपदेशों को सुन कर यह उन पर इतना प्रसन्न हुआ कि इसने उनके रहने के लिए बस्ती के बाहर, किन्तु निकट ही, एक उपवन चौदह करोड़ रुपये में राजकुमार जेत से खरीदा; और उस में एक उत्तम विहार बनवा कर बुद्धदेव को अर्पण किया। यह उपवन "जेतवन" के नाम से बौद्ध ग्रन्थों में प्रसिद्ध है। इस जगह रह कर भगवान् बुद्ध ने अपने शिष्यों को अनेक बार सुन्दर उपदेश दिये हैं।

अनाथपिण्डक ने विपुल सम्पत्ति के द्वारा ही भगवान् बुद्ध के धर्म-प्रचार में सहायता नहीं दी, वरन महासुभद्रा और चुल-सुभद्रा नामक अपनी दो कन्यायें भी बौद्ध सङ्घ की सेवा के लिए अर्पण कीं।

पूर्ण नामक एक और श्रद्धालु व्यापारी भगवान् बुद्ध का शिष्य हुआ था। यह सुरापरान्त देश से श्रावस्ती नगर में व्यापार के लिए आया था। उपर्युक्त जेतवन में उसको भगवान् के उपदेश सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और उसने बौद्ध धर्म की दीक्षा ली। वहाँ कुछ काल व्यतीत करने के बाद बौद्ध धर्म का प्रचार करने के उद्देश से जब वह अपने देश को जाने लगा तब भगवान् बुद्ध ने

उससे कहा—

"हे शिष्य, तू जिस देश में धर्म-प्रचार के लिए जा रहा है, वहाँ के लोग बहुत ही दुष्ट, कट्टर और अत्याचारी हैं। वे जब तेरी निन्दा करने लगेंगे अथवा तुझको अपशब्द कहने लगेंगे तब तू क्या करेगा?" पूर्ण ने उत्तर दिया—

"मैं बिलकुल चुप रहूँगा।"

"और यदि वे पकड़ कर तुझको पीटेंगे तो तू क्या करेगा?"

'मैं उनको बदले में नहीं मारूँगा।'

'अच्छा, यदि वे तुझे पकड़ कर तेरा वध करना चाहें तो?'

'मैं उनको धन्यवाद दूँगा, क्योंकि इससे मैं संसार के त्रिविध तापों से अनायास ही मुक्त हो जाऊँगा। अतएव मैं उनके प्रयत्न में बाधा नहीं डालूँगा।'

पूर्ण का उत्तर सुन कर बुद्धदेव बहुत प्रसन्न हुए। यह सोच कर कि धर्मप्रचार करने के लिए ऐसे ही दृढ़ और सहनशील पुरुष की आवश्यकता है, उन्होंने पूर्ण को आशीर्वाद देकर विदा किया।

पूर्ण अपने कार्य में पूर्णतया सफल हुआ और धर्म-प्रचारक का कार्य बड़ी योग्यता के साथ उसने किया।

अब बुद्ध देव के एक पट्ट शिष्य का कुछ वृत्तान्त देकर हम यह लेख समाप्त करेंगे। इस शिष्य का नाम था आनन्द। आनन्द ने भगवान् बुद्ध से किस समय और कैसे दीक्षा ली, इस का हाल

नहीं मिलता है, पर इतना सर्व प्रसिद्ध है कि आनन्द सब बुद्ध-भिक्षुओं में एक प्रमुख भिक्षु था। बुद्धदेव की इस पर अत्यन्त कृपा थी। यह शाक्यवंशी क्षत्रिय था और स्वयं भगवान् बुद्ध के भाई-बन्दों में था। यह लगातार पच्चीस वर्ष तक बुद्धदेव के साथ रहा और अत्यन्त श्रद्धा के साथ इसने उनकी सेवा की। बुद्धदेव का कोई भी रहस्य इससे छिपा नहीं रहता था। भगवान् से मिलने के लिए, उनका उपदेश लेने के लिए अथवा उनसे कोई प्रश्न करने के लिए, चाहे जो कोई आवे, आनन्द सदैव उनके निकट रहता था। भगवान् बुद्ध ने अपने हृद्गत सम्पूर्ण विचार आनन्द से प्रकट कर दिए थे। बुद्धदेव के पश्चात् धर्म विषयक जो शास्त्रार्थ होते थे उन सब में कोई रहस्यमय प्रश्न उपस्थित होने पर आनन्द जब इस बात का खुलासा कर देता कि इस विषय में भगवान् बुद्ध का ऐसा अभिप्राय था तब उस शास्त्रार्थ का निर्णय होता था।

ऊपर भगवान् बुद्ध के जिन मुख्य मुख्य शिष्यों का वर्णन आया है उनके अतिरिक्त और भी उनके अनेक शिष्य थे। विस्तार-भय से यहाँ उनका वर्णन नहीं किया गया है। बुद्धदेव के शिष्यों में सब जाति के लोग सम्मिलित थे। सारिपुत्र, मौद्गलायन और कात्यायन के समान तेजस्वी और विद्वान् ब्राह्मण उनकी शिष्य-मण्डली में थे; आनन्द, राहुल, अनिरुद्ध के समान उच्च कुलीन क्षत्रिय भी थे; इसी प्रकार यश, अनाथपिण्डक और पूर्ण

के समान श्रेष्ठी भी उनके शिष्य थे। यही नहीं, बल्कि उनके शिष्यों में सुनीत नाम का एक भङ्गी था; अंगुलीमाल नामक एक औधिया (चोरी का व्यवसाय करने वाला), स्वाति नामक एक मछुवा, नन्द नामक एक ग्वाला और उपाली नाम का एक नाई था। इसी प्रकार अनेक निम्न श्रेणी के लोग उनके उदेशों से कृतार्थ हुए थे।

भगवान् बुद्ध के शिष्य दो श्रेणियों में विभक्त थे। एक तो वे लोग जो गृहस्थाश्रम छोड़ कर संन्यास-दीक्षा लेते थे। इन को भिक्षु कहते थे। दूसरे वे लोग जो गृहस्थाश्रम में रह कर ही उनके उपदेशों का पालन करते थे। इन को उपासक कहते थे। राजा बिम्बसार, कोसलराज प्रसेनजित, वैद्यराज जीवक, श्रेष्ठी अनाथपिण्डक इत्यादि द्वितीय श्रेणी के शिष्य थे।

पुरुषों की भाँति अनेक स्त्रियाँ भी बुद्धदेव के सम्प्रदाय में सम्मिलित हुई थीं। वे भी बड़े उत्साह से बौद्ध धर्म का प्रचार करती रहती थीं।

२५

शिकागो का रविवार

लेखक —स्वामी सत्यदेव परिव्राजक

[स्वामी सत्यदेव जी का जन्म लुधियाना में सन् १८७८ के लगभग हुआ था। आपको देशाटन का बहुत शौक़ था। आप एक मित्र से मार्ग-व्यय लेकर अमरीका चले गये। वहाँ विद्याध्ययन के साथ साथ नौकरी करके आपने अपनी गुज़र की। लौटते समय योरुप के भिन्न भिन्न देशों की सैर की। पिछले दिनों आप आँखें बनवाने के लिए एक बार फिर जर्मनी गये थे। आप हिन्दी के अनन्य प्रेमी हैं। आपने अमरीका के निर्धन विद्यार्थी, अमरीका दिग्दर्शन, कैलाश यात्रा, देश चतुर्दशी, संजीवनी बूटी आदि कई पुस्तकें लिखी हैं।]

रविवार छुट्टी का दिन है। भारतवर्ष में छोटे छोटे बच्चे जो स्कूलों में पढ़ते हैं, वे भी यह बात जानते हैं। रशिया और अफ्रीका में जहाँ जहाँ ईसाई लोगों का राज्य है, सब कहीं स्कूलों और दफ्तरों में रविवार को छुट्टी रहती है। परन्तु रविवार की छुट्टी किस तरह मनानी चाहिये, यह बात ईसाई धर्म्मावलम्बियों के बीच रहे बिना, अच्छी तरह नहीं अनुभव की जा सकती। रविवार की छुट्टी मनाने के लिये शिकागो में कैसे कैसे स्थान बनाये गये हैं और किस प्रकार यहाँ वाले जीवन का आनन्द लूटते हैं, इसका संक्षिप्त हाल इस लेख में सुनाते हैं।

ईसाई धर्म्म में रविवार को काम करना मना है; इसलिये सब दुकानें, पुस्तकालय, कारखाने आदि इस दिन बन्द रहते हैं। क्या निर्धन, क्या धनवान्, क्या नौकर, क्या स्वामी, क्या बालक, क्या वृद्ध, क्या स्त्री, क्या पुरुष, सब के लिये आज छुट्टी है। साढ़े दस ग्यारह बजे, नियत समय पर, प्रातःकाल प्रायः सब लोग अपने अपने गिरजाघरों में जाते हुए दिखाई देते हैं। वहाँ ईश्वराराधना करने के बाद घर लौटकर भोजन करते हैं। फिर कुछ आराम करके सैर को निकलते हैं।

शिकागो बहुत बड़ा शहर है; संसार के बड़े शहरों में इसका तीसरा नम्बर है। यहाँ एक 'फ़ील्ड म्यूज़ियम' अर्थात् अजायब-घर है। यह मिशिगिन झील के किनारे, शिकागो-विश्वविद्यालय

से थोड़ी ही दूर पर है। रविवार को सबेरे नौ बजे से शाम के पाँच बजे तक, सब को यहाँ मुफ्त सैर करने की अनुमति है; इस लिये इस दिन यहाँ बड़ी भीड़ रहती है। आठ-नौ बरस के बालक-बालिकाएँ ऐसे ही स्थानों से अपनी विद्या का आरम्भ करते हैं; क्योंकि यहाँ पर संसार की उन सब वस्तुओं का संग्रह है, जो शिकागो के प्रसिद्ध सांसारिक मेले में इकट्ठी की गई थीं। यहाँ यह बात यथाक्रम दिखलाई गई है कि पृथ्वी के ऊपर प्राणियों का जीवन, प्राकृतिक नियमों के अनुसार, किस प्रकार वर्तमान अवस्था को पहुँचा है। भूगर्भ-विद्या-सम्बन्धी पदार्थों को भिन्न भिन्न कमरों में दरजे-बदरजे रखकर उनका विकास-क्रम अच्छी तरह दिखलाया गया है। यहाँ यह स्पष्ट मालूम हो जाता है कि उत्तरी अमेरिका के हिरन किस प्रकार भिन्न भिन्न ऋतुओं में अपना रंग बदलते हैं, किस प्रकार प्रकृति-माता बर्फ़ के दिनों में उनको भोजन देती है। उत्तरीय ध्रुव में रहने वाले रीछों के, बर्फ़ के भीतर बने हुए, घर क्या ही अच्छी तरह दिखाये गये हैं! यहाँ यह बात भी प्रत्यक्ष मालूम हो जाती है कि अमेरिका के प्राचीन निवासी किन देवी-देवताओं की पूजा करते थे, कैसे घरों में रहा करते थे, किस प्रकार किन चीज़ों की मदद से पहनने के वस्त्र बनाते थे। उनकी नौकाएँ, उनके खाने-पीने का सामान, उनके देवालय, उनक युद्ध के शस्त्र—सब चीज़ें बहुत ही अच्छी तरह दिखाई गई हैं। सबसे

अधिक सक्षम प्राणी ही ससार में बाकी रहते हैं, इस सिद्धान्त की पुष्टि इन दृश्यों को देखते ही हो जाती है। जब हमने इन चीज़ों को देखा, तब तत्काल हमें यह विचार हो आया कि क्या भारत-वासियों का नाम, उनकी चीज़ें, उनका इतिहास आदि सब कुछ नष्ट होकर किसी दिन लन्दन के अजायब-घर में ही तो न रह जायगा।

इस अजायब-घर के मध्य में कोलम्बस की दीर्घकाय मूर्ति विराजमान है। इस जिनोआ-निवासी कोलम्बस की मूर्ति को देख कर दर्शक के मन में भाँति भाँति के विचार उत्पन्न होने लगते हैं और एक अद्भुत दृश्य आँखों के सामने घूम जाता है। पुराने अमेरिका और आज के अमेरिका में कितना अन्तर है! यहाँ के वे प्राचीन-निवासी कहाँ गए! पिछली तीन शताब्दियों में यहाँ भूमि का कैसा रूप बदला है! कहाँ यूरोप! कहाँ अमेरिका! हज़ारों कोस का अन्तर! भारतवर्ष की तलाश में एक पुरुष भूल से इधर आ निकलता है। उसका आना क्या है, यमराज के आने का सन्देश है! हज़ारों वर्षों से रहने वाले, स्वतन्त्रता से बिचरने वाले, क्या पशु, क्या पक्षी, क्या मनुष्य सभी तीन ही शताब्दियों के अन्दर स्वाहा हो जाते हैं! करोड़ों भैंसे अमेरिका के जङ्गल में न जाने कब से आनन्द-पूर्वक विचरते थे; पर आज उनका नाम-निशान तक नहीं मिलता। उन सब जीवां ने क्या अपराध किया

था ? क्यों एक दूर देश में बसने वाली जाति, जिसका कोई अधिकार इस देश पर नहीं था, आकर यहाँ के असली रहने वालों को नष्ट करने का कारण हुई ? क्या यही ईश्वरीय न्याय है ? नास्तिकता से भरे हुए ऐसे ही प्रश्न यहाँ दर्शक के मन में उठते हैं। तत्काल एक आवाज़ कान में आती है—'प्रकृति का यह अटल सिद्धान्त है कि सब से अधिक सक्षम—सब से अधिक योग्य ही का दुनिया में गुज़ारा है।' यदि तुम अपना अस्तित्व चाहते हो, तो अपने पास-पड़ोस वालों की बराबरी के बन जाओ। वही जाति अपना नाम संसार में स्थिर रख सकती है, जो इस नियम के अनुकूल चलती है।

इस अजायब-घर में बनस्पति-विद्या, रसायन-विद्या, जन्तु-विद्या, विहङ्ग-विद्या, नर-शरीर-विद्या आदि भिन्न भिन्न विद्याओं के सम्बन्ध की सामग्री भी विद्यमान है। 'एक पन्थ दो काज', छुट्टी का दिन है, लोग सैर भी करें और कुछ सीखें भी। उन्नति के कैसे अच्छे मौक़े यहाँ के निवासियों को दिए जाते हैं! बालकपन से ही खेल के बहाने यहाँ वाले इतनी वाक़फ़ियत हासिल कर लेते हैं, जो हमारे देशमें दस वर्ष स्कूल में पढ़ने से भी नहीं होती।

अजायब-घर से बाहर निकल कर देखिए—झील के किनारे किनारे, सड़क बनी हुई है; बेंचें रक्खी हुई हैं; वहाँ स्त्री, पुरुष, बालक आनन्द से बैठे हैं, और हँस खेल रहे हैं। उनके चिहरों

को देखिये तो स्वतन्त्रता उनके माथे पर जगमगा रही है। नवयुवक अपनी प्रियतमाओं के साथ इधर से उधर, उधर से इधर, घूमते और वार्तालाप करते हुए क्या ही भले मालूम होते हैं! मिशिगन झील भी उनके इन भावों को देखकर प्रसन्न मालूम होती है! वह अपने स्वच्छ शीतल पवन के झोंकों से उन्हें आशीर्वाद सा दे रही है! जल की तरंगें छोटे छोटे बालकों को देखकर उनसे मिलने के लिये, बड़े आह्लाद से आगे बढ़ती हैं; परन्तु तत्काल ही यह सोचकर कि शायद कुछ बेअदबी न हुई हो, पीछे हट जाती हैं। इस समय भगवान् सूर्य अपने दिन के कार्य्य को पूर्ण कर पश्चिम की ओर गमन करते हैं।

इस अजायब-घर के सिवा और भी बहुत से स्थान शिकागो-निवासियों को रविवार मनाने के लिये हैं। कितने ही उद्यान ऐसे हैं, जहाँ पियानो बाजे तथा मन बहलाने के और कई सामान रक्खे रहते हैं। वहाँ जाकर लोग बैठते हैं, संगीत सुनते हैं, और आनन्द में मग्न होकर घर आते हैं।

यहाँ एक उद्यान है जिसका नाम "हम्बोल्ड पार्क" है। इसमें नहर के ढङ्ग के, जल के बड़े बड़े और लम्बे कुण्ड हैं, जिनमें जल भरा रहता है और छोटी छोटी नावें पानी पर तैरा करती हैं। ये नावें खेल के लिये हैं। ग्रीष्म-काल में यहाँ नावों की दौड़ होती है। रविवार के दिन इन उद्यानों का दृश्य बहुत ही मनोहर हो

आता है। नवयुवक नौकाएँ खेते हुए, हँसते, खेलते, गाते, जीवन का आनन्द लेते हैं। एक एक नौका पर प्रायः एक नवयुवक और एक युवती स्त्री रहती है। वे सहाध्यायी मित्र अथवा पति-पत्नी होते हैं। इस तरह की संगति इस देश में बुरी नहीं मानी जाती, और न हम लोगों के देश की तरह, कभी बुरे भाव ही इन लोगों में उत्पन्न होते हैं। यहाँ स्त्रियों की बड़ी प्रतिष्ठा है; कोई बहुत ही पतित पुरुष होगा, जो उनके साथ नीच व्यवहार करेगा। ऐसे पुरुष के लिये कानून में बड़े भारी दण्ड का विधान है। प्रायः सभी उद्यानों में ऐसे जल-कुण्ड हैं। जो स्थान जिसके निकट होता है, वह वहीं जाकर रविवार को आनन्द मनाता है।

कोई शायद पूछे कि क्या और रोज वहाँ जाना मना है? नहीं, ऐसा नहीं है। कारण यह है कि अधिकांश लोगों को सिवा रविवार के और रोज छुट्टी ही नहीं मिलती। इसलिये रविवार को ही इन उद्यानों में लोग एकत्र होते हैं। रोज सिर्फ कहीं कहीं टेनिस खेलते हुए स्त्री-पुरुष दिखाई देते हैं। यह बात ग्रीष्म ऋतु की है। जाड़ों में इन कुण्डों का पानी जम जाता है, तब यहाँ पर लोग "स्केटिंग" करते हैं। स्केटिंग एक प्रकार का खेल है। आजकल, दिसम्बर में, स्केटिंग का समय है; क्योंकि इस समय बेहद जाड़ा पड़ रहा है। पर बालक-बालिकाएँ इन स्थानों में नाचती हुई दिखाई देती हैं।

लिंकन-उद्यान भी बहुत प्रसिद्ध है। इसमें अमेरिका के विख्यात योद्धा वीर-वर ग्राण्ट की मूर्त्ति है। अश्वारूढ़ ग्राण्ट, इस देश के इतिहास के ज्ञाता को एक भयंकर युद्ध का स्मरण कराते हैं। यह युद्ध गुलामी की प्रथा को बन्द करने के लिए आपस में हुआ था। अमेरिका के उत्तर के लोग चाहते थे कि गुलामों का व्यापार बन्द हो जाय। उनका यह सिद्धान्त था कि न्याय की दृष्टि से सब आदमी बराबर हैं, जीवन और स्वतन्त्रता के स्वाभाविक नियमों में सबका हक़ एकसा है। वे नहीं चाहते थे कि अमेरिका जैसे स्वतन्त्र देश में मनुष्य भेड़-बकरियां की तरह बिकें। इस सत्य सिद्धान्त की रक्षा के लिये एक लोमहर्षण युद्ध उत्तर और दक्षिण निवासियों में हुआ, और परिणाम में सत्य की जय हुई। शूर-वीर ग्राण्ट इस युद्ध में उत्तरवालों की ओर से सेनापति थे। वे काले हब्शियों को वैसा ही चाहते थे, जैसा कि गोरे चमड़ेवाले अमेरिका के निवासियों को। इस महात्मा का स्मारक-चिन्ह दर्शक को नया जीवन प्रदान करता है। वह उसे सूचना देता है कि किसी मनुष्य को दूसरे पर दुष्टता करने का अधिकार नहीं है; सब मनुष्य इस विषय में बराबर हैं। समाज एक यन्त्र की भाँति है; मनुष्य-समुदाय उसके पुरजे हैं; अपनी अपनी योग्यतानुसार सब समाज के सेवक हैं, किसी से घृणा मत करो; क्या काला, क्या गोरा, क्या ऊँच जाति, क्या नीच जाति—सब एक ही पिता के पुत्र हैं।

इस उद्यान के एक भाग में भिन्न-भिन्न प्रकार के पौधे रखे हैं। जो वृक्ष जिस तापमान में जी सकता है, उसी के अनुसार यहाँ उसे उष्णता पहुँचाई गई है और उसकी रक्षा की गई है। उष्ण देशों के कई एक वृक्ष यहाँ देखने में आते हैं। दर्शक को बनस्पति-विद्या-सम्बन्धी बहुत सी बातें यहाँ मालूम हो जाती हैं।

उद्यानों के सिवा बहुत से और भी स्थान लोगों के बैठने-उठने और हँसने-खेलने के लिये हैं। शिकागो बहुत बड़ा नगर है। इससे नगरवासियों के आराम और शुद्ध पवन की प्राप्ति के लिये, बीच बीच गलियों में, "बनलिवर्ड" नामक विहार-स्थल हैं। यहाँ की गलियाँ हमारे देश की जैसी नहीं हैं। गलियाँ क्या, बाज़ार हैं। यहाँ पत्थर के मकानों के आगे, दोनों किनारों पर, पाँच फ़ुट के क़रीब रास्ता, सड़क से ऊँचा, लोगों के चलने के लिये बना हुआ है। बीच की सड़क गाड़ी, घोड़े, मोटर आदि के लिये है। खुले मकानों और चौड़ी सड़कों के कोनों पर भी, हवा साफ़ रखने और ग़रीब आदमियों के मनोरंजन तथा लाभ के लिये थोड़ी थोड़ी दूर पर विहार-वाटिकाएँ हैं, जहाँ बैठने के लिये बेञ्चें रखी रहती हैं। काम से थके हुए स्त्री-पुरुष रोज सायंकाल यहाँ दिखाई देते हैं; क्योंकि और स्थानों में गाने, बजाने और जल-विहार आदि के लिये थोड़ा बहुत ख़र्च करना पड़ता है, जो थोड़ी आमदनी के लोग नहीं कर सकते। उनके लिये ऐसे

स्थानों, उद्यानों और अजायब-घरों में घूमने की स्वतन्त्रता है। यत्न यह किया गया है कि सबको इस देश में आनन्द प्राप्त करने का अवसर मिले। यहाँ जो धन व्यय किया जाता है, वह शारीरिक और मानसिक, दोनों प्रकार की उन्नति के लिए किया जाता है।

यह तो हुई दिन की बात, अब रात की सुनिये। यहाँ पर बहुत से नाटक-घर, प्रदर्शिनियाँ और समाज हैं, जहाँ अपनी अपनी रुचि के अनुसार लोग रात को जाते हैं। शिकागो में लोग अकसर रात को गिरजों में भी जाते हैं। वहाँ रात को भी उपदेश, गायन और हरिकीर्तन होता है। यहाँ एक जगह श्वेतनगर नाम की है; वहाँ बहुत से लोग जाते हैं। इस जगह को श्वेतनगर इसलिये कहते हैं कि यहाँ बिजली की शुभ्र रोशनी होती है, जिससे रात को भी दिन ही सा रहता है। इसके विशाल द्वार पर बड़े मोटे मोटे बिजली के प्रकाश के अक्षरों में "व्हाइट सिटी" लिखा हुआ है। बिजली की महिमा यहाँ खूब ही देखने को मिलती है। स्थान स्थान पर प्रकाशमय रंगबिरंगे अक्षर-चित्र बने हुए हैं, जो मिनट मिनट पर रंग बदलते हैं। इस श्वेतनगर के भीतर अनेक मनोरंजक स्थान हैं। कहीं पर गाना हो रहा है, कहीं बड़े बड़े कमरों में नाच हो रहा है, कहीं सरकस का तमाशा है। दुनिया भर के तमाशा करने वाले यहाँ लाये जाते हैं; और गरमी के दिनों में वे तीन ही चार मास में हज़ारों रुपया कमा लेते हैं। यह स्थान

एक कम्पनी का है। उसके नौकर, सारी दुनिया में, तमाशा करने-वालों को लाने के लिये घूमा करते हैं। भारतवर्ष के यदि दो तीन अच्छे पहलवान, किसी देशी कम्पनी के साथ, अमेरिका में आवें, तो हज़ारों रुपये कमा कर ले जाँय। हमारे देश में अभी लोगों ने रुपया पैदा करने का ढङ्ग नहीं सीखा। एक साधारण मनुष्य इंगलिस्तान से आकर, हिन्दुस्थान में विज्ञापनों द्वारा प्रसिद्धि प्राप्त करके, लाखों बटोर कर ले जाता है; परन्तु हमारे स्वदेश के कारीगर, पहलवान, बाजीगर, आदि कभी इस ओर आने का साहस नहीं करते। अमेरिका में कुश्ती का शौक़ बढ़ रहा है। यदि इस समय कोई पहलवान थोड़ा सा रुपया ख़र्च करके इधर आवे, और किसी अच्छी कम्पनी की मारफ़त कुश्ती हो, तो लाखों रुपये के वारे-न्यारे हो जाय।

इस श्वेतनगर में रविवार को बड़ा भारी मेला होता है। गाड़ियाँ स्त्री-पुरुषों से लदी हुई जाती हैं। हज़ारो दर्शक इकट्ठे होते हैं और रात के आठ बजे से ग्यारह या बारह बजे तक मेला रहता है। यह स्थान केवल गरमियों में खुलता है; क्योंकि यहाँ जाड़ों में शीत के कारण कोई नहीं आता। शीत-ऋतु के लिये नगर के भीतर और अनेक स्थान हैं, जहाँ और ही तरह के मनोरंजक खेल होते हैं।

रविवार का दिन इस नगरी में लोग इसी तरह व्यतीत करते

हैं। अब यहाँ वालों की जीवन-चर्या का मिलान यदि हम भारतवर्ष से करते हैं, तो कितना बड़ा अन्तर पाते हैं! उन तमाशों या नाटकों की बात जाने दीजिए, जिनको हममें से बहुत से अच्छा न समझें, पर और ऐसे कितने मनोरञ्जक या शिक्षाप्रद खेल तमाशे हैं, जिनका हमारे स्वदेशी भाइयों को शौक़ हो! वे अपने अवकाश को—अपनी छुट्टियों को किस तरह बिताते हैं? भङ्ग पीकर, ताश खेल कर, पतङ्ग उड़ा कर, और व्यर्थ के बकवाद में लिप्त रहकर। वक्त की वे क़ीमत ही नहीं जानते! यद्यपि कुछ पढ़े लिखे लोग ऐसे हैं, जो इन बुराइयों से बचे हुए हैं; परन्तु वे तीस करोड़ की जन-संख्या में दाल में नमक के बरोबर भी नहीं। आधी संख्या हमारे देश में मूर्खा स्त्रियों की है, जिनको बाहिर निकलने की आज्ञा ही नहीं! जहाँ के निवासी सैकड़े पीछे पाँच से भी कम साक्षर हैं, उन्हें दुर्व्यसनों में डूबने से भगवान ही बचावे!

❀ ❀ ❀

२६

अमावास्या की रात्रि

लेखक—श्रीयुत प्रेम चंद, बी० ए०

[श्री प्रेमचन्द जी का जन्म बनारस ज़िले के अन्तर्गत मढ़वा गाँव में सन् १८८० में हुआ था। आप का असली नाम धनपतराय है। पर हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में आप प्रेमचन्द नाम से लिखते हैं। इस लिए अब इनका यही नाम प्रसिद्ध है। पहले आप उर्दू में लिखा करते थे। उस समय आप का उपनाम 'नवाबराय' था। आप ने सन् १९१७ से हिन्दी में लिखना आरम्भ किया है। इस समय आप हिन्दी में चोटी के उपन्यास तथा कहानी-लेखक हैं। आप की भाषा ज़ोरदार, सरल और मुहावरे की होती है। आप के प्रसिद्ध उपन्यास ये हैं—

रंग-भूमि, कायाकल्प, प्रेमाश्रम, निर्मला, और सेवासदन। कहानियों की पुस्तकों में से मुख्य ये हैं—नवनिधि, सप्तसरोज, प्रेमप्रसून, प्रेम-पूर्णिमा, प्रेम पचीसी और कर्म भूमि।

इस समय आप बनारस में "जागरण" नाम के साप्ताहिक और 'हंस' नाम के मासिक पत्र का संपादन कर रहे हैं।]

[१]

दीवाली की सन्ध्या थी। श्रीनगर के घूरों और खँडहरों के भी भाग्य चमक उठे थे। क़स्बे के लड़के-लड़कियाँ श्वेत थालियों में दीपक लिए मन्दिर की ओर जा रही थीं। दीपों से अधिक उनके मुखारविन्द प्रकाशमान थे। प्रत्येक गृह रोशनी से जगमगा रहा था। केवल पण्डित देवदत्त का सप्तघरा भवन अन्धकार में काली घटा की भाँति गम्भीर और भयङ्कर रूप में खड़ा था। गम्भीर इसलिए कि उसे अपनी उन्नति के दिन भूले न थे। भयङ्कर इस लिए कि यह जगमगाहट मानो उसे चिढ़ा रही थी। एक समय वह था जब कि ईर्ष्या भी उसे देख देख कर हाथ मलती थी, और एक समय यह है जब कि घृणा भी उस पर कटाक्ष करती है। द्वार पर द्वारपाल की जगह अब मदार और एरण्ड के वृक्ष खड़े थे। दीवानखाने में एक मतङ्ग साँड़ अकड़ता था। ऊपर के घरों में जहाँ सुन्दर रमणियाँ मनोहारी सङ्गीत गाती थीं, वहाँ आज जङ्गली कबूतरों के मधुर स्वर सुनाई देते थे। किसी अँगरेज़ी मदरसे के

विद्यार्थी के आचरण की भाँति उसकी जड़ें हिल गई थीं और उस की दीवारें किसी विधवा स्त्री के हृदय की भाँति विदीर्ण हो रही थीं। पर समय को हम कुछ कह नहीं सकते। समय की निन्दा व्यर्थ और भूल है। यह मूर्खता और अदूरदर्शिता का फल था।

अमावास्या की रात्रि थी। प्रकाश से पराजित होकर मानो अन्धकार ने उसी विशाल भवन में शरण ली थी। पण्डित देवदत्त अपने अर्द्ध अन्धकार वाले कमरे में मौन परन्तु चिन्ता में निमग्न थे। आज एक महीने से उनकी पत्नी 'गिरिजा' की ज़िन्दगी को निर्दय काल ने खिलवाड़ बना लिया है। पण्डितजी दरिद्रता और दुःख को भुगतने के लिए तैयार थे। भाग्य का भरोसा उन्हें धैर्य बँधाता था। किन्तु यह नई विपत्ति सहनशक्ति से बाहर थी। बेचारे दिन के दिन गिरजा के सिरहाने बैठ कर उसके मुरझाये हुए मुख को देखकर कुढ़ते और रोते थे। गिरिजा जब अपने जीवन से निराश होकर रोती तो वह उसे समझाते—गिरिजा, रोओ मत, तुम शीघ्र अच्छी हो जाओगी।

पण्डित देवदत्त के पूर्वजों का कारोबार बहुत विस्तृत था। वे लेन देन किया करते थे। अधिकतर उनके व्यवहार बड़े बड़े चकले-दारों और रजवाड़ों के साथ थे। उस समय ईमान इतना सस्ता नहीं बिकता था। सादे पत्रों पर लाखों की बातें हो जाती थीं। मगर सन् ५७ ईसवी के बलवे ने कितनी ही रियासतों और राज्यों

को मिटा दिया और उनके साथ तिवारियों का यह अन्न-धनपूर्ण परिवार भी मिट्टी में मिल गया। खजाना लुट गया, बही-खाते पंसारियों के काम आये। जब कुछ शान्ति हुई, रियासतें फिर सँभलीं तो समय पलट चुका था। वचन लेख के अधीन हो रहा था, तथा लेख में भी सादे और रंगीन का भेद होने लगा था।

जब देवदत्त ने होश सँभाला तब उसके पास इस खँड़हर के अतिरिक्त और कोई सम्पत्ति न थी। अब निर्वाह के लिए कोई उपाय न था। कृषि में परिश्रम और कष्ट था। वाणिज्य के लिए धन और बुद्धि की आवश्यकता थी। विद्या भी ऐसी नहीं थी कि कहीं नौकरी करते। परिवार की प्रतिष्ठा दान लेने में बाधक थी। अस्तु, साल में दो तीन बार अपने पुराने व्यवहारियों के घर बिन बुलाये पाहुनों की भाँति जाते और जो कुछ बिदाई तथा मार्ग-व्यय पाते उसी पर गुजरान करते। पैतृक प्रतिष्ठा का चिह्न यदि कुछ शेष था तो वह पुरानी चिट्ठी-पत्रियों का ढेर तथा हुंडियों का पुलिन्दा, जिनकी स्याही भी उनके मन्द भाग्य की भाँति फीकी पड़ गई थी। पण्डित देवदत्त उन्हें प्राण से भी अधिक प्रिय समझते थे। द्वितीया के दिन जब घर घर लक्ष्मी की पूजा होती है पण्डितजी ठाठ बाट से इन पुलिन्दों की पूजा करते। लक्ष्मी न सही, लक्ष्मी का स्मारक-चिह्न ही सही। दूज का दिन पण्डितजी की प्रतिष्ठा के श्राद्ध का दिन था। इसे चाहे विडम्बना कहो, चाहे

मूर्खता, परन्तु श्रीमान् पण्डित महाशय को उन पत्रों पर बड़ा अभिमान था। जब गाँव में कोई विवाद छिड़ जाता तो यह सड़े गले कागज़ों की सेना ही बहुत काम कर जाती और प्रतिवादी शत्रु को हार माननी पड़ती। यदि सत्तर पीढ़ियों से शस्त्र की सूरत न देखने पर भी लोग क्षत्रिय होने का अभिमान करते हैं तो पण्डित देवदत्त का उन लेखों पर अभिमान करना अनुचित नहीं कहा जा सकता जिनमें ७० लाख रुपयों की रकम छिपी हुई थी।

[२]

वही अमावास्या की रात्रि थी। किन्तु दीपमालिका अपनी अल्प जीवनी समाप्त कर चुकी थी। चारों ओर जुवारियों के लिए यह शकुन की रात्रि थी, क्योंकि आजकी हार सालभर की हार होती है। लक्ष्मी के आगमन की धूम थी। कौड़ियों पर अशर्फियाँ लुट रही थीं। भट्टियों में शराब के बदले पानी बिक रहा था। पण्डित देवदत्त के अतिरिक्त क़स्बा में कोई ऐसा मनुष्य नहीं था, जो कि दूसरों की कमाई समेटने की धुन में हो। आज भोर ही से गिरिजा की अवस्था शोचनीय थी। विषम ज्वर उसे एक एक क्षण में मूर्च्छित कर रहा था। एकाएक उसने चौंक कर आँखें खोलीं और अत्यन्त क्षीण स्वर में कहा—आज तो दीवाली है।

देवदत्त ऐसा निराश हो रहा था कि गिरिजा को चैतन्य देख

कर भी उसे आनन्द नहीं हुआ। बोला—हाँ, आज दीवाली है। गिरिजा ने आँसू-भरी दृष्टि से इधर उधर देख कर कहा—हमारे घर में क्या दीप न जलेंगे ?

देवदत्त फूट फूट कर रोने लगा। गिरिजा ने फिर उसी स्वर में कहा—देखो, आज बरस बरस के दिन घर अँधेरा रह गया। मुझे उठा दो, मैं भी अपने घर में दीप जलाऊँगी।

ये बातें देवदत्त के हृदय में चुभी जाती थीं। मनुष्य की अन्तिम घड़ी लालसाओं और भावनाओं में व्यतीत होती है।

इस नगर में लाला शङ्करदास अच्छे प्रसिद्ध वैद्य थे। वे अपने प्राण-संजीवन औषधालय में दवाओं के स्थान पर छापने का प्रेस रक्खे हुए थे। दवाइयाँ कम बनती थीं किन्तु इश्तहार अधिक प्रकाशित होते थे।

वे कहा करते थे कि बीमारी केवल रईसों का ढकोसला है और पोलिटिकल एकानोमी के (अर्थशास्त्र के) इस विलास-पदार्थ से जितना अधिक सम्भव हो टैक्स लेना चाहिए। यदि कोई निर्धन है तो हो। यदि कोई मरता है तो मरे। उसे क्या अधिकार है कि वह बीमार पड़े और मुफ्त में दवा करावे ? भारतवर्ष की यह दशा अधिकतर मुफ्त दवा कराने से हुई है। इसने मनुष्यों को असावधान और बलहीन बना दिया है। देवदत्त महीने भर से नित्य उनके निकट दवा लेने आता था। परन्तु वैद्यजी कभी उसकी ओर इतना

ध्यान नहीं देते थे कि वह अपनी शोचनीय दशा प्रकट कर सके। वैद्यजी के हृदय के कोमल भाग तक पहुँचने के लिए देवदत्त ने बहुत कुछ हाथ-पैर चलाए। वह आँखोंमें आँसू भरे आता, किन्तु वैद्यजी का हृदय ठोस था। उसमें कोमल भाग था ही नहीं।

वही अमावास्या की डरावनी रात थी। गगन-मण्डल में तारे आधी रात के बीतने पर और भी अधिक प्रकाशित हो रहे थे; मानो श्रीनगर की बुझी हुई दीपावली पर कटाक्षयुक्त आनन्द के साथ मुसकरा रहे थे। देवदत्त एक बेचैनी की दशा में गिरिजा के सिरहाने से उठे और वैद्यजी के मकान की ओर चले। वे जानते थे कि लाला जी बिना फ़ीस लिए कदापि नहीं आएँगे, किन्तु हताश होने पर भी आशा पीछा नहीं छोड़ती। देवदत्त क़दम आगे बढ़ाते चले जाते थे।

[२]

हकीम जी उस समय अपने रामबाण 'बिन्दु' का विज्ञापन लिखने में व्यस्त थे। उस विज्ञापन की भाव-प्रद भाषा तथा आ-कर्षण-शक्ति को देख कर कह नहीं सकते कि वे वैद्य-शिरोमणि थे या सुलेखक-विद्यावारिधि।

पाठक, आप उनके उर्दू विज्ञापन का साक्षात् दर्शन कर लें।

'नाज़रीन! आप जानते हैं कि मैं कौन हूँ? आपका ज़र्द चेहरा, आपका तने लाग़िर, आपका ज़रा सी मेहनत में बेदम हो जाना,

आपका लज्जात दुनिया मे महरूम रहना, आपकी खाना तारीकी, यह सब इस सवाल का नफ़ी में जवाब देते हैं। सुनिए, मैं कौन हूँ। मैं वह शख्स हूँ जिसने इमराज़ इन्सानी को पर्दे दुनिया से ग़ायब कर देने का बीड़ा उठाया है। जिसने इश्तिहारबाज़, जौ फ़रोश गन्दुमनुमा बने हुए हकीमों को बेख़ व बुनसे खोदकर दुनिया को पाक कर देने का अज्म बिलजज्म कर लिया है। मैं वह हैरतअंगेज इन्सान ज़ईफ़ुलबियान हूँ जो नाशाद को दिलशाद, नामुराद को बामुराद, भगोड़े को दिलेर, गीदड़ को शेर बनाता है। और यह किसी जादू से नहीं, मंत्र से नहीं, यह मेरी ईजाद करदा 'अमृत-बिन्दु' के अदना करिशमें हैं। अमृतबिन्दु क्या है, इसे कुछ मैं ही जानता हूँ। महर्षि अगस्त्य ने धन्वन्तरि के कान में इसका नुसख़ा बतलाया था। जिस वक्त आप वी० पी० पार्सल खोलेंगे, आप पर उसकी हकीक़त रौशन हो जायगी। यह आबे हयात है। यह मर्दानगी का जौहर, फ़रज़ानगी का अक्सीर, अक्ल का मुम्बा, और ज़ेहन का सीक़ल है। अगर वर्षों की मुशायरा बाज़ी ने भी आपको शायर नहीं बनाया, अगर शाबान रोज़ के रटन्त पर भी आप इम्तहान में कामयाब नहीं हो सके, अगर दल्लालों की खुशामद और मुवक्किलों की नाज़बर्दारी के बावजूद भी आप अहाते अदालत में भूखे कुत्ते की तरह चक्कर लगाते फिरते हैं, अगर आप गला फाड़ फाड़ चीखने और मेज़ पर हाथ-पैर पटकने पर भी

अपनी तक़रीर से कोई असर पैदा नहीं कर सकते, तो आप अमृत-बिन्दु का इस्तेमाल कीजिए। इसका सब से बड़ा फ़ायदा जो पहले ही दिन मालूम हो जायगा यह है कि आपकी आँखें खुल जाएँगी और आप फिर कभी इश्तिहारबाज़ हकीमों के दामे फ़रेब में न फँसेंगे।'

वैद्यजी इस विज्ञापनको समाप्त कर उच्च स्वर से पढ़ रहे थे। उनके नेत्रों में उचित अभिमान और आशा झलक रही थी कि इतने में देवदत्त ने बाहर से आवाज़ दी। वैद्यजी बहुत खुश हुए। रात के समय उनकी फ़ीस दुगुनी थी। लालटेन लिए हुए बाहर निकले तो देवदत्त रोता हुआ उनके पैरों से लिपट गया और बोला—वैद्यजी, इस समय मुझ पर दया कीजिए। गिरिजा अब कोई सायत की पाहुनी है। अब आप ही उसे बचा सकते हैं। यों तो मेरे भाग्य में जो लिखा है वही होगा; किन्तु इस समय तनिक चल कर आप देख लें तो मेरे दिल की दाह मिट जायगी। मुझे धैर्य हो जायगा कि उसके लिए मुझ से जो कुछ हो सकता था मैं ने किया। परमात्मा जानता है कि मैं इस योग्य नहीं हूँ कि आप की कुछ सेवा कर सकूँ, किन्तु जब तक जीऊँगा आपका यश गाऊँगा और आपके इशारों का गुलाम बना रहूँगा।

हकीमजी को पहले कुछ तरस आया किन्तु यह जुगनू की चमक थी जो शीघ्र स्वार्थ के विशाल अन्धकार में विलीन हो गई।

[४]

वही अमावास्या की रात्रि थी। वृक्षों पर भी सन्नाटा छा गया था। जीतने वाले अपने बच्चों को नींद से जगा जगा कर इनाम देते थे। हारने वाले अपनी रुष्ट और क्रोधित स्त्रियों से क्षमा के लिए प्रार्थना कर रहे थे। इतने में घण्टों के लगातार शब्द वायु और अन्धकार को चीरते हुए कान में आने लगे। उनकी सुहावनी ध्वनि इस निस्तब्ध अवस्था में अत्यन्त भली प्रतीत होती थी। यह शब्द समीप होते गये और अन्त में पण्डित देवदत्त के समीप आकर उसके खँड़हरों में डूब गए। पण्डित जी उस समय निराशा के अथाह समुद्र में गोते खा रहे थे। शोक में वे इस योग्य भी नहीं थे कि प्राणों से भी अधिक प्यारी गिरिजाकी दवा दरपन कर सकें। क्या करें? इस निष्ठुर वैद्य को यहाँ कैसे लावें? ज़ालिम! मैं सारी उमर तेरी गुलामी करता। तेरे इश्तहार छापता। तेरी दवाइयाँ कूटता। आज पण्डित जी को यह हासमय ज्ञान हुआ है कि सत्तर लाख की चिट्ठी-पत्रियाँ इतनी कौड़ियों के मोल की भी नहीं। पैतृक प्रतिष्ठा का अहंकार अब आँखों से दूर हो गया। उन्हों ने उस मखमली थैले को सन्दूक से बाहर निकाला और उन चिट्ठी-पत्रियों को जो बाप-दादे की कमाई का शेषांश थीं, और प्रतिष्ठा की भाँति जिनकी रक्षा की जाती थी, वे एक एक करके दीया को अर्पण करने लगे। जिस तरह सुख और

आनन्द से पालित शरीर चिता की भेंट हो जाता है, उसी प्रकार यह कागज़ी पुतलियाँ भी उस प्रज्वलित दीया के धधकते हुए मुँह का ग्रास बनती थीं। इतने में किसी ने बाहर से पण्डितजी को पुकारा। उन्होंने चौंक कर सिर उठाया। वे नींद से जागे, और अँधेरे में टटोलते हुए दरवाज़े तक आये तो देखा कि कई आदमी हाथ में मशाल लिये हुए खड़े हैं और एक हाथी अपने सूँड़ से उन एरण्ड के वृक्षों को उखाड़ रहा है, जो द्वार पर द्वारपालों की भाँति खड़े थे। हाथी पर एक युवक बैठा हुआ है, जिसके सिर पर केसरिया रङ्ग की रेशमी पाग है। माथे पर अर्द्ध चन्द्राकार चन्दन, भाले की तरह तनी हुई नोकदार मोंछें, मुखारविन्द से प्रभाव और प्रकाश टपकता हुआ, कोई सरदार मालूम पड़ता था। उसका कलीदार अँगरखा और चुनावदार पैजामा, कमर में लटकती हुई तलवार, और गर्दन में सुनहरे कंठे और ज़ंजीर, उसके सजीले शरीर पर अत्यन्त शोभा पा रहे थे। पण्डितजी को देखते ही उसने रकाब पर पैर रक्खा और नीचे उतर कर उनकी बन्दना की। उसके इस विनीत भाव से कुछ लज्जित होकर पण्डित जी बोले—आपका आगमन कहाँ से हुआ?

नवयुवक ने बड़े नम्र शब्दों में जवाब दिया। उसके चेहरे से भलमनसाहत बरसती थी—मैं आपका पुराना सेवक हूँ। दास का घर राजनगर में है। मैं वहाँ का जागीरदार हूँ। मेरे पूर्वजों पर

आपके पूर्वजों ने बड़े अनुग्रह किये हैं। मेरी इस समय जो कुछ प्रतिष्ठा तथा सम्पदा है सब आपके पूर्वजों की कृपा और दया का परिणाम है। मैंने अपने अनेक स्वजनों से आपका नाम सुना था और मुझे बहुत दिनों से आपके दर्शनों की आकांक्षा थी। आज वह सुअवसर भी मिल गया। अब मेरा जन्म सफल हुआ।

पण्डित देवदत्त की आँखों में आँसू भर आये। पैतृक प्रतिष्ठा का अभिमान उनके हृदय का कोमल भाग था।

वह दीनता जो उनके मुख पर छाई हुई थी थोड़ी देर के लिए विदा हो गई। वे गम्भीर भाव धारण करके बोले—यह आपका अनुग्रह है जो ऐसा कहते हैं। नहीं तो मुझ जैसे कपूत में तो इतनी भी योग्यता नहीं है जो अपने को उन लोगों की सन्तति कह सकूँ। इतने में नौकर ने आँगन में फ़र्श बिछा दिया। दोनों आदमी उस पर बैठे और बातें होने लगीं, वे बातें जिनका प्रत्येक शब्द पण्डित जी के मुख को इस तरह प्रफुल्लित कर रहा था जिस तरह प्रातःकाल की वायु फूलों को खिला देती है। पंडित जी के पितामह ने नवयुवक ठाकुर के पितामह को पचीस सहस्र रुपये कर्ज़ दिये थे। ठाकुर अब गया में जाकर अपने पूर्वजों का श्राद्ध करना चाहता था, इस लिए ज़रूरी था कि उसके जिम्मे जो कुछ ऋण हो उसकी एक एक कौड़ी चुका दी जाय। ठाकुर को पुराने बही-खाते में यह ऋण दिखाई दिया। पचीस के अब पचहत्तर

हज़ार हो चुके थे। वही ऋण चुका देने के लिए ठाकुर २०० मील से आया था। धर्म ही वह शक्ति है जो अन्तःकरण में ओजस्वी विचारों को पैदा करती है। हाँ, इस विचार को कार्य्य में लाने के लिए एक पवित्र और बलवान् आत्मा की आवश्यकता है। नहीं तो वे ही विचार क्रूर और पापमय होजाते हैं। अन्त में ठाकुर ने पूछा—आपके पास तो वे चिट्ठियाँ होंगी?

देवदत्त का दिल बैठ गया। वे सँभल कर बोले—सम्भवतः हों। कुछ कह नहीं सकते। ठाकुर ने लापरवाही से कहा—ढूँढ़िए, यदि मिल जायँ तो हम लेते जायँगे।

पंडित देवदत्त उठे। लेकिन हृदय ठण्डा हो रहा था। शंका होने लगी कि कहीं भाग्य हरे बाग़ न दिखा रहा हो। कौन जाने वह पुर्जा जलकर राख हो गया या नहीं। यह भी तो नहीं मालूम कि वह पहले भी था या नही। यदि न मिला तो रुपये कौन देता है। शोक! दूध का प्याला सामने आकर हाथ से छूटा जाता है। हे भगवन्! वह पत्री मिल जाय। हमने अनेक कष्ट पाये हैं। अब हम पर दया करो। इस प्रकार आशा और निराशा की दशा में देवदत्त भीतर गए और दीया के टिमटिमाते हुए प्रकाश में बचे हुए पत्रों को उलट पुलट कर देखने लगे। वे उछल पड़े और उमङ्ग में भरे हुए पागलों की भाँति आनन्द की अवस्था में दो तीन बार कूदे। तब दौड़ कर गिरिजा को गले से लगा लिया,

और बोले—प्यारी, यदि ईश्वर ने चाहा तो तू अब बच जायगी। इस उन्मत्तता में उन्हें एकदम यह नहीं जान पड़ा कि 'गिरिजा' तो अब वहाँ नहीं है, केवल उसकी लोथ है।

देवदत्त ने पत्री को उठा लिया और द्वार तक वे इस तेज़ी से आये मानों पाँव में पर लग गये हैं। परन्तु यहाँ उन्होंने अपने को रोका और हृदय में आनन्द की उमड़ती हुई तरंग को रोक कर कहा—यह लीजिये, यह पत्री मिल गई। संयोग की बात है, नहीं तो सत्तर लाख के कागज़ दीमकों के आहार बन गये।

आकस्मिक सफलता में कभी कभी सन्देह बाधा डालता है। जब ठाकुर ने उस पत्री के लेने को हाथ बढ़ाया तो देवदत्त को सन्देह हुआ कि कहीं वह उसे फाड़ कर फेंक न दे। यद्यपि यह सन्देह निरर्थक था, किन्तु मनुष्य कमज़ोरियों का पुतला है। ठाकुर ने उनके मनके भाव को ताड़ लिया। उसने बेपरवाही से पत्री को लिया और मशाल के प्रकाश में देख कर कहा—अब मुझे पूर्ण विश्वास हुआ। यह लीजिये, आपका रुपया आप के समक्ष है। आशीर्वाद दीजिये कि मेरे पूर्वजों की मुक्ति हो जाय।

यह कह कर उसने अपनी कमर से एक थैला निकाला और उसमें से एक एक हज़ार के पचहत्तर नोट निकाल कर देवदत्त को दे दिये। पण्डितजी का हृदय बड़े वेग से धड़क रहा था। नाड़ी

तीव्र गति से कूद रही थी। उन्होंने चारों ओर चौकन्नी दृष्टि से देखा कि कहीं कोई दूसरा तो नहीं खड़ा है और तब काँपते हुए हाथों से नोटों को ले लिया। अपनी उन्नता प्रकट करने की व्यर्थ चेष्टा में उन्होंने नोटों की गणना भी नहीं की। केवल उड़ती हुई दृष्टि से देखकर उन्हें समेटा और जेब में डाल दिया। नंगे सिर, नंगे बदन, आँखें लाल, डरावनी सूरत, कागज़ का एक पुलिन्दा लिये दौड़ते हुए आये और औषधालय के द्वार पर इतने ज़ोर से हाँक लगाने लगे कि वैद्यजी चौंक पड़े और कहार को पुकार कर बोले कि—दरवाज़ा खोल दे। ये महात्मा बड़ी रात गये किसी बिरादरी की पंचायत से लौटे थे। उन्हें दीर्घ निद्रा का रोग था, जो वैद्यजी के लगातार भाषण और फटकार की ओषधियों से भी कम न होता था। आप ऐंठते हुए उठे और किवाड़ खोल कर हुक्का-चिलम की चिन्ता में आग ढूँढ़ने चले गये। हकीमजी उठने की चेष्टा कर रहे थे कि सहसा देवदत्त उनके सम्मुख जाकर खड़े हो गये और नोटों का पुलिन्दा उनके आगे पटक कर बोले—वैद्यजी, ये पचहत्तर हज़ार के नोट हैं। यह आपका पुरस्कार और आपकी फ़ीस है। आप चल कर गिरिजा को देख लीजिये, और ऐसा कुछ कीजिये कि वह केवल एक बार आँखें खोल दे। यह उसकी एक दृष्टि पर न्योछावर है—केवल एक दृष्टि पर! आपको रुपये मनुष्य की जान से प्यारे हैं। वे आपके समक्ष

हैं। मुझे गिरिजाकी एक एक चितवन इन रुपयों से कई गुना प्यारी है।

वैद्यजी ने लज्जामय सहानुभूति से देवदत्त की ओर देखा और केवल इतना कहा—मुझे अत्यन्त शोक है, मैं सदैव के लिए तुम्हारा अपराधी हूँ। किन्तु तुमने मुझे शिक्षा दे दी। ईश्वर ने चाहा तो अब ऐसी भूल कदापि न होगी। मुझे शोक है। सचमुच महाशोक है।

ये बातें वैद्यजी के अन्तःकरण से निकली थीं।

२७

रामायण का महत्त्व

हिन्दी देश और भारतवर्ष के लिए रामायण को एकता के साधनों में गिनना चाहिए। उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक प्रत्येक हिन्दू-बालक और वृद्ध रामायण के नाम से परिचित है। श्रीरामचन्द्र जी के जीवन-चरित्र को प्राचीन भारत-वर्ष के नेताओं ने ऐसा महत्व-पूर्ण समझा, कि वर्ष में एक नहीं, अपितु दो दिन उनके नाम के स्मरण के लिये नियत किए गए—रामनवमी और विजयदशमी! मेला मनाने की प्रथा प्रचलित की गई, और राम-यण की कथा सुनाने की रीति जारी की गई। अस्तु, रामायण को हम अपने राष्ट्रीय जीवन का स्तंभ कह सकते हैं। रामायण के

प्रचार में जो कुशलता प्राचीन भारत के धार्मिक और राष्ट्रीय नेताओं ने दिखाई, वह आश्चर्य-जनक है। करोड़ों मनुष्यों में एक नाम के प्रेम को सफलता-पूर्वक ऐसा दृढ़ कर देना कोई सहज काम न था। इस प्रचार के लिए कई सौ वर्षों का आंदोलन आवश्यक हुआ होगा। उस आंदोलन का इतिहास हम से छिपा हुआ है। परन्तु हम अमेरिका में देखते हैं कि आज कल वाशिंगटन और लिंकन के उत्सव मनाए जाते हैं। लिंकन का उत्सव तो एक बिलकुल नई संस्था का काम है। इसी प्रकार हिन्दू-जाति के प्राचीन नेताओं ने विशेषत: श्रीरामचन्द्र जी के जीवन के वर्णन को राष्ट्रीय उन्नति का साधन समझा; बड़े परिश्रम और उत्साह से सारे देश में इस संस्था की स्थापना की। हम इस विशाल मनोहर वृक्ष को देखते हैं, पर जड़ें हमारी आँखों से छिपी हुई हैं। हिन्दी देश के लिए तो रामायण-काव्य ऐसा है, जैसे मछली के लिए पानी। सोते-जागते, उठते-बैठते, घर में, बाज़ार में, हम राम-नाम ही सुनते हैं। हिन्दी-देश के हिन्दुओं का सामाजिक जीवन राम-नाम की सुगंधि से महक रहा है।

मैं अब यह पूछना चाहता हूँ कि प्राचीन भारत के बुद्धिमान् और दूरदर्शी राष्ट्रीय नेताओं ने राम-चरित्र और रामायण को क्यों ऐसी ऊँची पदवी दी? उन का क्या विचार था, और उनको रामायण के द्वारा क्या काम सिद्ध करना था? आज कल भी रामा-

यण हमारे लिये किस प्रकार शिक्षाप्रद है? राष्ट्रीय आंदोलन की सफलता के लिये रामायण का प्रचार सदा आवश्यक रहेगा।

पहले तो मैं यह जताना चाहता हूँ कि बहुत से हिन्दू जातीय अवनति के दिनों में रामायण का वास्तविक अभिप्राय ही भूल गए हैं। इसके विपरीत विभिन्न धार्मिक प्रचारकों ने राम-नाम से अपने सम्प्रदायों के लिए लाभ उठाने का प्रयत्न किया है। हिन्दू शायद रामायण की महिमा इसमें समझते हैं, कि ईश्वर अथवा विष्णु ने अवतार लिया था, और इस अवतार का वर्णन बाल्मीकि के महाकाव्य में है। खैर, मैं यहाँ सम्प्रदायों के सिद्धांतों की तुलना नहीं करता। परन्तु इतना कहना काफ़ी समझता हूँ कि यदि केवल ईश्वर के किसी अवतार का वर्णन होता, तो यह काव्य और ये उत्सव भारतवर्ष के एक कोने से दूसरे कोने तक न फैल जाते। सम्प्रदायों का क्षेत्र सदा संकुचित होता है। केवल धार्मिक दृष्टि-कोण से रामायण को पढ़ने वाले हिन्दू कभी सच्चे भेद को नहीं जान सकते। मैं यहाँ इस प्रश्न पर वादानुवाद भी नहीं करता कि श्रीरामचन्द्र जी ईश्वर अथवा विष्णु का अवतार थे, या नहीं। मैं केवल यह पूछता हूँ कि प्राचीन भारतवर्ष में रामायण का ऐसा महत्व क्यों माना गया?

हम अपनी असीम अधोगति के कारण अब रामायण से प्रायः केवल कुटुम्ब-संबंधी वैयक्तिक गुणों की शिक्षा लेते हैं।

बहुत से हिन्दू कहते हैं कि श्रीरामचन्द्रजी ने अपने पिता के वचन का पालन किया, और वह अपने बाप के बड़े आज्ञाकारी पुत्र थे। पिता का आदेश मानने अथवा पिता के वचन को सच्चा रखने की शिक्षा भी निस्संदेह रामायण में पाई जाती है। परन्तु ऐसे साधारण घरेलू गुणों के आधार पर किसी देश में किसी मनुष्य के लिए न तो उत्सव स्थापित किए गए, और न महाकाव्य लिखे गए हैं। यह रामायण का सारांश नहीं है। यह केवल आरंभ की एक घटना है। पुनः यदि पिता का वचन मानने से देश और जाति की हानि होती हो, तो ऐसा आज्ञाकारी पुत्र होना भी ठीक नहीं है। पिता की आज्ञा पर सदा चलना केवल बालकों का कर्तव्य है। बीस-पच्चीस वर्ष की आयु पाने पर प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि अपने विवेक के अनुसार जीवन व्यतीत करे। भगवान् बुद्ध और हक़ीक़तराय ने तो पिता की आज्ञा का पालन नहीं किया, परन्तु हम उन का भी आदर करते हैं। अस्तु, ऐसे वैयक्तिक कुटुंब-सदाचार से रामायण का सार हमारी समझ में नहीं आ सकता।

हिन्दुओं में सैकड़ों वर्षों की गुलामी के कारण केवल धार्मिक और वैयक्तिक गुणों पर ध्यान देने का स्वभाव पैदा हो गया है। स्वतंत्र राष्ट्र और प्रजातंत्र शासन-प्रणाली के अभाव से जातीय और राजनैतिक आदर्श हमारी समझ में शीघ्र नहीं आते। मैं

स्वयं राजनैतिक (पोलिटिकल) पशु हूँ । इस कारण मैं अपने विचारों के अनुसार रामायण का अभिप्राय बताता हूँ ।

रामायण की आधी शिक्षा तो आदि-कवि वाल्मीकि ने काव्य के आदि के श्लोकों ही में स्पष्ट रूप से प्रकट करदी है । वाल्मीकि जी नारद मुनि से पूछते हैं, कि जगत् में कई विशेष गुणों से विभूषित कोई व्यक्ति है, या नहीं ? इन गुणों के वर्णन से हमें प्राचीन हिन्दू आदर्श भी विदित हो जाता है । पीछे जो 'संन्यास', 'योग', 'तप', 'वैराग्य', 'निःस्पृहता', 'परमहंसत्व' आदि के खोखले, व्यर्थ और हानिकारक आदर्श भारतवर्ष में प्रचलित हो गए हैं, उन सब का रामायण और महाभारत में नाममात्र भी पाया नहीं जाता । मुझे संस्कृत-साहित्य में रामायण और महाभारत में अधिक प्रेम है । मैं इन दोनों पुस्तकों को भगवद्गीता, वेदान्त-सार और योग-सूत्रों से भी श्रेष्ठ मानता हूँ । रामायण और महाभारत से हमें जीते-जागते शिक्षित, सदाचारी, क्रियाशील, शूर और सभ्य मनुष्यों का परिचय मिलता है । शरीर को पुष्ट और सुन्दर बनाकर, विद्याभ्यास कर के, विवाह रचाकर, तथा नागरिकों के सब कर्तव्यों का पालन करके जीवन को सफल करना प्राचीन हिन्दुओं का आदर्श था । पीछे तो संसार-सागर के पार उतरने की ऐसी बकवाद शुरू हो गई कि हम रामायण का आदर्श बिलकुल ही भूल गए । हम अशिक्षित, दुर्बल, भूखे, नङ्गे ब्रह्मचारी साधुओं को

अपना गुरु और नेता मानने लग गए। जिन असभ्य साधुओं में न तो शरीर का बल और सौंदर्य हो, न इतिहास, साहित्य और विज्ञान का परिचय हो, न तो राजनीति को समझने की शक्ति हो, और न युद्ध में लड़ने का वीर्य हो, न तो स्त्री का प्रेम और आदर हो और न बालकों से स्नेह हो, उन्हें अब धार्मिक नेता और गुरु माना जाता है। जो मूर्ख सारी अभिलाषाओं का त्याग कर, कुटुम्ब, स्त्री, राष्ट्र, जाति पर लात मार, वन में बैठ कर, अपने शरीर को सुखा कर, आँखें बन्द कर बैठ जाय और कभी कभी सचेत भी हो जाय, वह तो मानो धर्म-रूपी हिमालय के गौरीशंकर पर्वत पर चढ़ गया! हम ऐसे ही निकम्मे, टूटे-फूटे, अधूरे, अशिक्षित संन्यासियों को 'आदर्श मनुष्य' मानने लगे। परन्तु रामायण और महाभारत में इस झूठे आदर्श का लेश-मात्र भी नहीं मिलता। यदि प्राचीन हिन्दुओं को ऐसी मूर्खता नम्रता और शून्यता से प्रेम होता, तो सारे भारतवर्ष में हिन्दू सभ्यता कभी न फैलती। जब हम रामायण को पढ़ते हैं, तो प्रतीत होता है कि हम आधुनिक यूरोप में हैं। परन्तु जब हम पश्चात्कालिक धर्म-ग्रन्थों को पढ़ते हैं, तो श्मशान अथवा चिकित्सालय की दुर्गन्ध आती है। रामायण का संदेश है—"कुछ करो" परन्तु "अध्यात्मविद्या" की दूसरी पुस्तकों का उपदेश है—"कुछ मत करो।" यही भेद है।

अस्तु, श्री रामचन्द्र जी में वे कौन-से गुण थे, जिनकी

नारद मुनि प्रशंसा करते हैं ? मैं यहाँ उन महत्त्व पूर्ण श्लोकों को उद्धृत करता हूँ—

"तपः स्वाध्यायनिरतस्तपस्वी वाग्विदांवरः;
नारदं परिपप्रच्छ बालमीकि र्मुनि सत्तमः।
को ह्यस्मिन् प्रार्थितो लोके सद्गुणैर्गुणवत्तरः;
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रतः।
उदाराचारसम्पन्नः सर्वभूत हिते रतः;
वीर्यवांश्च वदान्यश्च कश्चापि प्रियदर्शनः।
जितक्रोधो महान् कश्च धृतिमान् कोऽनसूयकः;
संजातरोषात् कस्माच्च देवता अपि बिभ्येति।
क उदारः समर्थश्च त्रैलोक्यस्यापि रक्षणे;
कः प्रजानुग्रहरतः को निधिर्गुणसम्पदाम्।
समग्रा रूपिणी लक्ष्मीः कमेकं संश्रिता; नरम्;
अनिलानलसूर्येन्दुशक्रोपेन्द्रसमश्च कः।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं त्वत्तो नारद तत्त्वतः;
देवर्षे त्वं समर्थोऽसि ज्ञातुमेवंविधं नरम्।
कालत्रययज्ञस्तच्छ्रुत्वा वाल्मीकेर्नारदो वचः;
श्रूयतामित्युपामन्त्र्य तमृषिं प्रत्यभापत।
बहवो दुर्लभाश्चैव त्वयैते कीर्तिता गुणाः;
एकेनहि नृलोकेऽस्मिन् गुणा एते सुदुर्लभाः।

देवेष्वपि न पश्यामि कश्चिदेभिर्गुणैर्युतम्;
श्रूयतां तु गुणैरेभिर्यो युक्तो नरचन्द्रमाः।

अर्थात्, वक्ताओं में श्रेष्ठ, तप और स्वाध्याय में संलग्न, तपस्वी, मुनि-श्रेष्ठ वाल्मीकि ने नारद से पूछा कि इस संसार में सद्गुणों से अलंकृत, गुणियों में श्रेष्ठ, धर्मात्मा, कृति, सत्यवादी, दृढ़व्रत कौन कहा जाता है? उदार आचार में कौन संपन्न है, सब प्राणियों के हित में कौन रत है, कौन वीर, उदार और सुंदर है? वह महान् व्यक्ति कौन है, जिसने क्रोध को जीत लिया है, धैर्यवान् है, जो निष्कलंक है, तथा जिसके क्रोध उत्पन्न होने पर देवता भी डरते हैं? कौन उदार है, त्रैलोक्य की भी रक्षा करने में समर्थ है, कौन प्रजा-हित में रत है, सब गुणों और संपदाओं का भाण्डार है? किस एक व्यक्ति में लक्ष्मी समग्ररूप से आश्रित है, और कौन अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, इन्द्र और उपेन्द्र के समान है? हे नारद, तुम से वास्तव में मैं यही सुनने की इच्छा करता हूँ, क्योंकि हे देवर्षि तुम्हीं इस प्रकार के व्यक्ति को जानने में समर्थ हो।

तीनों काल के जानने वाले नारद मुनि ने वाल्मीकि के ये वाक्य सुन कर कहा—अच्छा, सुनो। तुमने जिन गुणों का वर्णन किया, वे बहुत और दुर्लभ हैं। इतने दुर्लभ गुणों का एक मनुष्य में इस संसार में पाना बहुत कठिन है। इन गुणों से युक्त तो मैं देवताओं में भी किसी को नहीं देखता। हाँ, मनुष्यों में चन्द्रमा के समान इन

गुणों से युक्त कौन है, यह सुनो।

यहाँ 'निःस्पृहता', 'वैराग्य', 'परमहंसत्व' और 'तप' आदि आदर्शों का कुछ जिक्र नहीं है। अब हम समझ सकते हैं कि प्राचीन हिन्दुओं ने श्रीरामचन्द्र जी का इतना आदर क्यों किया था। मैं इस गुण की एक नए शब्द से व्याख्या करता हूँ। वह है 'व्यक्तित्व' अथवा 'पूर्ण मनुष्यत्व'। साधारण मनुष्यों में केवल १० फी सदी, २० फी सदी अथवा ५० फी सदी मनुष्यत्व होता है। कोई मनुष्य विद्वान् है, तो प्रकृति ने उसे सुन्दर शरीर नहीं दिया। कोई मनुष्य सदाचारी है, पर विद्वान् नहीं है। कोई बहुत सुन्दर है, परन्तु दुष्ट स्वभाव है। इस प्रकार पूर्ण व्यक्तित्व की परीक्षा में हम सब पूरे नहीं उतरते। कुछ-न-कुछ कमी रह जाती है। पूर्ण मनुष्यत्व के लिए शरीर का स्वास्थ्य एवं सौंदर्य, विद्या, और सदाचार, तीनों अंग आवश्यक हैं। मनुष्य जीवन के ये ही तीन विभाग हैं। तीनों का विकास करके मनुष्य सच्चा आनन्द पा सकता है। प्राचीन समय में श्रीरामचन्द्र जी में यह विशेषता देखी गई कि उन में इन तीनों विभागों का विकास बहुत ही प्रशंसनीय था। १०० फी सदी पूर्ण मनुष्यत्व तो किसी मनुष्य को प्राप्त नहीं हो सकता; क्योंकि यह परीक्षा अत्यन्त कठिन है; पर हम यों समझ सकते हैं कि प्राचीन हिन्दुओं की सम्मति के अनुसार श्रीरामचन्द्र जी को इस परीक्षा में ६० अथवा ६५ नम्बर मिले। वह मुनि और

इतिहास यह देखते थे कि इस व्यक्ति में शरीर का सौंदर्य भी है, विद्या भी है, और सदाचार भी है। इसी कारण नारद मुनि ने कहा कि ये गुण तो बहुत और दुर्लभ भी हैं। रामायण का प्रथम उद्देश्य यही है कि 'पूर्ण व्यक्तित्व' का ज्ञान हो। यही प्राचीन ग्रीस देश का आदर्श था।

इसके अतिरिक्त प्रत्येक मनुष्य का एक विशेष गुण भी होता है। पूर्ण व्यक्तित्व की परीक्षा में श्रीरामचन्द्र जी ने एक विषय में अर्थात् क्षात्र-धर्म में सबसे अधिक नम्बर पाए। आज कल तो ऐसे नपुंसक साधुओं को आदर्श मनुष्य माना जाता है, जो तलवार या बन्दूक को देख कर ही घबरा जायँ।

परन्तु प्राचीन भारतवर्ष का यह आदर्श न था। श्रीरामचन्द्र जी की विशेष कीर्ति तो युद्ध में वीरता के कारण ही थी—पिता का आज्ञाकारी पुत्र होने से नहीं। इस बात का प्रमाण हमें भगवद्गीता में मिलता है। ११ वें अध्याय में श्रीकृष्ण जी संसार की सब उत्तम वस्तुओं का वर्णन करके कहते हैं कि वह सब मैं ही हूँ। जिस प्रकार नदियों में गंगा, मुनियों में कपिल इत्यादि श्रेष्ठ हैं, वैसे ही इन शब्दों के साथ साथ ये शब्द भी पाए जाते हैं— "रामः शस्त्रभृतामहम्"। इस से प्रत्यक्ष है कि श्रीरामचन्द्र जी को ऐसा योद्धा माना जाता था, जैसे आजकल फ्रेडरिक, नेपोलियन, वाशिंगटन, मोल्टके, अनवरपाशा आदि सेनापतियों को माना

जाता है। राम का पूर्ण महत्व घर में नहीं, नगर में नहीं, परिषद् में नहीं, किन्तु रणक्षेत्र में था—"रामःशस्त्रभृतामहम्"।

पूर्ण मनुष्यत्व के बहुत से अद्भुत गुण तो श्रीरामचन्द्र जी में पाए जाते थे, परन्तु ऐसे वैयक्तिक गुणों के कारण भी किसी जाति ने किसी महापुरुष के लिए उत्सव नहीं मनाए, और न महाकाव्य ही लिखे हैं। महापुरुष तो बहुत हो चुके हैं। पर कोई जाति किसी बड़ी अनुपम राष्ट्रीय सेवा के लिए ही क्या एक महापुरुष को इस प्रकार अपने ऐतिहासिक आकाश का सूर्य्य बना सकती है? किसी व्यक्ति में कितने ही गुण हों, पर यदि वह राष्ट्रीय सेवा करके जाति को लाभ नहीं पहुँचाता, तो इतिहास में उस के नाम का स्मरण नहीं किया जायेगा। श्रीरामचन्द्र जी ने हिन्दू-जाति की कौन-सी बड़ी राजनैतिक सेवा की, जिसके कारण उन का ऐसा महत्व माना गया?

हम अपनी जातीय अधोगति के कारण राम के चरित्र को केवल वैयक्तिक दृष्टि-कोण से देखते हैं। हम समझते हैं कि रावण सीता जी को भगा कर ले गया और इस कारण श्रीरामचन्द्र जी सेना लेकर लंका तक जा पहुँचे। रावण सीता जी को भगा कर ले गया हो, या न ले गया हो, यह एक तुच्छ प्रश्न है। ऐसे वैयक्तिक झगड़ों के कारण इतने बड़े संग्राम नहीं होते। यह तो ऐसी ही बात है, जैसे कोई कहे कि आस्ट्रिया के राजकुमार की हत्या के कारण

यूरोप का महायुद्ध वर्षों तक होता रहा। प्राचीन ग्रीस देश के महाकाव्य 'इलियड' में भी इसी प्रकार लिखा है कि एक राजा किसी दूसरे राजा की स्त्रीको बहका कर अपने साथ ले गया (परन्तु वह स्त्री स्वयं भी जाना चाहती थी) और इस कुकर्म के कारण दश वर्ष तक ऐसी लड़ाई हुई, जिस में ग्रीस-देश की सब जातियों ने भाग लिया, और सैनिक भेजे। परन्तु यह कौन विश्वास कर सकता है कि ऐसे छोटे कारण का इतना बड़ा कार्य हो सकता है।

इतिहास कोई भानमति का खेल नहीं है। बड़ी घटनाओं के बड़े कारण होते हैं। और यदि श्रीरामचन्द्रजी अपनी धर्मपत्नी को फिर अपने घर ले आए, तो इससे सारी जाति में कृतज्ञता का ऐसा दृढ़ भाव क्यों कर उत्पन्न हो सकता था? यदि एक राजा दूसरे राजा से निजी बातों के लिए युद्ध करता, तो इस से सारे भारतवर्ष में उसकी ऐसी धूम क्योंकर मच सकती थी? यदि वह अपनी स्त्री को बचा लाए, तो अच्छी बात हुई। वह आनंद से रहें। यह कोई राष्ट्रीय सेवा नहीं मानी जा सकती, जिसके लिए बड़े काव्य लिखे जाएँ।

राम और रावण के युद्ध के क्या कारण थे? मेरी तुच्छ सम्मति में यह राम और रावण की निजी लड़ाई नहीं, किन्तु भारतवर्ष की दूसरी अहिन्दू-जातियों के साथ हिन्दू-जाति का अन्तिम संग्राम था। उस समय हिन्दू-जाति ने उत्तर भारत में अपनी

सभ्यता स्थापित की थी। इनकी भारतवर्ष में वैसी ही स्थिति थी, जैसी दक्षिण अफ्रीका में आज कल बोअरों और अँग्रेज़ों की है। अहिन्दू-जातियाँ दक्षिण में थीं। उस समय कई जातियाँ मिल कर प्रेम से एक देश में नहीं रह सकती थीं। सच पूछो, तो आज भी जगत् की ऐसी ही शोचनीय दशा है। दक्षिण से हिन्दू-जाति को सदा शंका रहा करती थी। यह 'दक्षिण का प्रश्न' उस समय हिन्दुओं के लिए सब से बड़ा राजनीतिक मसला था। रावण एक ऐसा नेता था जो दक्षिण की अहिन्दू-जातियों का संगठन करके उत्तर की ओर शायद आक्रमण करने की इच्छा भी रखता रहा हो। रावण के शरीर पर दस सिर लगा कर हमारे कवियों ने जता दिया है कि वह एक उच्च कोटि का चतुर और प्रभावशाली नेता था। मेरा मत है कि यदि वह सीता-हरण न करता, तो भी यह युद्ध अवश्य होता। हिन्दू और अहिन्दू-जातियाँ साथ मिल कर भारतवर्ष में रह नहीं सकती थीं। हिन्दू-सभ्यता की दिग्विजय अनिवार्य थी। राम उत्तर की हिन्दू-जाति के प्रतिनिधि और नेता थे। रावण को हरा कर उन्होंने हिन्दू-सभ्यता को दक्षिण तक फैलाने के लिए एक मार्ग निकाला। फिर ब्राह्मणों और ऋषियों ने प्रचार आरंभ किया। पहले तलवार जंगल को काटती है, फिर शान्ति से शिक्षा देने वाले प्रचारक और अध्यापक काम कर सकते हैं। रावण की सेना के विनाश से सारा दक्षिण

हिन्दू-सभ्यता के लिए खुल गया। भारतवर्ष की एकता में कुछ बाधा न रही। यदि आज दक्षिण-भारत अहिन्दू होता, तो हमें कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता। दक्षिण में शंकराचार्य, रामानुजाचार्य और दूसरे प्रसिद्ध हिन्दू-नेताओं ने जन्म लिया। "पण्डिता दाक्षिणात्याः"—"दक्षिण के पंडित विख्यात हैं।"—ये शब्द भी प्रायः सुने जाते हैं। दक्षिण के मराठों ने हिन्दू-साम्राज्य स्थापित करके हिन्दू-सभ्यता की रक्षा की। ये सब फल राम के युद्ध से हमें मिले। दक्षिण ने हिन्दू-सभ्यता की जो सेवा की है, उसका आरंभ वास्तव में इसी राम-रावण-युद्ध से हुआ।

इस काम में राम ने जो चतुराई दिखाई, उसका वर्णन पढ़ कर तो आज कल के अँगरेज़ और फ्राँसीसी राजनैतिक नेताओं और सेनापतियों का ध्यान तुरन्त आ जाता है। उन्होंने दक्षिण के कई छोटे छोटे राजाओं को साम, दाम और भेद से अपने साथ मिला लिया। पर कुछ रावण के पक्षपाती भी रहे होंगे। विभीषण को फोड़ लेना बड़ी नीति का खेल था। ऐसी चालें अँगरेज़ों ने भी भारतवर्ष में बहुत चली हैं। हम हिन्दू कहते हैं कि विभीषण एक पवित्र और धार्मिक मनुष्य था, जो रावण के पाप को देख कर भाई का विरोधी हो गया। यह हमारी पुरानी साम्राज्य-लोलुपता का दृश्य है। वास्तव में विभीषण ने लालच से राम की सहायता की,

ताकि लङ्का का सिंहासन उसे मिल जाय। अँगरेज़ों को कई ऐसे विभीषण भारतवर्ष और अफ़गानिस्तान में मिले हैं। जनता में आज तक यह कहावत चली आती है, 'घर का भेदिया लङ्कादाह।' अन्त में विभीषण राम के साथ अयोध्या आया, जैसे इराक़ अथवा हेजाज़ के बादशाह अब लन्दन जाते हैं। विभीषण राम का मित्र बन कर लङ्का पर शासन करना चाहता था। यही उत्तर के हिन्दू-नेताओं की भी इच्छा थी। बहुत से साधारण हिन्दू समझते हैं कि श्रीरामचन्द्र जी कोई सीधे-सादे भोले मनुष्य थे।..परन्तु रावण के प्रतिकूल सेना इकट्ठी करना और विभीषण को फोड़ना तो बड़ी साज़िश का जाल फैलाना था। जिस प्रकार अँगरेज़ अपनी सभ्यता आज एशिया और अफ्रीका में फैला रहे हैं, उसी नीति से राम ने दक्षिण में हिन्दुओं का प्रभाव जमाया। हिन्दू-सभ्यता के लिए एक नए युग का आरम्भ हुआ। हिन्दुओं को दक्षिण की ओर से कुछ शङ्का न रही। दूर दूर यह समाचार सुना गया कि अयोध्या के राजा ने दक्षिण का मार्ग खोल दिया है, और वहाँ सब हिन्दुओं को अभयदान दे दिया है। यों सब काम एकदम सिद्ध हो गए—रोटी, रक्षा, धर्म-प्रचार, सभ्यता, एकता और जाति का भविष्य।

ऐसी अद्भुत राष्ट्रीय सेवा करने वाले राजा राम के लिए वाल्मीकि ने महाकाव्य लिखा, और जाति ने दो उत्सव जारी

किए। मुझे आशा है कि हमारे पण्डित रामायण के द्वारा केवल धार्मिक और वैयक्तिक गुणों का उपदेश न देंगे, अपितु महाकाव्य का वास्तविक अभिप्राय समझ कर श्रीरामचन्द्रजी की राष्ट्रीय सेवा की ओर भी नवयुवकों का ध्यान आकर्षित करेंगे। यतो रामस्ततोजयः।

अपेल—विकेन, स्वीडन।

—हरदयाल

२८

अध्ययन

लेखक—श्रीयुत रामचन्द्र शुक्ल

[शुक्ल जी का जन्म सन् १८८४ में हुआ था । ये काशी के हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्यापक हैं । ये बड़े गम्भीर लेखक हैं । प्रायः दुरूह विषयों पर लिखते हैं । इनकी शैली संस्कृतानुगामिनी है । इनकी भाषा शुद्ध होती है । इन के लेखों में मननशीलता रहती है । उन के लेखों को पढ़ते समय ऐसा मालूम होता है 'मानो कोई एकान्त में बैठे हुए अपने मन के विचार अपने ही आप चुपके से प्रकट कर रहा हो, और इस बात का बिलकुल भी परिज्ञान न हो कि मेरे आस पास कोई श्रोता भी है या नहीं ।]

यदि हम चाहते हैं कि कोई ऐसा चसका लगे जो प्रत्येक दशा में हमारा सहारा और जीवन में हमें आनन्द और प्रसन्नता प्रदान करे, उसकी बुराइयों से हमें बचावे, चाहे हमारे दिन कितने ही बुरे हों और सारा संसार हमसे रूठा हो, तो हमें चाहिए कि हम पढ़ने का चसका लगावें। पर अध्ययन की रुचि से जो लाभ हैं वे इतने ही नहीं हैं। जिन उद्देश्यों के साधन के लिये अध्ययन किया जाता है वे इतने ही नहीं हैं, इनसे अधिक हैं और इनसे उच्च हैं। आत्म-संस्कार सम्बन्धी पुस्तक में अध्ययन को केवल एक रुचि की बात कह देना ठीक नहीं, उसे परम कर्त्तव्य निश्चित करना चाहिए, क्योंकि ज्ञान की वृद्धि और बड़े धर्म के अभ्यास का अध्ययन एक प्रधान साधन है। यह ठीक है कि बहुत से ऐसे कर्मण्य पुरुष हुए हैं, जो बड़े काम कर गये हैं, पर वे लिखना पढ़ना नहीं जानते थे। बहुत से लोग हो गए हैं, जिनके पठन-पाठन वा मानसिक शिक्षा के अभाव की पूर्ति उनकी प्रज्ञा की प्रतिभा, अनुभव की अधिकता और अन्वीक्षण के अभ्यास द्वारा हो गई थी। पर पहली बात सोचने की यह है कि यदि वे पढ़े-लिखे होते, उनकी जानकारी और अधिक होती, तो सम्भव है वे और अधिक उत्तम कार्य कर सकते। दूसरी बात यह कि स्वाध्याय और आचरण आदि के सम्बन्ध में जो नियम ठहराए जाते हैं वे ऐसे इक्के-दुक्के लोगों के लिए नहीं, जिन्हें जन-साधरण से

अधिक स्वाभाविक शक्तियाँ प्राप्त रहती हैं।

आत्म-संस्कार के विधान का स्वाध्याय एक प्रधान अङ्ग है। हमारे लिए किसी जाति के उस साहित्य में गति प्राप्त करने का और कोई द्वार नहीं जिसमें उसके भाव और विचार व्यक्त रहते हैं, तथा उसकी उन्नति के क्रम का लेखा रहता है। मनुष्य-जाति के सुख और कल्याण के विषय में संसार के प्रतिभा-संपन्न पुरुषों ने जो सिद्धान्त स्थिर किये हैं उन्हें जानने का और कोई उपाय नहीं। जो मनुष्य पढ़ना नहीं जानता उसे भूतकाल का कुछ ज्ञान नहीं। वह जो सोचता है, विचारता है, परीक्षा करता है, वह अपनी ही छोटी सी पहुँच और अपने ही अल्प साधनों के अनुसार। उसे उस भाण्डार का पता नहीं जो न जाने कितनी पीढ़ियों से सञ्चित होता आया है। एक प्रसिद्ध गणितज्ञ के विषय में कहा जाता है कि जब वह लड़का था और उसे पुस्तकों की जानकारी नहीं थी, तब उसने गणित की कुछ प्रक्रियाएँ निकालीं और उन्हें यह समझ कर काग़ज़ पर लिख लिया कि मैं ने बड़े भारी आविष्कार किए। कुछ दिनों के उपरान्त जब वह एक बड़े पुस्तकालय में गया तब उसे यह जान कर बड़ा दुःख हुआ कि जिन्हें वह इतने दिनों से अपने आविष्कार समझे हुए था वे साधारण छात्रों को ज्ञात, पुरानी और पिष्टपेषित बातें हैं। विद्या के प्रत्येक बिभाग में यही दशा उसकी होती है जो

पढ़ता नहीं। मनुष्य की अन्वेषणा और विचार-परम्परा ज्ञान की किस सीमा तक पहुँच चुकी है, उसकी उसे खबर नहीं रहती। उसके लिए उसके पूर्व का काल अन्धकारमय है। न जाने कितने लोग हो गए, कैसे कैसे विचार कर गए, पर उसे क्या? वह जो सामने देखता है वही जानता है, और शिक्षा के अभाव के कारण वह अच्छी तरह देख भी नहीं सकता। वह अपने ही फैलाए हुए अन्धकार में गिरता पड़ता है, टेढ़ी-मेढ़ी पगडण्डियों में भटकता फिरता है, यह नहीं जानता कि मनुष्यों के श्रम से एक चौड़ा सीधा मार्ग तैयार हो चुका है।

यहाँ हम पढ़ने के दो एक अत्यन्त प्रत्यक्ष लाभों की ओर ध्यान दिलाते हैं। यह विषय जैसा उपयुक्त है वैसा ही मनोरञ्जक भी है। पहली बात तो यह है कि पढ़ने से इतिहास और काव्य में हमारी गति होती है, और भूत काल की घटनाएँ हमारे हृदय में प्रत्यक्ष हो जाती हैं। इनके द्वारा हमें संसार के बड़े बड़े राज्यों की उत्पत्ति, वृद्धि और पतन का पता चलता है। पढ़ने से हमें विदित होता है कि किस प्रकार मनुष्य-जाति की सभ्यता का प्रवाह कभी कुछ दिनों के लिए रुकता, कभी पीछे हटता हुआ, कभी एक स्थान में बँधता, कभी दूसरे स्थान पर बढ़ुरता हुआ, कभी कुछ दिनों के लिए उथला और छिछला पड़कर फिर अनिवार्य्य वेग के साथ बढ़ता, गम्भीर होता हुआ, अखंड, अंततः आगे ही

बढ़ता आया है, और उसने अपनी सुख-समृद्धि रूप विजय का प्रसार किया है। हम जानते हैं कि किस प्रकार अनेक विघ्न-बाधाओं को सहकर कितने ही दिनों तक भयानक कष्टों और आपत्तियों को झेल कर जनता ने क्रमशः अपनी उन्नति की है, जिसका फल यह हुआ कि प्रत्येक सभ्य देश के ग़रीब आदमी अपने पूर्वजों की अपेक्षा अधिक सुख-चैन से हैं। हम जानते हैं कि किस प्रकार संसार की अनेक क्रूर और धर्मभाव-शून्य जातियाँ बौद्ध धर्म ग्रहण करने को तैयार हुईं, किस प्रकार बौद्ध धर्म का प्रभाव और प्रचार बढ़ा, तथा उससे मनुष्यों के रहन-सहन में कितना शुभ परिवर्तन हुआ। पुस्तकों में हम देखते हैं कि किस प्रकार प्रताप और शक्ति एक जाति से निकल कर दूसरी जाति में जाती है। उसमें यह भी पता लगता है कि किन किन कारणों से और किन किन दशाओं में ऐसा होता है। भारतवर्ष, पारस, काबुल, मिश्र, यूनान, रोम, जो अब नाम ही नाम को रह गये हैं, कल्पना में जिनके प्रताप और महत्त्व की धुँधली छाया मात्र शेष रह गई है, पुस्तकों द्वारा हमें अपने यथार्थ रूप में प्रकट होते हैं और हम उनकी यथार्थ स्थिति को समझने में समर्थ होते हैं। इन प्राचीन देशों की ओर जब हम ध्यान देते हैं, तब हम दिनों के फेर को सोचते हैं, भाग्य की चञ्चलता को सोचते हैं, और व्यक्ति के जीवन-क्रम और एक जाति के भाग्य-क्रम के बीच जो विलक्षण

समानता है उस पर विचार करते हैं। एक धार्मिक उपदेशक कहता है कि "चाहे एक व्यक्ति को लो, चाहे एक जाति को लो, सब में समृद्धि के दिन प्रायः वे ही होते हैं जिनके पीछे घोर विपत्ति के दिन आते हैं।" चाहे चन्द्रगुप्त, सिकन्दर, खुसरो, तैमूर आदि बड़े बड़े विजेताओं को लो, चाहे हस्तिनापुर, पाटलिपुत्र, एथेंस, रोम आदि की ओर ध्यान दो, बात एक ही होगी। अपनी रक्षा के निश्चय ही में नाश का अंकुर रहता है, अपने पराक्रम की भावना और उसे दिखाने की वासना ही से पतन भी होता है। भाग्य के इस अचानक पलटा खाने पर हमें ध्यान देना चाहिए। पर सबसे अधिक ध्यान तो हमें इस विश्वव्यापक नियम की ओर देना चाहिए कि प्रौढ़ता और शक्ति के पीछे के दिनों में जीव में भीतर ही भीतर भोग, विलास, अनीति और दुर्व्यसन का घुन शक्ति को खाने लगता है, अधिक तड़क-भड़क और शान दिखाई पड़ती है, यहाँ तक कि बाहर से देखने वालों को शक्ति की स्थिरता का अधिक विश्वास होता है। लोक में कहावत प्रसिद्ध है कि जब दीपक बुझने को होता है तब अधिक जगमगाता और भभकता है। पारसियों का प्रताप इतना प्रबल और कभी नहीं दिखाई पड़ा था जितना उस समय जब क्षयार्श ने अपनी असंख्य सेना लेकर यूनान पर चढ़ाई की थी। पर यथार्थ में पारसी जाति की शक्ति उस समय इतनी क्षीण हो गई थी कि

थोड़े ही आघात से ध्वस्त हो सकती थी। जिस समय नेपोलियन अपनी चार लाख सेना लेकर यूरोप को विजय करने की कामना से रूस की ओर चढ़ा था, उस समय सारा यूरोप काँप उठा था, पर सच पूछिए तो भीतर ही भीतर उसके विनाश के सामान इकट्ठे हो रहे थे। औरंगज़ेब के राजत्व-काल में मोग़ल-साम्राज्य अपने पूर्ण विस्तार को पहुँच गया था, पर इतिहासविज्ञ मात्र जानते हैं कि वह वास्तव में उसके खण्ड खण्ड होने का आयोजन मात्र था। जिस समय महाराज पृथ्वीराज दिल्ली के राजसिंहासन पर थे उस समय राजपूतों की शक्ति पराकाष्ठा को पहुँची जान पड़ती थी। पर देखते ही देखते वह शक्ति विलीन हो गई और हिन्दू-साम्राज्य का अन्त हो गया।

जो विद्याभ्यासी पुरुष पढ़ता है और पुस्तकों से प्रेम रखता है, संसार में उसकी स्थिति चाहे कितनी ही बुरी हो उसे साथियों का अभाव नहीं खल सकता। उसकी कोठरी में सदा ऐसे लोगों का वास रहेगा जो अमर हैं। वे उसके प्रति सहानुभूति प्रकट करने और उसे समझाने के लिए सदा प्रस्तुत रहेंगे। कवि, दार्शनिक और विद्वान् जिन्हों ने अपने घोर प्रयत्नों द्वारा प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन करके शान्ति और सुख का तत्त्व निचोड़ा है, बड़े बड़े महात्मा जिन्हों ने आत्मा के गूढ़ रहस्यों की थाह लगाई है, सदा उसको सुनने तथा उसकी शंकाओं का समाधान करने

के लिये उद्यत रहेंगे। यदि पाठक चाहें तो उनमें से प्रत्येक व्यक्ति उसको तुच्छ चिंताओं से मुक्त करके ऐसी भावमयी सृष्टि में ले जाने के लिये तैयार रहेगा जहाँ सांसारिक प्रपंचों का लेश नहीं। चाहे कितनी ही घोर निस्तब्धता हो उसके कानों में प्रकृति का मधुर और रहस्यपूर्ण संगीत पड़ेगा, कोमल और गंभीर वचन सुनाई देगा। कालिदास अपनी अलौकिक प्रतिभा के बल से उसे मेघ के साथ अलकापुरी में पहुँचावेंगे, जहाँ—

नित पौन के पेरे कितेकहु बादर घूमत घूमत आवत हैं।
जलबूँदन की बरखा करके अँगनान के चित्र मिटावत हैं॥
भयभीत से फेरि झरोखन ह्वै सिमिटे तन बाहर धावत हैं।
कढ़ि जान को वेगि धुआँ बनि के बड़े चातुर वेहू कहावत हैं॥

अथवा भवभूति के साथ जाकर वे उस दंडक वन में थोड़ा विश्राम पावेंगे, जहाँ—

कहुँ सुन्दर घनश्याम कतहुँ धारे छवि घोरा।
कहुँ गिरि खोहन गूँजि, बढ़त झरनन कर सोरा॥
सुनसान कहुँ गंभीर वन, कहुँ सोर वन पसु करत हैं।
कहुँ लपट निसरत सुप्त अजगर साँस सन तरु जरत हैं॥
गिरिखोह में कछु जल भरे, कछु छुद्र खात लखात है।
अहिस्वेद गिरगिट पियत तहँ जब प्यास सन घबरात हैं।

तुलसीदास उसे अपने साथ गंगा उतर कर वन की ओर

जाते हुए राम लक्ष्मण को दिखावेंगे जिनके अलौकिक सौंदर्य के कारण—

गाँव गाँव अस होइ अनंदू। देखि भानुकुल-कैरव-चंदू॥
जो यह समाचार सुनि पावहि। ते नृप रानिहिं दोष लगावहिं॥

और कहेंगे—

धन्य भूमि वन पंथ पहारा। जहँ जहँ नाथ पाँव तुम धारा॥
धन्य विहँग मृग काननचारी। सफल-जनम भे तुम्हहि निहारी॥
हम सब धन्य सहित परिवारा। दीख दरस भरि नयन तुम्हारा॥

जायसी उसे कलिंग देश में ले जाकर जहाज़ पर चढ़ावेगा और राजा रतनसेन के साथ सिंघल द्वीप में उतार कर प्रेम-पथ का माधुर्य और त्याग दिखावेगा, फिर चित्तोरगढ़ लाकर चिता पर बैठी पद्मावती (पद्मिनी) के सतीत्व की अद्भुत दीप्ति का दृश्य सम्मुख करेगा। चन्द्र-बरदाई उसे प्राचीन काल के सूर सामंतों की आन और नोक-झोक दिखावेगा। इस प्रकार विद्याभ्यासी पुरुष बड़े बड़े लोगों की प्रतिभा से अपने भावों को पुष्ट करेगा। प्रत्येक युग और प्रत्येक देश के महान् पुरुष उसके सामने हाथ बाँधे इस प्रकार खड़े रहेंगे जिस प्रकार मन्त्रवेत्ता के आह्वान पर देवता उपस्थित होते हैं।

पढ़ते समय हमें विद्वान् और प्रतिभाशाली पुरुषों के मनोहर वाक्यों को, उनकी चमत्कारपूर्ण उक्तियों और विचारों को मन

में संचित करते जाना चाहिये, जिसमें हमारे पास ज्ञान का एक ऐसा प्रचुर भांडार हो जाय कि उसमें से समय समय पर जब जैसा अवसर पड़े हम शांति, उपदेश और उत्साह प्राप्त कर सकें। इस प्रकार का भांडार अधिकार में रखना उपयोगी और आनंद-प्रद दोनों है। बहुत से ऐसे अवसर आ पड़ते हैं जब हमारा जी टूट जाता है और हमारी शांति शिथिल हो जाती है। सोचिए तो कि ऐसे अवसरों पर किसी ऐसे पुरुषार्थी महात्मा के उत्साहपूर्ण वचनों में कितना उत्साह प्राप्त होगा जिसने कठिन संकट और विघ्न सहे, पर अंत में अपने अध्यवसाय के बल से सिद्धि प्राप्त की। इस वचन से कितना उत्साह मिलता है—

छाड़िये न हिम्मत, बिसारिए न हरि नाम,
जाही विधि राखे राम, वाही विधि रहिये।

प्रयत्न में हताश वा दुखी व्यक्ति को कितना धैर्य बँध सकता है। यदि उसे किसी ऐसे महात्मा के वचन सुनने को मिलें जो दुःख पड़ने पर कहता है–"ईश्वर चाहता है कि हम इस दशा में रहें, हम इस कर्तव्य को पूरा करें, हम इस व्याधि को भोगें, हम इस विपत्ति में पड़ें, हम यह अपमान और ताप सहें। ईश्वर की जैसी इच्छा! ईश्वर की यही इच्छा है, हम या संसार चाहे जो कुछ कहे। उसकी इच्छा ही हमारे लिये परम धर्म है।" बहुत से अवसर आते हैं जब दूसरों की इच्छा के अनुसार कार्य करना,

दूसरों की अधीनता स्वीकार करना, अभिमानी युवकों को बड़ा कड़ुवा जान पड़ता है। ऐसे अवसर पर यदि वे इस बात का स्मरण कर लें तो बहुत ही अच्छा है कि संसार में जितने बड़े बड़े विजयी हुए हैं वे आज्ञा मानने में वैसे ही तत्पर थे जैसे आज्ञा देने में। बहुत से ऐसे अवसर आते हैं जब सत्य के मार्ग पर स्थित रहने की उचित दृढ़ता हमें नहीं सूझती और हम चटपट आवेश में आकर काम करना चाहते हैं। ऐसे अवसरों पर हमें गिरिधर की इस चेतावनी का स्मरण करना चाहिए—

बिना विचारे जो करे सो पाछे पछिताइ।
काम बिगारे आपनो जग में होत हँसाइ॥

अस्तु, पढ़ने का एक लाभ तो यह हुआ कि उससे हम समय पड़ने पर शिक्षा, उत्साह और शांति प्राप्त कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त उसके द्वारा हमें ऐसे ऐसे अस्त्र प्राप्त होते हैं जिन्हें लेकर जीवन के भीषण संग्राम में हम अपनी थाप रख सकते हैं। उससे हमें उत्तम और उत्कृष्ट विचारों का आभास तथा उत्तम कार्यों की उत्तेजना मिलती है। एक बार किसी सरदार ने राजा की इच्छा के विरुद्ध कोई उचित और न्यायसंगत कार्य करने पर उद्यत एक दूसरे सरदार को परामर्श देते हुए कहा—"पर महाशय, राजाओं का क्रोध तो आप जानते हैं, मृत्यु सामने रक्खी है।" दूसरे सरदार ने चट उत्तर दिया—"तब मुझ में और आप

में केवल इतना ही अंतर है कि मैं आज मरूँगा और आप कल।" इसी 'अभिप्राय-गर्भित' वाक्य से किसका उत्साह नहीं बढ़ेगा, किसका चित्त दृढ़ नहीं होगा? कोई छोटा है या बड़ा, यह कोई बात नहीं। मुख्य बात यह है कि जो जिस श्रेणी में है वह उसके धर्म का पालन करता है या नहीं। साधारण विद्या-बुद्धि का मनुष्य भी यदि मर्यादा का ध्यान रखता हुआ धर्मपूर्वक अपना कार्य करता जाय तो वह उसी प्रकार सफल-मनोरथ हो सकता है जिस प्रकार कोई बड़ा बुद्धिमान् मनुष्य। इस विषय पर मुझे बहुत कहने की आवश्यकता नहीं। पढ़ने का बड़ा भारी अलभ्य और मनोहर लाभ यह है कि उससे चित्त शुभ भावनाओं और प्रौढ़ विचारों से पूर्ण हो जाता है। जब कभी जी चाहे मनुष्य चुपचाप बैठ जाय और जो कुछ उसने पढ़ा हो उसका चिंतन करता हुआ उपयोगी और आनन्दप्रद विचारों की धारा में मग्न हो जाय। इसके लिये उसे किसी प्रकार के बाहरी आधार की आवश्यकता नहीं। खाली बैठे रहने के समय—जैसे रेल, नौका आदि की यात्रा में—हमारे लिए यह एक अच्छा लाभकारी मानसिक व्यायाम रक्खा हुआ है कि हम किसी अच्छे ग्रंथकार की कोई पुस्तक उठा लें और उसकी बातों को, उसकी चमत्कार-पूर्ण उक्तियों को तथा उसके मनोहर दृष्टान्तों को हृदय में इस क्रम से धारण करते जायँ कि जब अवसर पड़े तब हम उन्हें उपस्थित कर सकें। हृदय का यह

भांडार ऐसा होगा जो कभी खाली न होगा, दिन दिन बढ़ता जायगा। इस प्रकार हृदय में संचित किए हुए भाव और दृष्टांत मोतियों के समान होंगे जिनकी आभा कभी नष्ट वा क्षीण नहीं होती।

२६

मेघ

अनुवादक—श्रीयुत रूपनारायण पाण्डेय

[मेघ और वृष्टि दोनों लेख बङ्गाल के सुप्रसिद्ध लेखक श्रीयुत वंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय की रचना हैं। श्री० रूपनारायण जी का जन्म लखनऊ के रानी कटरे में संवत् १९४१ में हुआ। आप को स्कूली शिक्षा बहुत कम मिली। आपने अपने ही परिश्रम से अपना ज्ञान बढ़ाया। आप बहुत अच्छे अनुवादक हैं। आपने बहुत सी बँगला पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद किया है। आप इन्दु, माधुरी, सुधा, निगमागम चन्द्रिका आदि कई पत्रिकाओं का सम्पादन भी कर चुके हैं। इनके द्वारा रचित और अनुवादित पुस्तकों की संख्या ६० से ऊपर है।]

मैं न बरसूँगा। क्यों बरसूँ ? बरसने से मुझे क्या सुख है ? बरसने से तुम्हें सुख है। परन्तु तुम्हारे सुख से मुझे क्या प्रयोजन ?

देखो, मेरे क्या यन्त्रणा नहीं है ? इस दारुण बिजली की आग को मैं सदा हृदय में धारण करता हूँ। मेरे हृदय में इस सुहासिनी सौदामिनी का उदय देख कर तुम प्रसन्न होते हो, तुम्हारी आँखें ठण्डी होती हैं, मगर इस बिजली के स्पर्श से ही तुम जल जाते हो। इसी आग को मैं हृदय में रखता हूँ। मेरे सिवा किस की मजाल है कि इस आग को हृदय में रक्खे।

देखो, वायु सदा मुझ को अस्थिर किए रहता है। वायु को दिशा विदिशा का ज्ञान नहीं है। वह सब ओर से चलता है। जब मैं जल के बोझ से भारी रहता हूँ, तब वायु मुझे उड़ा नहीं सकता।

तुम डरना नहीं, मैं अभी बरसता हूँ। पृथ्वी अन्न से हरी-भरी हो उठेगी। मुझे पूजा चढ़ाना।

मेरी गर्जना अत्यन्त भयानक है। तुम इस से डरना नहीं। जब मैं मन्द गम्भीर शब्द से भर जाता हूँ—वृक्षों के पत्तों को हिला कर, मोरों को नचा कर, मृदु गम्भीर गर्जना करता हूँ; तब इन्द्र के हृदय में पड़ी हुई कल्प-वृक्ष के फूलों की माला हिल उठती है, कृष्ण चन्द्र के सिर पर का मोर-मुकुट डोलने लगता है, पर्वतों की कन्दराओं से प्रतिध्वनि होमे लगती है और भैया, वृत्रासुर

के वध के समय वज्र की सहायता से जो मैं ने गर्जन किया था, तुम उस गर्जन को सुनने की इच्छा न करना—डर मालूम होगा।

बरसूँगा क्यों नहीं? देखो, कितनी जूही की कलियाँ मेरे जल-कणों की आशा से ऊपर मुँह उठाए हुई हैं। उन के मुख में स्वच्छ जल मैं न सींचूँगा तो और कौन सींचेगा?

बरसूँगा क्यों नहीं? देखो नदियों का शरीर अभी तक पुष्ट नहीं हुआ। वे मेरी दी हुई जलराशि को पाकर परिपूर्ण हृदय से हँसती हँसती, नाचती नाचती, कलरव करती हुई अनन्त सागर की ओर चलेंगी। यह देख कर किसे बरसने की इच्छा न होगी? मैं नहीं बरसूँगा। देखो, यह पाजी औरत मेरे ही दिए पानी को कलसी में भर कर लिए जाती है, और 'आग लगे इस बरसने पर, बूँद नहीं टूटती!' कहकर मुझ को ही गालियाँ देती चली जाती है। मैं नहीं बरसूँगा।

मुझे याद है:—

मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वां।
वामश्चायं वदति मधुरं चातकस्ते सगर्वः॥

कालिदास आदि जहाँ मेरी स्तुति करने वाले हैं, वहाँ मैं क्यों न बरसूँ? मेरी भाषा को कविवर शैली समझते थे। जब मैं कहता हूँ—'बींग फ्रैश शौवर्स फ़ार दी थर्स्टिङ्ग फ्लौवर्स', तब उस गम्भीर

वाणी के मर्म को शैली जैसा कवि हुए बिना कौन समझ सकता है ? क्या, जानते हो ? कवि मेरे ही समान हृदय में बिजली की आग धारण करता है ! प्रतिभा भी उसके अनन्त हृदयाकाश की बिजली है ।

मैं अत्यन्त भयङ्कर हूँ । जब अन्धकार में मैं कृष्ण-कराल-रूप धारण करता हूँ, तब मेरी टेढ़ी भौहों को कौन सह सकता है ? मेरे ही हृदय की यह कालाग्नि, विद्युत्, तब दमदम भर पर चमकने लगती है । मेरे निःश्वास से चराचर जगत् उड़ने लगता है । मेरे शब्द से ब्रह्मांड काँप उठता है ।

साथ ही मैं मनोरम भी कैसा हूँ । जब पश्चिम के आकाश में सन्ध्या के समय अरुण-वर्ण सूर्य की गोद में खेलकर मैं सुनहरी लहरों के ऊपर लहरें फैलाता हूँ, तब कौन ऐसा है जो मेरी उस क्रीड़ा और रङ्ग को देख कर मुग्ध न हो जाता हो । चाँदनी रात को आकाश में मन्द पवन की सवारी पर चढ़कर मनोहर-मूर्ति धारण करके मैं कैसे विचरता हूँ ! सुनो, पृथ्वी पर के रहने वालो, मैं बहुत सुन्दर हूँ । तुम मुझको सुन्दर कहना ।

और एक बात है । वह कह कर अब मैं बरसने जाता हूँ । पृथ्वी-तल पर एक बहुत गुणों से सम्पन्न कामिनी है । उसने मेरे मन को हर लिया है । वह पर्वतों की कन्दरा में रहती है । उसका नाम प्रतिध्वनि है । मेरी आवाज़ सुनते ही वह आकर मुझसे

बात-चीत करने लगती है। मैं भी उसके आलाप से मुग्ध हो रहा हूँ। तुम कोई सम्बन्ध ठीक करके उसके साथ मेरा विवाह करा सकते हो?

—[वंकिम निबंधावली से]

* * *

३०

वृष्टि

चलो नीचे उतरें, आषाढ़ आ गया, चलो नीचे उतरें। हम छोटी छोटी वर्षा की बूँदें हैं। अकेली एक जनी तो जूही की कली का मुँह भी नहीं धो सकती—मल्लिका के छोटे से हृदय को भी नहीं भर सकती; किन्तु हम हजारों, लाखों, करोड़ों हैं। चाहें तो पृथ्वी को डुबा दें। छोटा या क्षुद्र कौन है ?

देखो, जो अकेला है, वही क्षुद्र है—वही सामान्य है। जिस में एका नहीं है, वही तुच्छ है। देखो बूँदो, कोई अकेली नीचे न उतरना—आधी ही राह में प्रचण्ड सूर्य की किरणों से सूख जाओगी। चलो, हजारों, लाखों, करोड़ों, अर्बुदों बूँदें नीचे उतर

कर सूखी हुई पृथ्वी को भर दें।

पृथ्वी को डुबा देंगी। पर्वत की चोटी पर चढ़ कर, उसकी छाती पर पैर रखकर, पृथ्वी पर उतरना होगा—झरने के मार्ग में मोती का आकार धारण कर निकलेंगी। नदियों के शून्य हृदय को परिपूर्ण करके, उन्हें रूप का वस्त्र पहना कर, महातरङ्गों से भीषण बाजा बजा कर, लहर के ऊपर लहर उठा कर हम क्रीड़ा करेंगी। आओ, सब नीचे उतरें।

कौन युद्ध करेगा—वायु! हिश! वायु के कंधे पर चढ़ कर हम देश-देशान्तर में घूमेंगी। हमारे इस वर्षा-युद्ध में वायु हमारा घोड़ा है। उसकी सहायता पावें, तो हम जल-थल एकाकार कर दें। हवा की सहायता मिलने से हम बड़े बड़े घरों को ढा देने की शक्ति रखती हैं। वायु के कन्धे पर चढ़ कर लोगों के घरों के दरवाजों के भीतर घुसती हैं। किसी की बड़े यत्न से बिछाई हुई शय्या को हम भिगो देती हैं—सोती हुई सुन्दरी के ऊपर जाकर गिर पड़ती हैं। वायु तो हमारा गुलाम है।

देखो भाई, कोई अकेले न नीचे उतरना। एका ही हमारा बल है। नहीं तो हम कुछ भी नहीं हैं। चलो। हम क्षुद्र वृष्टि-बिन्दु हैं, किन्तु पृथ्वी के प्राणों की रक्षा करेंगी। खेतों में अन्न उपजावेंगी—मनुष्यों के प्राणों की रक्षा होगी। नदियों में नावें चलेंगी, मनुष्यों का रोजगार चलेगा। तृण, लता, वृक्ष आदि की

पुष्टि करेंगी—पशु, पक्षी-कीट-पतंग जीवन पावेंगे। हम ही संसार की रक्षा करती हैं।

तो फिर आ ! नवनील मेघमाला ! आ, वृष्टि-बिन्दुओं की जननी ! आ, माता दिग्मण्डल व्यापिनी ! सूर्य-तेज-संहारिणी ! आ, आकश-मण्डल को घेर ले, हम नीचे उतरें ! आओ बहन सुहासिनी सौदामिनी ! वृष्टि-बिन्दुकुल के मुख को उज्ज्वल करो। हम हँसती-नाचती हुई पृथ्वी-तल पर उतर पड़ें। तुम वृत्रासुर के मर्मस्थल को काटने वाले वज्र हो, तुम भी गरजो। इस उत्सव में तुम्हारे सिवा और उपयुक्त बाजा कौन है ? तुम भी पृथ्वी-तल पर गिरोगी ? गिरो, किन्तु केवल गर्व से उन्नत मस्तक पर ही गिरना। इस परोपकारी क्षुद्र अन्न के ऊपर मत गिरना। हम इसकी रक्षा करने जाती हैं। गिरना हो तो इस पर्वत के शिखर पर गिरो। जलाना हो तो इन चोटी पर के पेड़ों को जलाओ। क्षुद्र से कुछ न बोलना। हम क्षुद्र हैं; क्षुद्र के लिए हमारे हृदय में बड़ी व्यथा होती है।

देखो, देखो हमें देखकर पृथ्वी पर के लोगों का आह्लाद देखो। पेड़ आदि हिल रहे हैं, नदी हिल डुल रही है, बड़े बड़े वृक्ष सिर झुका कर प्रणाम कर रहे हैं। किसान खेत जोत रहा है। लड़के भाग रहे हैं। केवल खटीक की स्त्री आम का रस लिये भीतर भागी जा रही है। आम-रस के दो एक टुकड़े रक्खे जा-

हम खायँगी। दो, इस के कपड़े भिगो दो।

हमने जल की जाति में जन्म पाया है, परन्तु तो भी हम रंग-रस करना जानती हैं। लोगों के छप्पर फाड़ कर घर के भीतर झाँकती हैं। स्त्री-पुरुष जिस घर में सोये होते हैं, वहाँ छत्त के छेद से भीतर जा कर उनको चौंका देती हैं जिस राह में बहू-बेटियाँ कलसी लेकर पानी भरने जाती हैं, उसी राह में हम कीचड़ कर रखती हैं। चमेली का पराग धो डाल कर भौरों को भूखों मारती हैं। नौकर-चाकर कपड़ा धो कर फैलाते हैं तो उसे कीचड़ में डाल कर उनका काम बढ़ा देती हैं। हम क्या कम दिल्लगीबाज़ हैं! तुम सब चाहे जो कुछ कहो, हम रसिका हैं।

खैर इसे जाने दो, हमारा बल देखो। देखो, पर्वत, कंदरा, घर, द्वार आदि सब को धो कर हम एक नई ही हरी भरी पृथ्वी की रचना कर देंगी। देखो, शिथिल, दुर्बल नदी को कूलप्लाविनी, देश को डुबानेवाली, अनन्त-तरङ्ग-संकुला, लंबे चौड़े पाट की जल-राक्षसी बना देंगी! किसी देश के मनुष्यों की रक्षा करेंगी—किसी देश के मनुष्यों का (बाढ़ के द्वारा) संहार करेंगी—कितने ही जहाजों को ठिकाने पर पहुँचा देंगी। और कितने ही जहाजों को डुबा कर ठिकाने लगा देंगी। पृथ्वी को जलमयी बना देंगी। फिर भी हम क्षुद्र हैं? हमारे जैसा क्षुद्र और कौन है? हमारे जैसा बलवान् और कौन है? —[बङ्किम निबंधावली से]

३१

राजपूतनी का बदला

(नाटक)

[स्थान—मेवाड़ के राना राजसिंह के महल का बाहरी भाग। समय—तीसरा पहर। ऊँचे आसन पर राजा राजसिंह बैठे हैं। सन्मुख बच्चे को गोद में लिए जसवन्त सिंह की रानी महामाया घुटने टेके बैठी है। दहिनी ओर मारवाड़ के सेनापति दुर्गादास और कासिम खड़े हैं।]

रानी—राना! मेरे इस बच्चे को अपने गढ़ में स्थान दीजिए। बहुत दिनों के लिए नहीं, राना! थोड़े ही दिनों के लिए।

राजसिंह—महामाया, तुम्हारा लड़का मेरा ग़ैर नहीं है। उस

की रक्षा के लिए यों गिड़गिड़ाने की क्या जरूरत है? दुर्गादास! औरङ्गज़ेब क्या इस बच्चे के भी प्राण लेना चाहता है?

दुर्गादास—नहीं तो इसके पकड़ने का और क्या उद्देश्य हो सकता है महाराना?

रानी—एक लड़का और एक लड़की—केवल यही सम्पत्ति लेकर उस दिन दिल्ली से निकली थी। राह में लड़की मर गई। अब मेरी सम्पत्ति में केवल यही दूध-पीता बच्चा है। मेरे इस सर्वस्व पुत्र की रक्षा कीजिए महाराना! ईश्वर आप का भला करेंगे।

राजसिंह—पुत्र के लिए कुछ भी चिन्ता न करो महामाया! मैं अपने प्राण देकर भी इसकी रक्षा करूँगा।

रानी—राना की जय हो!

राजसिंह—दुर्गादास, औरंगज़ेब के अत्याचार की मात्रा धीरे धीरे बढ़ती चली जा रही है। उन्होंने हिन्दुओं के ऊपर फिर से "जज़िया" लगाया है। उसके ऊपर मारवाड़-पति जसवन्तसिंह के परिवार पर ऐसा दारुण अन्याय! देखूँ, पत्र लिख कर शायद औरंगज़ेब को ठीक राह पर ला सकूँ।

रानी—पत्र लिख कर! अनुनय-विनय करके! घुटने टेक कर भीखमाँग कर! नहीं महाराना, इस तरह ढीले पड़ कर नहीं। अब की इस बादशाहत को जड़ से उखाड़े बिना मेरे कलेजे में

ठण्डक नहीं पड़ेगी।

राजसिंह—नहीं महामाया, रक्त की नदियाँ बहाये बिना यह काम नहीं हो सकता। जब एक राज्य स्थापित हो गया है, तब उसे जड़ से उखाड़ने की चेष्टा करना अन्याय है। इस में सहस्रों मनुष्यों की हत्या होगी और देश की प्रजा को कष्ट मिलेगा।

रानी—अपने देश में दूसरी जाति के राज्य की रक्षा! यही क्या क्षत्रियों का धर्म्म है?

राजसिंह—क्षत्रियों का धर्म्म केवल मार-काट करना ही नहीं है। मरने मारने की विद्या ऊँचे दर्जे की विद्या नहीं है। किसी आर्त की रक्षा या अपनी रक्षा के अतिरिक्त और किसी उद्देश्य से मार-काट करने का नाम हत्या है। [इस के बाद कासिम की ओर देख कर] यह कौन है?

दुर्गादास—यह कासिम उल्ला है। मेरा पुराना मित्र है। इसने अपनी जान की परवा न कर के हमारे राजकुँवर की रक्षा की है।

कासिम—राना साहिब, मैं इन लोगों का पुराना नमकख्वार हूँ। सरदार [दुर्गादास] ने एक दफ़ा बड़ी आफ़त से मुझ को बचाया था। तब से मैं इन्हीं की गुलामी में हूँ।

राजसिंह—दुर्गादास, कासिम भी तो मुसलमान है!

कासिम—महाराना, मेरी जात को बुरा न कहें। हमारी जात ख़राब नहीं है। हम सब हो सकते हैं पर नमक हराम नहीं।

राजसिंह—नहीं कासिम, मैं तुम्हारी जाति की निन्दा नहीं करता, बादशाह के साथ तुम्हारी तुलना करता हूँ। बादशाह इस छोटे बच्चे की जान लेना चाहते हैं, और तुम—

कासिम—आहा, कैसा भोला-भाला सुन्दर बच्चा है! देखने से जी चाहता है, गोद में लेकर प्यार कर लूँ।

राजसिंह—औरङ्गज़ेब, तुम दिल्ली के सिंहासन पर बैठे एक निरीह बालक की हत्या करने के लिए व्यग्र हो रहे हो और तुम्हारी ही जाति का यह कासिम उसे प्राण देकर भी बचाने के लिए तैयार है। ईश्वर की दृष्टि में कौन बड़ा है औरङ्गज़ेब?

रानी—राना, मैं इस भारी अत्याचार का बदला लूँगी। इसका बदला चुकाने के लिए ही मैं उस दिन और स्त्रियों के साथ नहीं जल मरी। इसी के लिए अब तक ज़िन्दा हूँ। आज केवल इस बच्चे की रक्षा कीजिए।

राजसिंह—मैं कह चुका हूँ, इसके लिए कोई चिन्ता नहीं है। महामाया, तुम अपने लड़के को ले कर यहाँ बेखटके रहो।

रानी—नहीं राना, मैं यहाँ नहीं रहूँगी। अब यह मेरा घर नहीं है। मैं अपने स्वर्गवासी स्वामी के राज्य को लौट जाऊँगी। सम्पत्ति और विपत्ति में, शान्ति और अशान्ति में, जीवन और मरण में, स्वामी का घर ही स्त्री का घर है, पिता का घर नहीं है। मैं मारवाड़ चली जाऊँगी।

राजसिंह—किन्तु अभी तो वहाँ तुम बेखटके नहीं रह सकती बहन !

रानी—बेखटके ! मैं क्या यहाँ अपने लिए बेखटके जगह खोजने आई हूँ ? नहीं राना, मैं उसे नहीं खोजती। मैं अब आपत्ति को खोजती हूँ। आपत्ति की गोद में पली हूँ, भूकम्प में मेरा जन्म हुआ है, तूफान में मेरा घर है, प्रलय के बादलों में मेरी सेज है। विपत्ति ! विपत्ति को तो मैंने अपनी सखी बना लिया है राना ! मुझे अब और क्या विपत्ति होगी ! पति मारा गया, सर्वस्व लुट गया—अब और क्या विपत्ति होगी ? राना, मेरे लिए अब एक ही विपत्ति और हो सकती है—इस बच्चे की हत्या। इसकी रक्षा कीजिए। राना, और कुछ नहीं चाहिए, इस की रक्षा कीजिये ! मैं मारवाड़ जाऊँगी—आग सुलगाऊँगी—आग ! ऐसी आग सुलगाऊँगी, जिस में औरङ्गज़ेब क्या चीज़ है, सारा मुग़लों का राज्य जल कर ख़ाक में मिल जायगा।

[पर्दा गिरता है।]

दूसरा दृश्य

[स्मशान—राजपूतों की छावनी। समय तीसरा पहर। राना राजसिंह और महामाया दोनों बैठे हैं। सामने मुग़लों के झण्डे लिए दुर्गादास और अन्यान्य सामन्तगण खड़े हैं।]

राजसिंह—धन्य हो दुर्गादास! तुमने मुग़लों को मेवाड़ से निकाल बाहर कर दिया।

रानी—धन्य हो दुर्गादास! तुम बेगम को क़ैद कर लाए। आज मैं बदला चुकाऊँगी।

राजसिंह—क्या! दुर्गादास। तुम बादशाह की बेगम को क़ैद कर लाए हो? कौन बेगम?

दुर्गादास—काश्मीरी बेगम—गुलनार।

राजसिंह—उन्हें क़ैद कर लाए! उसी घड़ी छोड़ नहीं दिया?

दुर्गादास—राना साहब, मैं केवल सेनापति था। युद्ध में शत्रु के आदमियों को क़ैद करने भर का मुझे अधिकार था। क़ैदियों के छोड़ने का अधिकार राजा को होता है।

राजसिंह—जाओ दुर्गादास, बेगम साहबा को इसी दम छुटकारा देकर इज्ज़त के साथ बादशाह के पास भेज दो।

रानी—क्या राना?

राजसिंह—स्त्री के साथ हम लोगों का कुछ झगड़ा नहीं है।

रानी—स्त्री के साथ झगड़ा नहीं है! तो फिर मैं ने क्यों आकर आपका अश्रय लिया महाराना? मुझे ही पकड़ने के लिए क्या यह भारी चढ़ाई नहीं हुई है? मैं यदि इस युद्ध में पकड़ ली जाती, तो बेगम मेरे साथ क्या सलूक करती?

राजसिंह—हम मुग़लों की नीति का अनुकरण करने

नहीं बैठे हैं।

रानी—नहीं महाराना ! मैं इस बेगम को इस तरह न छोड़ूँगी, मैं बदला चुकाऊँगी।

राजसिंह—बदला ? किस का बदला महामाया ?

रानी—किसका ? यह पूछिये कि उसकी किस किस हरकत का बदला न लूँगी । इस काशमीरी बेगम ने ही मेरे पति और पुत्र की हत्या की है। यह काश्मीरी बेगम ही मेरे यों जंगली जानवरों की तरह एक जगह से दूसरी जगह भागते फिरने का कारण है—इस का बदला लूँगी राना ! मैं उसे अपनी मुट्ठी में पाकर न छोड़ूँगी । बदला लूँगी।

राजसिंह—क्या बदला लोगी ?

रानी—इस बारे में मैंने अभी कुछ नहीं सोचा है राना ! इस बारे में मैं सोचूँगी। सोच कर ठीक करूँगी। उसे तिल तिल कर के जलाना भी यथेष्ट न होगा। उस के शरीर में सुइयाँ चुभाना भी यथेष्ट न होगा। सोच कर ठीक करूँगी। नई प्रकार की यन्त्रणा के यन्त्र का आविष्कार करूँगी। स्त्री के योग्य दण्ड स्त्री ही सोच सकती है।

राजसिंह—महामाया, तुम को पाप का दण्ड देने का क्या अधिकार है ? जिनका यह अधिकार है वे ही—

रानी—(उठ कर) वे ?—कहाँ हैं वे ? वे कहाँ हैं ? वे हाथ

समेटे बैठे हैं। आकाश का वज्र सदा पापी के सिर पर ही नहीं गिरता महाराज! पुण्यात्मा के सिर पर भी गिरता है। भूकम्प से पापी का ही घर-बार नहीं नष्ट होता, बेचारे निरीह लोगों के झोंपड़े भी मिट्टी में मिल जाते हैं। प्रबल बढ़िया में क्षुद्र घास-फूस ही डूबते हैं, बड़े बड़े पेड़ वैसे ही सिर ऊँचा किये खड़े रहते हैं। ईश्वर का नियम धर्म-अधर्म का विचार नहीं करता—जहाँ जिसे दुर्बल, जीर्ण, पुराना पाता है, उसी की गर्दन पहले दबाता है।

राजसिंह—[शान्त भाव से] महामाया! जोश में आकर ईश्वर का विचार करने के लिए तैयार न होओ—निश्चय करो, ईश्वर के नियम से अन्त को अधर्म का अवश्य पतन होगा।

रानी—कब होगा? मैंने तो आज तक नहीं देखा राना! मैंने तो आज तक यही देखा है कि सरलता सदा से चालाकी के पैरों पड़ कर भीख माँगती आती है, चालाकी ने एक बार उसकी ओर आँख उठा कर देखा भी नहीं। सत्य सदा से झूठ की गुलामी करता है—अपने मस्तक को ऊँचा नहीं कर सकता। मैं सदा से न्याय की जगह पर अन्याय की विजय-पताका फहराती हुई देख रही हूँ। मैं सदा से धर्म्म के टूटे मन्दिर में अधर्म की विजय-ध्वनि सुनती आ रही हूँ। पुण्य के हरे भरे राज्य के ऊपर से भयानक की रक्त-रंजित बढ़िया लहराती देख पड़ रही है। घूस, अत्याचार झूठ, विश्वासघात आदि से पृथ्वी परिपूर्ण हो रही है। तब

भी तुम कहते हो, अन्त में धर्म की जय होगी ! कब होगी ? कब होगी ? बतलाओ, कब होगी ?

राजसिंह—शान्त होओ महामाया ! अपने को सँभालो—धैर्य धारण करो।

रानी—धैर्य ! राना, यदि तुम स्त्री होते और तुम्हारा पति, परदेश में विश्वासघातक के हाथों विष देकर मारा जाता, यदि बेदर्दी के साथ तुम्हारे सरल, उदार पुत्र की हत्या की जाती, यदि मेरी तरह नन्हे से निस्सहाय निरीह बच्चे को लेकर एक देश से दूसरे देश में आकर भिक्षुक की तरह द्वार द्वार मारे मारे फिरना पड़ता तो आप समझते। धैर्य ! नहीं राना—मैं उस पापिन को यों न छोड़ूँगी।

राजसिंह—दुर्गादास ! जीते जी मैं अबला के ऊपर अत्याचार होते न देख सकूँगा। जाओ, तुम सम्मान के साथ बेगम को बादशाह के पास पहुँचा दो।

दुर्गादास—क्षमा कीजिये महारानी ! इस युद्ध में हम सब राना साहब के अनुचर हैं। बेगम आज मेवाड़ के राना के यहाँ कैद है, मारवाड़ की रानी के यहाँ नहीं। महारानी ! अपने को न भूलिये। आपही की रक्षा के लिए राना ने यह युद्ध किया है। राना आपके हित-चिन्तक हैं। उनकी आज्ञा मानना आपका भी धर्म्म है।

रानी—[कुछ देर चुप रह कर] तुम सच कहते हो दुर्गादास! [फिर राना के सामने घुटने टेक कर] राना! क्षमा कीजिये। हृदय शोक के वेग से अधीर हो कर मैं पागल सी हो गई—क्षमा कीजिए। किन्तु यदि आप इस तीव्र वेदना, इस दारुण ज्वाला, इस गहरी जी की जलन को जान सकते—मैं पागल हो रही हूँ, क्षमा कीजिये!

राजसिंह—मैं पहले ही क्षमा कर चुका हूँ महामाया! मैं चाहता हूँ कि जो क्षमा तुमने मुझसे माँगी है वही क्षमा तुम बेगम को दिखलाओ। मैं विचार के लिए बेगम को तुम्हारे पास छोड़ जाता हूँ। उसे क्षमा करो, अपना महत्व दिखलाओ। महामाया! स्नेह, दया, भक्ति, क्षमा आदि गुणों से ही स्त्री जाति पूजनीय है। ये गुण ही अबला की शक्ति हैं। और यदि तुम दण्ड ही देना चाहती हो, तो सोचो तो, तुम ने अपने ऊपर अत्याचार करने वाले को यदि हँसते हँसते क्षमा कर दिया, तो क्या यह उसके लिए कम दण्ड है?

रानी—ठीक है। बेगम को ले आओ दुर्गादास!

[दुर्गादास का प्रस्थान]

राजसिंह—अच्छा, तो मैं तुम्हारी दया के ऊपर बेगम को छोड़ जाता हूँ महामाया।

[राना का प्रस्थान]

रानी—यह ठीक है। इस न्याय-आसन पर बैठ कर मैं उसका विचार करूँगी। इतना ही यथेष्ट है। भारत की सम्राज्ञी, औरंगज़ेब की बेगम, मेरे पति तथा पुत्र की हत्या करने वाली डाइन, आज मेरे सामने अपराधी क़ैदी की दशा में खड़ी होगी, मैं सिंहासन पर बैठे बैठे उसके मुँह की ओर देख कर उसे प्राणों की भिक्षा दूँगी। यही क्या बुरा है!—वह आ रही है। इस समय भी मुँह पर वही ऐंठन, नज़र में वही घमण्ड, चाल में वही अहंकार है। जगदीश्वर! पाप इतना उज्ज्वल और विचित्र!

(बेगम गुलनार के साथ दुर्गादास का प्रवेश)

रानी—सलाम बेगम साहबा!

गुलनार—जसवन्तसिंह की रानी?

रानी—हाँ! जिसे पकड़ने के लिए इतनी तैयारी से यह चढ़ाई हुई थी—वही जसवन्तसिंह की रानी। आपने मेरे पति और पुत्रों को खा लिया। इस से भी राक्षसी का पेट नहीं भरा। अब मुझे और मेरे छोटे बच्चे को भी खाना चाहती हो। क्या इसी बीच में सब भूल गई? इतनी भूल करने से काम कैसे चल सकता है बेगम साहबा?

गुलनार—[दुर्गादास से] तुम ही दुर्गादास हो?

दुर्गादास—हाँ बेगम साहबा!

गुलनार—मुझे यहाँ क्यों लाए हो?

दुर्गादास—यहाँ आपका विचार होगा।

गुलनार—कहाँ? किसके आगे?

रानी— मेरे यहाँ, मेरे आगे। बात ज़रा रूखी और बेढङ्गी जान पड़ती होगी, क्यों? क्या कीजिएगा? चक्र घूम गया है बेगम! क्या! दुर्गादास की ओर इतना क्यों आप ग़ौर कर रही हैं? सोचती होंगी, इस काफ़िर की इतनी मजाल कि आप को क़ैद कर लावे! यही सोचती हैं, क्यों न? अब आप कौन सज़ा पसन्द करती हैं?

गुलनार—मैं तुम्हारे यहाँ क़ैद हूँ, जो जी चाहे करो।

रानी—जो जी चाहे, वही करूँ? बेगम साहबा, मेरे मन की सज़ा तो तुम्हारे लिए बहुत ही कठिन होगी। मेरी जो इच्छा है, वह दण्ड तुम्हारे लिए असह्य होगा। तुम उसे सह न सकोगी। वह बड़ी ही कड़ी सज़ा है। नरक की ज्वाला उसके आगे वसन्त-वायु के समान ठण्डी है। सैकड़ों बिच्छुओं के काटने की जलन भी उसके आगे झरने के पानी के समान शीतल है। मेरा जो जी चाहे? मेरा क्या जी चाहता है, जानती हो बेगम?—ख़ैर जाने दो—तुम मुझे यदि पकड़ मँगातीं, तो क्या करतीं बेगम साहबा?

गुलनार—क्या करती? तुम को अपने पैरों की धोवन पिलाती और उसके बाद मरवा डालती।

रानी—अभी तक तेज नहीं गया। विष का दाँत उखड़ गया

परन्तु फुफकार कम नहीं हुई! बेगम साहबा, खेद है, तुम्हारी आशा पूरी नहीं हुई! आज मुझे तुम्हारे आगे इस तरह खड़ा होना चाहिए था, क्यों? पर क्या किया जाय, तुम को ही मेरे आगे इस तरह खड़ा होना पड़ा। देखो गुलनार! सुनो बादशाह की बेगम! आज तुम मेरी मुट्ठी में हो। चाहूँ तो मैं तुम को पैर की धोवन भी पिला सकती हूँ, तुम्हारी हत्या भी कर सकती हूँ। किन्तु मैं वह न करूँगी। मैं तुम्हें छोड़ देती हूँ। सेनापति! इन को बादशाह के पास पहुँचा आओ। [गुलनार से] खड़ी हुई हो! विस्मय हुआ? राजपूतों का यही बदला है! ❀

[यवनिका-पतन]

—"दुर्गादास नाटक" से

❀द्विजेन्द्रलाल राय के बँगला नाटक से श्रीरूपनारायण पाण्डेय द्वारा अनुवादित।

३२

हिन्दू-जाति की पाचन-शक्ति

संसार की सम्पूर्ण प्राचीन जातियाँ पृथ्वीतल से मिट गयीं। केवल एक हमारी आर्य जाति ही अनादि काल से अब तक जीवित है और आशा है अनन्त काल तक जीवित रहेगी। हमारा साहित्य-भाण्डार भी उसी समय से लेकर वर्तमान काल तक के भिन्न भिन्न विचारों को किसी न किसी रूप में क्रमबद्ध प्रदर्शित करता चला आ रहा है।

मिश्रीय, बैबिलोनियन, सीरियन, सिथियन स्पार्टयन आदि प्राचीन सभ्य जातियों का केवल नाममात्र शेष है और बहुतों के तो नाम का भी अब कहीं पता नहीं है। रेड इंडियन तथा पूर्वी द्वीप-समूह की कुछ जातियाँ केवल इनी-गिनी संख्या में ही शेष

रह गयी हैं जो शीघ्र ही नष्ट होने वाली हैं।

हिन्दू-जाति भी प्रतिदिन क्षीण होती जा रही थी परन्तु अब वह भी करवट बदल रही है। उसे भी अपने संगठन करने का ध्यान हो रहा है, अपने बिछुड़े भाइयों को मिलाने तथा अन्य जातियों के लिए भी द्वार-मुक्त करने की प्रबल इच्छा हो रही है। ये सब जीवित रहने के चिह्न हैं। यदि परमात्मा को हमारा जीवित रहना अङ्गीकार न होता तो यह दिन न दिखायी देता कि हम संगठित होने और अपने बिछुड़े भाइयों तथा अन्य जातियों के लेने का विचार करते। ये सब जाति की उन्नति के शुभ लक्षण दिखायी देते हैं।

हमें सदैव अपने दोषों के दूर करने को प्रस्तुत रहना और जात्युन्नति के साधनों पर विचार करना चाहिए। यह जाति सदैव इन बातों पर विचार करती रही है। हमारे त्योहार एवं वर्णाश्रम-व्यवस्था हमारे संगठन और जीवन के सुदृढ़ प्रमाण हैं। तथा १८ स्मृतियों में हमारे दोषों को दूर करने और समयानुसार संशोधन करने का पूर्ण विधान है।

हमारा धर्म-क्षेत्र केवल हमारी ही जातियों के लिये संकुचित नहीं रहा। इसका द्वार सर्व साधारण के लिए सदैव खुला रहा। इस लेख में धार्मिक और ऐतिहासिक दृष्टि से इसी विषय पर विचार किया जायगा। हमें सोचना है कि हमारे विद्वान् नेताओं का यह प्रयत्न समयोचित है या नहीं ?

वैदिक काल में आर्यों की दशा

(१) वैदिक काल में आर्य और दस्युओं का घोर युद्ध होता रहा। उसमें आर्यों ने विजय पायी, अनार्यों ने वैदिक धर्म स्वीकार किया और हिन्दू-जाति में मिल गये। इस समय द्राविड़ जातियाँ तथा अन्य कई जातियाँ आर्य और दस्युओं के मिश्रण का ही फल हैं। वेद भगवान ने स्वयम् इसकी प्रत्यक्ष आज्ञा दी है—

"यथेमां वाचं कल्याणि मा वदानी जनेभ्यः"

ब्राह्मण-ग्रन्थों और आरण्यकों में भी इस प्रकार की आज्ञाएँ तथा उदाहरण बहुतायत से पायें जाते हैं। स्मृतियों में भी अपने बिछुड़े भाइयों को पुनः मिलाने के प्रायश्चित्त अधिकता से पाये जाते हैं।

पौराणिक काल

(२) भविष्य पुराण में एक कथा आई है कि कण्व ऋषि मिश्र में धर्म-प्रचारार्थ गए थे। वहाँ पर धर्म-प्रचार करने के पश्चात् वे १०,००० मिश्र निवासियों को भारत में ले आये। उनमें से २,००० को वैश्य, कुछ को क्षत्रिय और एक मनुष्य को ब्राह्मण बनाया। शेष शूद्रों में गिने गये। इसी प्रकार व्यास भगवान धर्म की व्याख्या करने के लिए मध्य एशिया में गए थे। वहाँ पर

वैदिक धर्म का अच्छा प्रचार किया था। कुछ वर्ष पूर्व वहाँ पर प्राचीन खँडहरों की खुदाई कराने के समय बहुत सी संस्कृत पुस्तकें प्राप्त हुई थीं। ज़िन्दावस्ता नामक पारसियों की धार्मिक पुस्तक में भी उक्त व्यास भगवान के वहाँ जाने का वर्णन मिलता है। जावा आदि द्वीपों में वैदिक उपदेशक बराबर जाते रहे हैं। जावा द्वीप के प्राचीन निवासी हमारे ही धर्म के मानने वाले थे और अब भी बहुत सी संख्या आर्य धर्मानुयायियों की है। वहाँ अभी तक मन्दिर आदि पाए जाते हैं। ७० श्लोकी गीता तथा अन्य कई धार्मिक संस्कृत-ग्रन्थ भी वहाँ से प्राप्त हुए थे। खेद है कि अब हमने समुद्र-यात्रा को ही रोक दिया जिससे हमारे विकास में बहुत त्रुटि आ गयी। वे सब जातियाँ जिनको हमारे पूर्वजों ने कठिनता से वैदिक धर्मावलम्बी बनाया था, यवन और ईसाई हो रहे हैं। इस समय जब कि अपने ही अंग कटते जा रहे हैं तो फिर दूसरों को अपने में लाने का ध्यान कहाँ ?

अमेरिका के मेक्सिको देश में अब भी राम का उत्सव मनाया जाता है। ईसा मसीह १८ वर्ष तक तक्षशिला के विश्वविद्यालय में शिक्षा पाते रहे। इसके पश्चात् ईसाई धर्म का प्रचार किया जिस पर बहुत कुछ बौद्ध धर्म की छाप पड़ी हुई है। पुराणों में ऐसे उदाहरणों की संख्या कम नहीं है।

बौद्ध काल

(३) बुद्ध भगवान ने सारे संसार में दया का सञ्चार किया। ईसाई धर्म बहुत कुछ अंशों में बौद्ध धर्म की छायामात्र है। मुसलमानों ने भी साम्यवाद का अङ्ग बौद्ध मत से ही लिया है। एक समय आधा संसार बुद्ध भगवान के चरण-चिन्हों को पूजता था। अब भी सब मत वालों से अधिक संख्या बौद्धों की ही है। चीन, जापान, ब्रह्मा, श्याम, अनाम, कम्बोडिया, तिब्बत, कोरिया मङ्गोलिया, मञ्चूरिया, अफ़ग़ानिस्तान, बिलोचिस्तान, फ़ारिस, टर्की, बेबिलोनिया, मिश्र, तुर्किस्तान, अरब, लङ्का और भारत में एक मात्र बौद्ध मत का प्रचार था। अफ़ग़ानिस्तान, बिलोचिस्तान, फ़ारिस, टर्की, अरब, तुर्किस्तान और भारत को छोड़ कर शेष देशों में अब भी बौद्ध धर्म का ही प्रचार है।

बौद्ध धर्म वैदिक धर्म की एक शाखा मात्र है। बुद्ध भगवान हमारे नवें अवतार ही हैं। महाराज अशोक वर्द्धन ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए जैसा प्रयत्न किया वैसा कदाचित् किसी राजा ने कभी अपने धर्म के लिए नहीं किया। यह कभी कभी स्वयम् भिक्षु बन कर रहे और अपने लड़के और लड़की को भी भिक्षु बनाकर इन्होंने धर्म-प्रचारार्थ लङ्का और तिब्बत को एवं सहस्रों उपदेशक दूसरे देशों को भेजे थे। बहुत से स्तम्भ अब भी खड़े हुए उनकी

कीर्ति का बखान कर रहे हैं। इस समय भी ५५ करोड़ मनुष्य-संख्या 'बुद्धो मे शरणम्' कह कर अपने को कृतार्थ मानती है। यह सब शुद्धि का ही प्रभाव और हिन्दू-जाति की पाचन-शक्ति के उत्कृष्ट उदाहरण थे।

भारत के प्राचीन इतिहास पर दृष्टि डालिए तो विदित होगा कि विक्रम से ४०० वर्ष पूर्व आन्ध्र वंशियों का भारत में राज था, जो दक्षिण प्रान्तवासी द्राविड़ जाति के थे और पीछे से वैदिक धर्मावलम्बी हो गए थे। ईसा से ३२३ वर्ष पूर्व सिकन्दर ने भारत पर चढ़ाई की थी। उसके पश्चात् बहुत से यूनान निवासी भारत के पश्चिमी भाग में बस गए थे। मिनेण्डर, स्ट्रैटो और ऐण्टिआल्किदश नाम के तीन राजा इसी वंश के हुए हैं जिन्होंने यहाँ के राजाओं से विवाह-सम्बन्ध भी जोड़ लिया था। कुछ विद्वानों की राय है कि कायस्थ उन्हीं के वंशज हैं।

ग्रीक लोगों के पीछे शक वंशियों ने राज्य किया जो सिथियन थे और पश्चिम से हमला करके पञ्जाब, राजपूताना, मथुरा, गुजरात, सिन्ध और मालवा में अपना राज्य जमा बैठे थे। इनके नाम मोअस, पैकोरस. [illegible]न्वु , ऐज़ेस थे। अन्तिम राजा को विक्रमादित्य ने राज्य छीन कर निकाल दिया था। परन्तु, विक्रम के १३५ वर्ष पीछे उन्हीं शकों का राज्य मालवा में फिर हो गया। इनका सब से प्रतापी राजा शालिवाहन हुआ जिसने अपना सम्वत्

शक नाम से प्रचलित किया। ये ही शक लोग शाक-द्वीपी ब्राह्मण और क्षत्रिय नाम से बहुत बड़ी संख्या में हिन्दू जाति में सम्मिलित हैं और वैदिक धर्म के पक्के अनुयायी हैं।

शकों के साथ एक पल्हव जाति बेबिलोनिया की ओर से भारत में आयी थी। गोण्डोफोर्स, अर्सकेस और सनवर्स नाम के तीन राजा इस वंश के भी हुए थे। ये लोग म्लेच्छ जाति के थे, परन्तु भारत में बस गए। अब उनका पहचानना भी कठिन है कि ये लोग वर्तमान काल में किस जाति में सम्मिलित हैं। इनके पश्चात् कुशान वंशी तिब्बत के उत्तर से भारत में आये। यह यूच हान वंश की एक शाखा थी। इसमें भी कनिष्क, हविष्क और उसका पुत्र वसुदेव राजा हुए। सम्वत् १८३ में इस राज्य का पतन हुआ। इनकी राजधानी मथुरा थी। इनके नाम ही पूर्व वंश का परिचय दे रहे हैं। इस जाति के लोग अब भी क्षत्रियों में गिने जाते हैं।

बिक्रम की पाँचवीं शताब्दि में हूणों का बड़ा प्रबल हमला हुआ। दल के दल भारत में आ गये। इस वंश में भी मिहिरकुल और उसका पुत्र तोरमाण बड़े प्रतापी राजा हुए जिनने मालवा तक राज्य किया। इनके प्रभाव से सारा भारत थर्रा गया था। अन्त में महाराज हर्ष वर्धन ने इन्हें परास्त किया था। ये ही कलहंस क्षत्रिय नाम से भारत में प्रसिद्ध हैं। योरप में भी इनकी जातियाँ फैली हुई हैं जो हूण नाम से पुकारी जाती हैं।

अहीर (आभीर), जाट, गूजर तथा अन्य अनेकानेक जातियाँ हिन्दू जाति में सम्मिलित होकर उसको परिवर्द्धित करती रही हैं।

उक्त इतिहास आपको बतलाता है कि आपकी पाचन-शक्ति कितनी प्रबल थी। अब आठवीं शताब्दि की एक घटना लीजिए। उस समय सारा देश बौद्ध मतानुयायी हो गया था और वह भी उसका विकृत रूप था। वर्ण-व्यवस्था नष्ट हो चुकी थी। जैसे आज कल अधिकतर हिन्दू दरगाह, क़ब्र, ताज़िया, मियाँ मदार, पीर औलिया और भूतप्रेत की पूजा में लगे हुए हैं वैसे ही उस समय मदिरादि दुर्व्यसनों और अनेक प्रकार के तान्त्रिक प्रयोगों में बौद्ध लोग फँसे हुए थे और घोर नास्तिक हो गये थे। कन्नौज के आस-पास का भाग और कुछ दक्षिण प्रान्त को छोड़ कर सारा भारत वर्ष बौद्ध होगया था। ऐसी स्थिति में स्वामी शङ्कराचार्य महाराज ने वेदों की ध्वनि उठायी और पुनः संस्कार कराके सबको फिर से वैदिक धर्म में दीक्षित किया। उस समय बहुत स्थानों में शुद्धि का यह नियम रक्खा गया था कि जहाँ तक उनके शंख की ध्वनि सुनायी दे सब शुद्ध मान लिये जायँ। अन्यथा करोड़ों मनुष्यों का पृथक् पृथक् संस्कार करना असम्भव था। इसी कारण स्मृतियों में समय समय के अनुसार अलग अलग व्यवस्थाएँ दी गयीं हैं।

रामानुज, माधवाचार्य, निम्बार्क, वल्लभाचार्य तथा चैतन्य

महाप्रभु ने बहुत से यवनों को दीक्षित किया। रसखान, सदना क़साई, धन्ना जाट, रैदास चमार, जैसे बड़े बड़े ईश्वर-भक्त इन्हीं लोगों में हो गये हैं। बङ्गाल में कई वंश इसी प्रकार शुद्ध किये गये हैं। गुरु नानक ने मक्का तक जाकर अपने धर्म का प्रचार किया। सिक्ख सम्प्रदाय ने बहुत से मुसलमानों को भी दीक्षित किया और हिन्दू-जाति की महत्ता बढ़ायी। रामानन्द स्वामी ने कबीर जुलाहा, नाई, भंगी आदि को शिष्य बनाया तथा अयोध्या में कुछ यवनों को भी दीक्षा दी। बिजनौर के ज़िले में एक जम्भ नामक साधु ने ४ लाख यवनों को शुद्ध किया और अपना शिष्य बनाया। ये सब विश्नोई कहलाते हैं। यह जाति बिजनौर, शाहजहाँपुर और पीलीभीत के ज़िलों में आबाद है। उनके यहाँ ब्राह्मण तक भोजन करते हैं। बहरायच, गोंडा आदि ज़िलों में बाबा जगजीवनदास ने बहुत से गद्दी मुसलमानों को शिष्य बनाया और कण्ठी दी। इन लोगों में सब कर्म हिन्दुओं के ही हैं।

महाराज शिवाजी ने बीजापुर सेना के बहुत से मुसलमान सिपाहियों को शुद्ध कर मरहटा बनाया और अपनी सेना में भर्ती कर लिया। गुरु गोविन्दसिंह ने भी लाखों मुसलमानों को सिक्ख सम्प्रदाय में मिलाया। राजा राममोहनराय और स्वामी दयानन्द ने भी ईसाई और मुसलमानों को शुद्ध कर हिन्दू-धर्म में मिलाया।

अब भी ब्राह्म समाज, प्रार्थना समाज, देव समाज और आर्य

समाज आदि संस्थाएँ यवनों को शुद्ध कर हिन्दू-जाति में मिला लेती हैं।

उपसंहार

उपर्युक्त प्रमाणों से यह भली भाँति विदित हो जाता है कि आर्य जाति वैदिक काल से अब तक बराबर अन्य जातियों को अपने में मिलाकर उनका पाचन करती आयी है। इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता।

मलकानों की भाँति बहुत सी ऐसी जातियाँ मुसलमानों में गिनी जाती हैं जिनके रीति रिवाज अधिकतर हिन्दुओं के ही समान हैं और जो अलग जाति बनाये हुए हैं तथा विवाह आदि सम्बन्ध आपस ही में करते हैं। इनमें कई ऐसी हैं जिनका खान-पान भी मुसलमानों से नहीं है।

भाट, गद्दी, गूजर, खानेज़ाद, कबाड़िया, ठाकुर आदि इसी प्रकार की जातियाँ मुसलमानों में मौजूद हैं। हिन्दू महासभा को चाहिए कि शीघ्र संगठन करके इनको शुद्धि सभा द्वारा अपनी जाति में मिलाने का प्रयत्न करे और अन्य लोगों के लिए भी धर्म-द्वार खोल देवे। कुछ लोग इन शुद्ध हुए लोगों के छुए हुए जलादि से परहेज़ करते हैं। ऐसे लोगों को पहले अपने कर्मों को तो देख लेना चाहिए।

नल का जल पीना, रेल में आना-जाना, अस्पताल की दवाई

पीना, धोबियों का दूध पीना, भरभूँजे के यहाँ के लाई चिउरा और खीलें चबाना, विलायती शक्कर खाना और अंडे और चर्बी की क़लई किए हुए कपड़े पहिनने से धर्म भ्रष्ट नहीं होता, केवल उपर्युक्त शुद्ध हुए मनुष्यों के जल से परहेज़ करना ही सीधे स्वर्ग भेज देगा। इस पर प्रत्येक हिन्दू को भली भाँति विचार करना चाहिए।

—भागीरथ प्रसाद दीक्षित

—["श्रीशारदा" से]

३३

लाहौर में रावी नदी का उषाकालीन दृश्य

लेखक—श्रीयुत सन्तराम, बी० ए०

[मेरा जन्म होशियारपुर के निकट पुरानी बसी नामक ग्राम में ४ फाल्गुन संवत् १९४३ विक्रमी को हुआ था। मैंने बी० ए० तक फ़ारसी पढ़ी थी। परन्तु पीछे से आर्य समाज के सत्संग से हिन्दी के प्रति इतना प्रेम बढ़ा कि सब काम छोड़कर मैंने हिन्दी सेवा को ही अपना मुख्य कर्तव्य बना लिया। इसके लिए सन् १९१४ ईसवी में मैं ने लाहौर से 'उषा' नाम की एक मासिक पत्रिका निकाली। वह कोई डेढ़ वर्ष चल कर बन्द हो गई। फिर कुछ देर कन्या-महाविद्यालय, जालंधर की मुख-पत्रिका, भारती, का संपादन किया। सरस्वती, माधुरी, सुधा, बाल-सखा आदि प्रसिद्ध हिन्दी मासिक पत्रिकाओं में

बहुत से लेख लिखने के अतिरिक्त मैं ने अब तक तीस से ऊपर पुस्तकों की रचना, संपादन और अनुवाद किया है। साहित्य-सेवा से ही मेरी रोटी चलती है। आज कल मैं जात-पाँत तोड़क मण्डल, लाहौर, के मुख-पत्र 'युगान्तर' का संपादन अवैतनिक रूप से करता हूँ और कृष्ण नगर, लाहौर में रहता हूँ।]

हिन्दुओं का जल पर विशेष प्रेम है। इनके तीर्थ और तपोवन प्रायः सब के सब जल के ही किनारे हैं। हमारा ख़याल है कि हिन्दुओं के समान स्नान करने वाली जाति संसार में और दूसरी नहीं। करोड़ों हिन्दू ऐसे हैं जो बिना स्नान किए अन्न-जल नहीं ग्रहण करते। एक दिन एक मुसलमान हकीम जी ठीक ही कह रहे थे कि हिन्दू रोगी चिकित्सक से जिस बात की बार बार आज्ञा माँगता है वह स्नान है। मुसलमान रोगी कहता है, हकीम साहब मुझे एकाध बोटी मांस खाने की आज्ञा दे दीजिए। इसके विपरीत हिन्दू कहता है, हकीम जी, स्नान किए बिना मुझे भूख ही न लगेगी, और नहीं तो मुझे हाथ-पैर धोने की तो आज्ञा अवश्य दीजिए। इस छोटी सी बात से दोनों धर्मों के मानने वालों का मनोभाव स्पष्ट मालूम हो जाता है। हिन्दू-स्त्रियों में कार्तिक-स्नान की बड़ी महिमा है। बच्ची-बूढ़ी सभी कार्तिक-स्नान करती हैं। जिन गाँव अथवा नगरों के निकट नदी है, वहाँ की स्त्रियाँ प्रातः काल उठकर वहीं नहाने जाती हैं। यदि नदी नहीं होती तो वे

कूप या वापी पर ही शरीर-प्रक्षालन कर लेती हैं। कहें तो कह सकते हैं कि जल धार्मिक हिन्दुओं का प्राण-स्वरूप है। हिन्दू-स्त्री दरिद्र से दरिद्र भी क्यों न हो, उसके तन पर मैले-कुचैले चिथड़े ही क्यों न लटक रहे हों, परन्तु वह नित्य सवेरे स्नान अवश्य करेगी। ईसाई और मुसलमान स्त्रियों में बनाव-चुनाव का भाव हिन्दू-स्त्री से बहुत अधिक है। वे शरीर के सौन्दर्य पर हिन्दू-स्त्री से कहीं अधिक ध्यान देती हैं। परन्तु उनमें नित्य स्नान करने वाली सौ पीछे एक भी न मिलेगी। उनका "ग़ुसल" विशेष अवसरों पर ही होता है। रोज़ तो वे साबुन से हाथ-मुँह धोकर तैल ही चुपड़ा करती हैं। उनको भीतरी शुद्धि की अपेक्षा बाहिरी चमक का अधिक ध्यान रहता है। खेद है कि अँगरेज़ी स्कूलों में पढ़ने वाली हिन्दू लड़कियाँ भी अब उसी लहर में बहने लगी हैं। दैनिक स्नान को छोड़ कर अब वे भी स्कूल जाने से पहले पोमेड और पौडर से मुखमंडल को पोतना आवश्यक समझने लगी हैं।

किसी समय रावी लाहौर के क़िले के नीचे बहती थी। परन्तु अब वह कोई दो मील परे हट गई है। उसके तट तक नगर से एक पक्की सड़क गई है। पहले तो यह रास्ता उजाड़ सा था, शीशम का घना जंगल फैला हुआ था। परन्तु अब कुछ समय से सड़क के दोनों ओर मकान बनने आरम्भ हो गए हैं और

आशा होती है कि शीघ्र ही नदी तक सारा मार्ग आबाद हो जायगा। इस सड़क पर लोगों ने भजन पूजा आदि के लिए देवालय बनवा लिए हैं, साथ ही कुएँ भी। एक वेद-मंदिर और दूसरा विहारी-भवन दो प्रसिद्ध जगहें हैं। यहाँ लोग व्यायाम, स्नान और संध्या-वंदन करते हैं।

लाहौर ऐसी जनाकीर्ण महानगरी में रहते हुए प्रातःकाल वायु-सेवन के लिए न निकलना रोग और मृत्यु को अपने यहाँ निमंत्रण देना है। मैं जब से लाहौर में आया हूँ, रोज़ सवेरे नदी पर जाता हूँ। मैं पाँच बरस से देख रहा हूँ कि जो लोग सन् १६२२ में नदी पर जाते थे वही अब भी जाते हैं। इन में कुछ लोग ऐसे हैं जो बारहों महीने निरन्तर प्रातःकाल नदी पर पहुँचते हैं। इन पर वर्षा और शीत का कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। परन्तु इनकी संख्या है बहुत थोड़ी। इन से अधिक संख्या उन लोगों की है जो ग्रीष्म और वर्षा-ऋतु में ही जाते हैं, पौष-माघ की कड़कड़ाती सरदी में इनके दर्शन नहीं होते। इन से भी बढ़कर संख्या उन फ़सली बटेरों की है जो रविवार, संक्रांति या अमावास्या आदि किसी विशेष दिन ही नदी की मछलियों को दर्शन देने जाते हैं। लाहौर में मुसलमानों की संख्या हिन्दुओं से अधिक है। परन्तु नदी पर जानेवालों में रूमी टोपियों और बुरकों की शकल क्वचित् ही देख पड़ती है।

लाहौर में रावी नदी का उषाकालीन दृश्य

पाठक, चलिए आज प्रातःकाल आपको भी अपने साथ रम्य-तटी रावी पर ले चलें। शौचादि से भी वहीं निवृत्त होंगे। कोट और बूट पहनने की आवश्यकता नहीं। मेरी तरह आप भी धोती और कमीज़ पहन कर नङ्गे सिर चलिए। सभ्यता का आडम्बर करने की आवश्यकता नहीं। वह देखिए हाथ में लम्बे-लम्बे डण्डे लिए और बग़ल में आसन दबाए प्रौढ़ अवस्था के पुरुषों का एक दल जा रहा है। आप जानते हैं, ये लोग कौन हैं? अच्छा तनिक ठहरिए। आप को अभी मालूम हो जायगा। यह लीजिए 'नमस्ते महाराज!' के नाद ने तड़के की निस्तब्धता को एकदम भङ्ग कर दिया। अब आप समझे। ये आर्य समाजी हैं। नदी-तट पर स्नान-संध्या करने जा रहे हैं। इन में कई अच्छे भजनीक भी हैं। अभी आप को 'ईश्वर का जप जाप रे मन' और 'जय जय पिता परम आनन्द-दाता' का मधुर स्वर सुनाई पड़ेगा।

ज़रा पीछे मुड़ कर देखिए। नवयुवकों की एक मण्डली बड़े जोश से गाती हुई चली आ रही है। ध्यान से सुनिए, ये क्या गाते हैं—'मेरा रङ्ग दे नाम बिच चोला—यह रङ्ग बड़ा अनमोला'। इनके साथ के कुछ लोग एक दूसरे ही स्वर में 'जप प्यारिया सचा नाम ओंकार दा' गा रहे हैं। ये सब युवक जोशीले आर्य समाजी हैं। देखिए उनके हाथों में मोटे मोटे डंडे हैं। थोड़ी थोड़ी देर बाद 'ओ३म्' और 'नमस्ते' का घोष भी करते जाते हैं।

"जय सीताराम ! जय सीताराम" ! घुटनों तक धोती, सिर पर दो-तीन पेंच का साफ़ा और हाथ में डोरी-लोटा लिए ये तिलकधारी सज्जन जी "जय सीताराम ! जय सीताराम" कहते जा रहे हैं, कौन हैं ? ज़रा ठहरिए, इनका आपको तमाशा दिखाएँ। "भक्त जी, जय राधेश्याम !' भक्त जी ठहर गए और बोले—"भले लोग तू लड़ाई लेना चाहता है ? राधेश्याम कहा नहीं कि मुक्त हो गया नहीं । तू क्या चाहता है कि मैं मुक्त हो जाऊँ और तू मेरा लोटा-डोरी छीन ले। सीताराम, सीताराम, कह। सवेरे सवेरे क्यों लड़ाई मोल लेता है ?" इतने में एक और आवाज़ आई—'भक्त जी, राधेश्याम !' भक्त जी फिर बनावटी क्रोध से वही बातें कहने लगे। नदी तक पहुँचते-पहुँचते न मालूम कितने मनुष्य इन्हें इसी प्रकार 'राधेश्याम !' कह कर छेड़ेंगे।

इधर देखिए, एक भक्तजन कुत्तों और कौओं को रोटी के टुकड़े डाल रहा है। देखना, कौए कैसे उड़ उड़ कर टुकड़ों को दबोच रहे हैं। ऐसे कई भक्त नित्य बलिवैश्व-देव-यज्ञ किया करते हैं।

'दातून ! दातून !' उधर देखिए एक भक्त लालाजी सिर पर दातूनों का बड़ा सा गट्ठा रक्खे राह चलतों को दातूनें बाँटते चले आ रहे हैं। आप उच्च स्वर से 'दातून ! दातून !' पुकारते हैं। जिसको आवश्यकता होती है वह उन से दातून ले लेता है। कैसा उपकार का काम है ! पर कल मुझे एक बाबू को दातूनें

बाँटते देख बड़ी हँसी आई थी। वह कह रहा था—दातून प्लीज़

वह सामने देखिए। वृद्धा स्त्रियों की एक टोली नदी में स्नान करके वापस आ रही है। सबके पैर नंगे हैं। काले घाँघरे पहन रक्खे हैं। हाथ में छोटी सी लुटिया है और गले में रुद्राक्ष की माला लटक रही है। भक्ति में मग्न होकर धीरे धीरे कुछ गाती आ रही हैं। चेहरे से शांति और पवित्रता टपकती है। ज़रा कान देकर सुनिए, ये क्या गा रही हैं। अहा कैसा भक्तिरस-पूर्ण भजन है! भगवान कृष्ण चन्द्र के प्रेम में विह्वल होकर कैसे हृदय-स्पर्शी स्वर में कह रही हैं:—

"अपनी भक्ति दे नंदलाला,
अरज करे ब्रजनारी जी।"

मैंने भी इन भक्तिमय देवियों के स्वर में स्वर मिला कर अनेक बार इसी रावी-रोड पर "अपनी भक्ति दे नंदलाला" का मनोहर भजन गाया है। इनकी इस समय की तल्लीनता को देख कर ऐसा जान पड़ता है मानो साक्षात् भक्ति की मूर्त्तियाँ हैं।

इन्हीं के पीछे एक और मण्डली एक दूसरा ही भजन गाती आ रही है—

जीभा तेरी चाम की।
खेती बो ले राम नाम की॥

तनिक उस शुभ्र-वसना महाश्वेता देवी की ओर देखना।

वह अकेली जा रही है। मैं कई बरस से उसे इसी प्रकार अकेली आते देखता हूँ। वह चुपचाप जाती है। मुखमंडल से आत्मिक शांति टपकती है। सुना है, यह नित्य योगाभ्यास करने जाती है।

अधिकांश नर-नारी गोशाला के पास होकर शीघ्र ही नदी पर पहुँच जाते हैं। नदी पर कोई पक्का घाट नहीं। एक जगह माई लोग स्नान करती हैं और उसके कुछ दूर हट कर पुरुष। पर हम उधर नहीं जाना चाहते, हम आगे जायँगे। पार्क की ओर भी नहीं मुड़ेंगे। सीधा पुल पर पहुँचेंगे। वहाँ बड़ा अच्छा दृश्य है। पुल के पास जंगल है। यहीं उतर कर शौचादि से निवृत्त हो लीजिए। यहीं से वापस लौटना होगा। देर होगई है। नहीं तो वह सामने शाहदरा में जहाँगीर की समाधि तक चलते। चलो, लौटते हुए कुछ दूर तक दौड़ें। आध मील भी दौड़ लेने से पर्याप्त व्यायाम हो जाता है। सारे दिन आलस्य नहीं आता। पुल से लेकर गोशाला तक की दौड़ काफ़ी है

अब आपको एक दूसरे प्रकार की सृष्टि नदी की ओर आती मिलेगी। वह देखिए, बुड्ढे बाबुओं की एक टोली टहलती टहलती आ रही है। सबके सब बूट, कोट, पतलून और चश्माधारी हैं। हाथों में बेंत की छड़ियाँ हैं। इनमें कई तो पेंशनर मालूम होते हैं; और बाक़ी कचहरी के मुलाज़िम जान पड़ते हैं। इनका वार्तालाप सुनने का कई बार संयोग मिला है। ये लोग प्रायः अमुक अँगरेज़ नरम है,

अमुक अफ़सर सख़्त है, और जज साहब जाने वाले हैं, इत्यादि बातें ही किया करते हैं।

वह सामने देखिए, दो वृद्धा स्त्रियाँ आ रही हैं। उनके साथ एक नौ-दस बरस की बालिका है। इन स्त्रियों का वेश तो है पंजाबी पर ये पञ्जाबी नहीं! ज़रा इनकी बात-चीत सुनिए। एक कहती है—'उसे नमूनियाँ हुई गया।' दूसरी कहती है—'नहीं, प्रेग निकर आया।' अब आप समझे ये कहाँ की हैं? 'ल' को 'र' में बदलने वाला देश संयुक्त प्रान्त का पूर्वी भाग ही है। इन वृद्धाओं को मैं बहुत दिनों से नित्य नियम-पूर्वक प्रातःकाल वायु-सेवनार्थ इधर आते देखता हूँ।

क्या कारण है, आज हर रोज़ से बहुत अधिक स्त्रियाँ आ रही हैं? फिर उन में बालिकाओं और युवतियों की संख्या भी बहुत है। आज कहीं सोमवती अमावास्या तो नहीं?

देखिए, कैसे नाना वर्णों के सुन्दर वस्त्र धारण किए हुए हैं! कैसी निराली सज-धज से चली आ रही हैं! कैसा अद्भुत रूप-लावण्य है! इन नगर-नारियों में कोई कोई रमणी तो इतनी सुन्दरी है जिसे देख कर यही कहना पड़ता है कि विधाता ने फ़ुर्सत के समय बैठ कर उसकी रचना की है। परन्तु इन्हीं में कई एक के शरीर इतने बेडौल और स्थूल हैं कि उन्हें देख कर 'भङ्गियों की तोप' का स्मरण हो आता है।

सड़क की दाईं पटरी पर देखिए, कैसा विचित्र दृश्य है। एक लम्बी-चौड़ी और काली-कलूटी भयङ्कर मूर्ति गधे पर सवार आ रही है। उसकी नाक में भद्दी-सी लौंग है। एक हाथ में एक बहुत बड़ा हुक्क़ा और दूसरे में एक मोटा और लम्बा डण्डा है। दोनों ओर टाँगें फैलाए बड़े रोब से बैठी है। इस यवनी की विकराल काया को देख कर भय और विस्मय दोनों होते हैं। कहाँ तो फूल के सदृश कुम्हला जाने वाली लवपुर की कोमलाङ्गी किशोरियाँ और कहाँ यह भीमकाय आसुरी मूर्त्ति! ऐसे परस्पर-विरोधी नमूने इसी देश में सम्भव हैं।

चलो, अब जल्दी जल्दी घर पहुँचें। अभी हमें स्नान करना बाक़ी है।

३४

काहनूजी आँग्रे

अठारहवीं शताब्दी के लगभग भारत में योरुपीय व्यापारियों की दशा बड़ी शोचनीय थी। उनके भिन्न भिन्न दलों में भारी संघर्ष हो रहा था। इस से उनके व्यापार को भारी धक्का और हानि पहुँच रही थी। इसके अतिरिक्त उनके और भी भीषण शत्रु थे। यह वह राक्षस मण्डली थी जिसे वीरता और मर्यादा के उन नियमों की कुछ भी परवाह न थी जिन का पालन सभ्य राष्ट्र करते हैं। ये लोग न्याय और अन्याय का विचार छोड़ कर इन अभागे व्यापारियों को लूट कर धनवान् बनने का कोई भी अवसर हाथ से न जाने देते थे।

ये मलाबार के सागर-तट के भयानक समुद्री लुटेरे थे। ये बड़े क्रूर, निःशङ्क और अघोरकर्मा थे। इन के चित्र-विचित्र दलों में लगभग सभी राष्ट्रों के ठग और क़ानून तोड़नेवाले लोग थे। इन की छोटी छोटी शीघ्र-गामिनी नावें तोपों से सुसज्जित होती थीं। इनके केवट रक्त-पिपासु और निःशङ्क लोग होते थे। ये पश्चिम और भारत के बीच व्यापार करने वाले बहुमूल्य माल से भरे जहाज़ों की प्रतीक्षा में पड़े रहते थे। ज्यों ही कोई जहाज़ इन की मार के भीतर पहुँचता ये झट उसके तख़्ते पर चढ़ कर उस के केवटों का वध कर डालते। तत्पश्चात् ये उसके क़ीमती माल को अपनी डोंगी में रख लेते थे।

कभी कभी कोई बलवान् व्यापारी जहाज़ इन लुटेरों को मार कर हटा भी देता था और आधे के लग भग यात्रियों की प्राण-हानि कराने के बाद किसी न किसी प्रकार बंदर में जा पहुँचता था। जहाज़, आशा और उत्साह से भरे हुए, बंदर से बाहर चले जाते थे और फिर संसार को उनका पता भी नहीं लगता था। तब जिन साहसी व्यापारियों ने उन्हें माल देकर भेजा था वे समुद्र पर खड़े होकर हाथ मलते और समुद्री डाकुओं को गालियाँ देते हुए दाँत पीसते थे।

आप कहेंगे कि सभी प्रतिद्वन्द्वी व्यापारी कुछ समय के लिए अपने भेद-भावों को भूल कर इन सब के साझे शत्रुओं को मिटा

देने के लिए आपस में मिल क्यों नहीं जाते थे? इसका उत्तर यही है कि इस विषय में योरुपीय व्यापारी कम्पनियों का आचरण उस समय उतना उदार न था जितना कि होना चाहिए। वे लोग एक ही चीज़ के लिए एक दूसरे का गला काटने में बहुत अधिक निरत थे। यद्यपि उनको अपने जहाज़ों के छिन जाने पर बहुत शोक होता था तो भी वे प्रतियोगी का विध्वंस देख कर प्रसन्न होते थे। इस प्रकार वे समुद्री डाकुओं का जुआ गले में पहनते, उनके साथ सन्धियाँ करते, और उनको बहुत सा रुपया देते थे ताकि वे उनके जहाज़ों को कुछ न कहें।

उन सागर दस्युओं में सब से बड़ा काह्नूजी आँग्रे था। वह समुद्री डाकुओं का राजा था। उसकी महाबलवान् नाड़ियों में जो निर्भीक और साहसी रक्त बहता था उस पर विचार करके यह कहना पड़ता है कि यदि वह ऐसा भीषण डाकू न होता तो बड़े अचम्भे की बात होती। इस अद्भुत वंश के रोमांचकारी कार्यों के संबंध में अनेक कहानियाँ प्रसिद्ध हैं। इन कहानियों में सत्य और कल्पना (Fiction) बहुत बुरी तरह से ओत-प्रोत कर दी गई है। उन क्षुब्ध समयों के प्रसन्नचित्त इतिहास-लेखकों ने सचाई पर बहुत सूक्ष्म दृष्टि डाल कर अच्छी कहानी को ख़राब करने की चेष्टा नहीं की, परन्तु इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि ये अठारहवीं शताब्दी की कथाएँ कुछ न कुछ मनोमोहक अवश्य

हैं। ये सच्ची हों चाहे झूठी इन से उन मनोरंजक साहसी लोगों के रीति-रिवाजों पर उज्ज्वल प्रकाश पड़ता है। इस लिए, आइए, ज़रा आँग्रे-वंश के अद्भुत उत्कर्ष की कथा पर ध्यान दें।

कहते हैं, सन् १६४८ में एक अरबी व्यापारी जहाज़ मस्कत से चला। मौसम बहुत ही ख़राब था। वायु उसे ढकेल कर भारत के पश्चिमी सागर-तट पर ले आई। अन्त में वह चौल के समीप एक छोटी सी खाड़ी में किनारे पर पहुँचा। इस लम्बी और कष्ट-दायक समुद्र-यात्रा से मालिक और नौकर दोनों की तबियत पर बड़ा ज़ोर पड़ा था। विध्वंस के समय उनके सम्बन्ध आपस में अच्छे नहीं रहे थे। जब उस प्रदेश के राजा ने सुना कि एक अन-जान जहाज़ उसके राज्य में किनारे पर आ लगा है, तो उस ने सारी बातों का निरूपण करने के लिए अपने अफ़सर भेजे। मल्लाहों को इन अफसरों के कान में अपनी दुःख-वार्ता डालने का अवसर मिल गया। उन्होंने अपने कप्तान पर क्रूर और अमानुषी बर्ताव का दोषारोपण किया। कप्तान ने भी अपना रोना सुनाया। उसने विस्तार के साथ बताया कि ये लोग मेरी आज्ञा का उल्लङ्घन और विद्रोह करते थे। उसने अपने निर्णेताओं से नियमन और सुव्य-वस्था के सिद्धान्त को ऊँचा रखने के लिए अपील की। परन्तु दुर्भाग्य से वह अकेला और उस पर दोषारोपण करने वाले अनेक थे। अफसरों ने अपनी समदर्शिता प्रकट करते हुए निर्णय किया

कि बहुसंख्या की इच्छा ही प्रधान मानी जायगी। उन्हों ने बड़ी शिष्टता के साथ उसे सूचना दी कि शोक है कि हमें आप को बड़े कष्ट के साथ मृत्यु-दण्ड देना पड़ता है। इस के बाद उन्हों ने चट पट उसकी हत्या कर डाली।

अब जिस राजा के प्रदेश में वे आकर उतरे थे, संयोग से उस समय उसके और मुग़ल-सम्राट के बीच एक छोटा सा युद्ध चल रहा था। परन्तु उसे इस में सन्तोषजनक सफलता नहीं हो रही थी। वरन् सच तो यह है कि वह दो बार हार खा चुका था। वह इन अजनबियों को अपनी सेना में भरती कर के बड़ा प्रसन्न हुआ। प्रजा के लगभग एक सौ मनुष्यों के साथ उनको जोड़ कर एक छोटे से अफसर के अधीन उनकी एक सेना बना दी गई और वह बड़ी वीरता के साथ समर-भूमि के लिए चल दी।

दैवयोग से रास्ते में मुगल-सेना की एक टुकड़ी से उनकी मुठ-भेड़ हो गई। मुगल-सेना उनसे पाँच गुना अधिक थी। विवेक को ही शौर्य का उत्तम अङ्ग समझ, उनका नेता चट पट रण-भूमि से भाग गया। कप्तान के इस प्रकार लज्जा-जनक रीति से भाग जाने पर दूसरों का उत्साह भी भंग हो गया। वे भी भाग जाने की तैयारी करने लगे। परन्तु जहाँ से कुछ आशा न थी वहीं से सहायता आ पहुँची। जो जहाज़ भटक कर वहाँ आ लगा था उसके माझियों का नेता शम्भु आँग्रे था। कहते हैं, वह "बड़ा निडर, साहसी,

और वीर मनुष्य" था। वह महाशय अब आगे आ गया और उच्च स्वर से बोला—"जो गाड़ियाँ और असबाब के छकड़े तुम लाए हो उन्हें लेकर घेरा बाँध लो।" ऐसा ही किया गया और इस जल्दी में बनाए हुए रक्षा-स्थान से वे शत्रु पर गोली बरसाने लगे। घटनावली में यह परिवर्तन देख मुग़लों को कुछ विस्मय हुआ। परन्तु वे नहीं चाहते थे कि उन का आखेट बच कर निकल जाए। इस लिए उन्होंने बड़े ज़ोर से धावा बोला। अन्त को रात हो गई। साहसी आँग्रे ने युद्ध की एक नई कल्पना तैयार की। उसने अपने माझियों को इकट्ठा किया और बीस देसी मनुष्यों को साथ ले, वह छिप कर मोरचे से बाहर चला गया। यह छोटा सा दल चुप चाप और हौले हौले शत्रु-सेना के पिछले भाग के पास जा पहुँचा। गोली की मार के अन्तर पर पहुँच कर, गगन-भेदी स्वर से चिल्लाते हुए, उन्हों ने हल्ला बोल दिया। गाड़ियों की ओट से बाक़ी के मनुष्य भी गोली बरसाने लगे। इस साहस के कार्य में उन्हें पूरी सफलता हुई। मुग़लों ने समझा कि शत्रु की कुमुक आ गई है। इस लिए उनमें घबराहट से भग-दड़ मच गई। उनकी हार में अगर कोई त्रुटि रह गई थी तो उसे पूरा करने के लिए गढ़ की सेना ओट से बाहर निकल कर मुग़लों पर टूट पड़ी। शत्रु-दल के केवल छत्तीस मनुष्य जीते बचे, शेष सब काट डाले गये। कहते हैं, आँग्रे ने स्वयं अपने हाथ से चालीस

आदमी मारे।

यह छोटा सा वीर-दल लूट का माल लेकर चल पड़ा। अन्त में वह प्रधान सेना के साथ जा मिला। आँग्रे चट पट राजा के तंत्र में पहुँचा। उसने अपने साहसिक कार्य का वर्णन .खूब नमक मिर्च लगा कर सुनाया। राजा को बड़ा आश्चर्य और प्रसन्नता हुई। इसी प्रसन्नता में उसने आँग्रे को अपनी सेना में एक महत्व-पूर्ण पद प्रदान किया। विक्रान्त केवट शीघ्र ही उन्नति करके उच्चतम पद पर पहुँच गया। दस वर्ष बाद उसने महामंत्री की लड़की से विवाह कर लिया। सन् १६७५ में बड़े मान-प्रतिष्ठा के साथ उसने अपनी मानव-लीला समाप्त की। उसका स्वामी भी उसके बाद शीघ्र ही परलोक सिधारा। वह अपने पीछे एक पुत्र छोड़ गया, जो उसके स्थान में राजा बना।

अब नया राजा अपने नव-प्राप्त सम्मान से थोड़ा फूल गया। उसने अपने को पूरा स्वतन्त्र बनाने का विचार किया और मुग़लों को कर देने से इंकार कर दिया। इस छोटे से कौतुक से दल्ली-दरबार को उतनी घबराहट नहीं हुई जितना कि मनोरञ्जन। उस ने सूरत के नवाब को उस के देश पर चढ़ाई करने और उस उजड्ड राजा को शिष्टाचार का पाठ पढ़ाने की आज्ञा दी।

वीर आँग्रे को परमेश्वर ने एक पुत्र दिया था। इस बालक ने अपने पिता के सैनिक गुण उत्तराधिकार में पाए थे। राजा की

सेना का कमान अफ़सर बनने का अधिकार इसी का था। परन्तु नवयुवक राजा द्वितीय आँग्रे से कुछ बदगुमान रहता था। इस लिए प्रधान सेनापति किसी दूसरे अफ़सर को बनाया गया। आँग्रे का इस को अपना अपमान समझना स्वाभाविक था। उस ने सोचा कि यदि मैं एक पक्ष की सेना का कमाण्डर नहीं बन सकता, तो कोई कारण नहीं कि मैं दूसरे पक्ष का सेना-नायक क्यों न बनूँ। इस लिए उसने अपनी सेवाएँ सूरत के नवाब को पेश कीं। उसने इसे सहायक सेनापति बना दिया।

आँग्रे ने नवाब का और भी अधिक कृपापात्र बनने के उद्देश्य से वीरता के बड़े बड़े अद्भुत कार्य किए। उसे अपने पहले स्वामी से थोड़ा बदला लेना बाक़ी था। इस लिए जो भी बन्दी उसके हाथ पड़ा वह उसने तलवार के घाट उतार दिया। जिस अफ़सर ने उसका पद छीना था वह भी पकड़ा जा कर नवाब के सामने लाया गया। इससे आँग्रे को बड़ी प्रसन्नता हुई। वह अधिक खटराग किए बिना उसका सिर काट डालना चाहता था, परन्तु नवाब आगा-पीछा करने लगा। बन्दी अपने बन्दी-कर्त्ता के दयालु स्वभाव को ताड़ गया। उसने झट नवाब के सामने पाँव पर गिर कर प्राणों की भिक्षा माँगी। नवाब ने कहा—'डरो मत, तुम्हारी प्राण-हानि नहीं की जायगी।' अपने हृदय की व्यथा को बड़ी ही होशियारी से छिपा कर, सेनापति अकड़ता हुआ वहाँ से चला गया और बदला

लेने की चिन्ता करने लगा।

अब से कुछ समय पहले, राजा इस परिणाम पर पहुँचा था कि मुझ से बड़ी भारी भूल हो गई। उसने आँग्रे के पास लौट आने के लिए अनेक गुप्त दूत भेजे। पुरस्कार में उस पर बहुत सी कृपाएँ करने का भी वचन दिया। वह बोला—'हम तुम्हारे साथ अपनी बहन का विवाह कर देंगे, तुम्हें अपना प्रधान मन्त्री बना देंगे और अपनी सेना की कमान तुम्हें सौंप देंगे।' रुष्ट सेना-पति ने इसे बदला लेने का अच्छा अवसर समझ झट स्वीकार कर लिया। परन्तु नवाब को अन्तिम रूप से छोड़ने के पूर्व उसने उसके बहुत से अफ़सरों और सिपाहियों को अपनी ओर कर लिया। उसने उन से कहा, यदि तुम नवाब को छोड़ कर मेरे साथ दूसरी ओर चले चलोगे तो मैं तुम्हें बड़े बड़े अधिकार और पद दूँगा।

नवाब को इस का संदेह तक न था। सब तैयारी पूरी करके आँग्रे नवाब के निकट पहुँचा और बोला—'मैंने एक ऐसी युक्ति सोची है जिस से हम अपने शत्रुओं का विध्वंस कर सकेंगे। मुझे कई गुप्त घाटियों का पता है। हुजूर उन में से होकर शत्रु की सेना पर धावा बोल दें। मैं तेज़ी से कूच करता हुआ दूसरी ओर से उस पर हल्ला बोलूँगा। इस प्रकार शत्रु-सैन्य में गड़बड़ मच जायगी।'

नवाब को यह विचार बहुत अच्छा प्रतीत हुआ। वह अपनी सेना का एक बड़ा भाग लेकर चल पड़ा। उसने अपने जरनैल के उपदेश पर इतनी पूरी तरह से आचरण किया कि उसने तुरन्त अपने को एक लम्बे और तङ्ग नाले में बन्द हुआ पाया। जब वह नाले से निकल कर मैदान में आने लगा तो अपने मार्ग को शत्रु से रुका हुआ देख उसे बड़ी व्याकुलता हुई। जिस मार्ग से वह आया था उसी मार्ग से जाने का उसने यत्न किया, परन्तु आँग्रे और उसके रूठे हुए सिपाही दूसरे सिरे को रोके खड़े थे। अभागा नवाब पिंजरे में चूहे की तरह फँस गया। काल की कराल मूर्ति उसके सामने खड़ी अट्टहास कर रही थी। उसने बड़ी वीरता से शत्रुदल को तोड़ कर बाहर निकल जाने का उद्योग किया। परन्तु सफलता न हुई। उसकी सारी सेना नष्ट हो गई। उसके चुने हुए ६००० मनुष्य रण-भूमि में खेत रहे।

बदला ले चुकने के बाद आँग्रे फिर अपने पुराने स्वामी से मिला। उसने इसे विधि-पूर्वक अपना प्रधान मन्त्री बना लिया। इसके थोड़ी देर बाद बड़ी धूम धाम से उसका विवाह राजा की बहन के साथ हो गया। परन्तु इस पद और प्रतिष्ठा का आनन्द चिरकाल तक लेना उसके भाग्य में न था। सन् १६८६ में वह मुग़लों के साथ बड़ी वीरता से युद्ध कर रहा था कि एक गोली उसके हृदय को पार कर गई। वह वहीं ढेर हो गया। उसके दो

छोटे छोटे पुत्र थे। राजा ने उनको दत्तक पुत्र बना कर बड़ी सावधानी से उनका पालन-पोषण किया। बड़ा लड़का तो युवावस्था को प्राप्त होने के पहले ही मर गया, परन्तु दूसरा काह्नूजी आँग्रे खूब बढ़ा-फूला, और शीघ्र ही दरबार में लोकप्रिय हो गया।

जब उसने अपने बीसवें वर्ष में पग रक्खा तो उसके तरुण होने के उपलक्ष में एक बड़ा उत्सव मनाया गया। उस समय उस को बड़े बड़े बहुमूल्य उपहार दिये गये। परन्तु सब से बहुमूल्य उपहार वह था जो उस के मामा, राजा, ने उसे दिया। बम्बई के बन्दर के भीतर, लंगर डालने के स्थान से लग भग साढ़े चार कोस के अन्तर पर, कनेरी नाम का एक छोटा सा पथरीला टापू है। उस के सीधे खड़े सागर-तट पर एक बड़े सुदृढ़ और प्राय: अजेय दुर्ग के मीनार सिर उठाए आकाश से बातें करते थे। दयालु राजा ने यह दुर्ग अपने भांजे को भेंट कर दिया। उस के अतिरिक्त उसने थोड़ी सी नौकाएँ भी उसे दीं और उस को अफसरों तथा सिपाहियों की एक टुकड़ी का नायक भी बना दिया।

इस अनुग्रह के बदले में काह्नूजी राजा की सेना में भरती हो गया। मुगलों के साथ एक और झगड़ा खड़ा हो गया था। इस युद्ध में काह्नूजी ने ऐसे हाथ दिखाए कि गुण-ग्राहक राजा कृतज्ञता के भार से दब गया। भाग्यशाली युवक तरुण पर

सम्मान और प्रतिष्ठा की वृष्टि कर दी गई।

इस बीच में आँग्रे सोच रहा था कि मैं अपने टापू से क्या काम लूँ। सहसा उस के मन में एक मनोहर विचार उत्पन्न हुआ। योरुपीय व्यापारी पश्चिमी सागरों से जो अमित धन-राशि लाते थे उसे देख इसे बड़ा आश्चर्य होता था। वह सोचता था कि इस धन का कुछ भाग मेरे ख़ज़ाने में क्यों न जाय? उसने अपने ये विचार राजा पर प्रकट किए। वह भी कुछ कम उत्साही न था। उसने उसे रुपया, जहाज़ और सिपाही दिए। आँग्रे ने मज़बूती के साथ अपने सागर-परिवेष्टित दुर्ग की क़िला-बन्दी करना शुरू कर दिया। अब वह अपने जहाज़ों में बैठ कर समुद्र में जाता और जो भी व्यापारी-जहाज़ रास्ते में मिलता उसे लूट लेता। थोड़े ही समय में वह व्यापारियों के लिए एक हौआ बन गया।

परन्तु तरुण समुद्री डाकू अपने चट्टान से घिरे हुए छोटे से टापू पर सन्तुष्ट न था—उसके मन में बहुत अधिक महत्वाकांक्षाएँ थीं। उसने कोई २०,००० मनुष्यों की सेना एकत्र की और नए मैदान मारने के लिए जहाज़ में बैठ कर सागर-तट के साथ साथ गया। भारत के मान-चित्र पर यदि आप दृष्टि डालेंगे तो आप को बम्बई और गोआ के बीच आधे मार्ग पर गेदिया नाम का एक स्थान लिखा मिलेगा। पुर्तगीज़ों ने यहाँ कई मज़बूत क़िले बनाए थे। आँग्रे इस परिणाम पर पहुँचा कि इस स्थान को अपनी छावनी

बना कर लूटमार के लिए इधर उधर चढ़ाइयाँ करना अच्छा रहेगा। इस लिए यहाँ आशावान सेना को उतारा गया, और शीघ्र ही नारियल के पेड़ों से ढँके हुए मलाबार के सागर-तट पर एक बड़ा विकट और भयानक गढ़ खड़ा हो गया।

कल्पना कीजिए, एक चौड़ा और खुला बन्दर है। स्थल से एक मील के अन्तर पर एक पाषाणमय अन्तरीप सागर से सिर निकाल रहा है। सागर की हिलोरें लेती हुई तरङ्गमाला ने धो धो कर इसके मुँह को गोल और चौरस बना दिया है। इस की चोटी पर एक बड़ा भारी दुर्ग है। दुर्ग के चारों ओर मोटी मोटी दीवारें और बगलों पर ऊँचे मीनार हैं। यह समुद्र की खौलती हुई असीम जल-राशि को घुड़की-भरी दृष्टि से देख रहा है। भूमि की एक तंग धज्जी इस भूनासिका को तट के साथ जोड़ती है। यहाँ इस बालुकामय डमरुमध्य में बड़े बड़े डॉक हैं। यहाँ सागर-दस्युओं के जहाज़ी बेड़े बनाए और मरम्मत किए जाते हैं। इसी दुर्ग पर आँग्रे ने अधिकार कर लिया। कुछ वर्ष बाद इसी दुर्ग ने विदेशियों के छक्के छुड़ाए थे।

आँग्रे ने गेदिया लेने तक ही बस नहीं की। पुर्तगीज़ और दूसरे व्यापारियों को भगा कर उसने सागर-तट के साथ साथ एक चौबीस मील लम्बे और लगभग साठ मील चौड़े भूभाग पर अधिकार कर लिया। यहाँ अनेक बस्तियाँ और बन्दर बन

गए, और आँग्रे सचमुच एक बड़े भूभाग का शासक हो गया। एक जहाज़ बढ़िया जाति के अरबी घोड़े लिए आ रहा था। संयोग से वह आँग्रे के हाथ पड़ गया। इस से उसके मन में एक नया विचार उत्पन्न हुआ। उसकी सेना पहले ही बड़ी भयानक थी। अब घुड़-सवार मिल जाने से उस में और भी वृद्धि हो गई। उस नाना भाँति की सेना में अनेक राष्ट्रों के लोग मिले हुए थे। हिन्दू, मूर, डचमैन, पोर्चूगीज़ और फ्रेंचमैन, वरन् अँगरेज़ों ने भी सागर-दस्यु की रक्त-रंजित ध्वजा के सामने राजभक्ति की शपथ ली थी। वे सब साहसी, निश्चिन्त, विकट योद्धा, विवेक-शून्य और दुरात्मा थे, जिन को उन के देश-वासियों ने उन के उच्छृङ्खल आचरण के कारण समाज से बहिष्कृत कर रक्खा था।

बड़े बड़े महाराजों के यहाँ जैसा ठाठ-बाट और शिष्टाचार होता है, वह सब कान्हूजी ने उस सागर-परिवेष्टित दुर्ग में स्थापित कर दिया। अड़ोस-पड़ोस के रजवाड़ों और प्रान्तों के राजदूत पाद-वन्दन के लिए उस के पास आने लगे। उस के सिंहासन के गिर्द समुज्ज्वल वस्त्रधारी लोगों की भीड़ लगी रहती थी। क़ीमती पोशाकों वाले जरनैल, सागर-सेनापति और दूसरे उच्चपदाधिकारी सदा उस की सेवा में उपस्थित रहते थे। ये कोई छैल-बाँके दरबारी नहीं थे—वरन भीषण डाकू थे, जिन की जड़ाऊ तलवारें और चमकती हुई कटारें उनकी कभी तृप्त न होने वाली धनलोलुपता के

असहाय और भयभीत शिकारों के रक्त में रँगी हुई थीं।

आँग्रे के उत्कर्ष की ऐसी ही कथा है। इस डाकू राजा को हम यहीं छोड़ते हैं। यदि हम उस के अपने मामा, राजा, के विरुद्ध युद्ध करने, पड़ोसी प्रान्तों पर निडर होकर धावा बोलने और समुद्री लूट में उसके हाथ पड़ने वाली बहुमूल्य सम्पत्ति आदि का सविस्तर वर्णन करने बैठें तो इसके लिए एक बड़े ग्रन्थ की आवश्यकता होगी। हम ने उसके साहस के कार्यों का वर्णन कर दिया है; हम उसे दूर दूर तक व्यापारियों के लिए हौआ और त्रास बना हुआ देख चुके हैं; अब हम बताएँगे कि उस को उसकी गर्वित स्थिति से कैसे गिराया गया और उसके दुर्ग के कलशों को तोड़ कर कैसे धराशायी किया गया।

३५

उन्नत देश के देहाती कैसे रहते हैं

लेखक—श्रीयुत महावीर प्रसाद श्रीवास्तव बी० ए०

[आपका जन्म इलाहाबाद ज़िले की तहसील हंडिया के बिभौली ग्राम में १८ आक्टोबर सन् १८८७ को हुआ था। आप हिन्दी के पुराने और प्रसिद्ध लेखक हैं। हिन्दी की बड़ी बड़ी पत्रिकाओं में आपकी अनेक लेखमालाएँ निकल चुकी हैं। आप अधिकतर ज्योतिष पर लिखते हैं। वही आपका प्रिय विषय है। आपकी प्रसिद्ध रचनाएँ दो हैं। एक का नाम है विज्ञान-प्रवेशिका, दूसरा भाग और दूसरी का सूर्य सिद्धान्त का विज्ञान-भाष्य। पिछली पुस्तक के ५ खण्ड ११०० पृष्ठों में छप चुके हैं। छठा खण्ड तथा भूमिका अभी बाकी है। आप इस समय गवर्नमेंट हाई स्कूल, बलिया, में प्रधान अध्यापक हैं।]

उन्नत देश के देहाती कैसे रहते हैं

यूरोप में डेनमार्क एक छोटा सा देश है। इसका क्षेत्रफल १४, ८२६ वर्ग मील और जन-संख्या तीस लाख के लगभग है। भारतवर्ष में लखनऊ कमिश्नरी का जितना क्षेत्रफल है उसका सवाया डेनमार्क का है। जनसंख्या में लखनऊ कमिश्नरी इससे बढ़ी हुई है, क्योंकि १९११ की मनुष्य-गणना के अनुसार इसकी जनसंख्या साठ लाख है। डेनमार्क के मनुष्य अधिकतर खेती करते हैं, परन्तु यहाँ के खेतिहर निरे गँवार नहीं होते, वरन् इस प्रकार अपना जीवन बिताते हैं कि भारतवर्ष के बहुत से नगरों के रहने वाले भी वैसा नहीं करते। ये खेतिहर गाँवों में रहते हुए और खेती करते हुए भी पढ़ने-लिखने से इतना सम्बन्ध रखते हैं कि अपने देश में तथा अन्य देशों में क्या हो रहा है, इसकी वे पूरी जानकारी रखते हैं। अपने देश की पार्लामेंट में कौन सदस्य प्रजा के हित का कितना ध्यान रखता है, यह उनसे छिपा नहीं रहता। इसी डेनमार्क के गाँव-निवासियों के रहन-सहन के सम्बन्ध में* कार्नहिल मेगज़ीन में एडिथसेलर नाम के सज्जन लिखते हैं कि "जिन जिन देशों को मैं जानता हूँ उनमें डेनमार्क ही अकेला ऐसा देश है जिसने यह दिखा दिया है कि देहात के रहनेवालों को किस प्रकार जीवन व्यतीत करना चाहिए। यहाँ के देहाती बड़े

*एक मासिक पत्रिका का नाम।

ही चतुर होते हैं। इनकी यह जानने की उतनी ही इच्छा होती है कि देश में और संसार में क्या हो रहा है, जितनी कि पढ़े-लिखे नगर-निवासियों की होती है। यहाँ की भाषा में जब पहले पहल विज्ञान की प्रारम्भिक पुस्तकें सस्ती सस्ती छपीं तब नगर-निवासियों से अधिक देहातियों ने ही इनको खरीदा। पार्लमेंट में स्थान चाहने वाले सदस्यों से देहात में ही भाँति भाँति के रहस्य के प्रश्न पूछे जाते हैं और यहीं के रहनेवाले इनके कामों को बड़ी सावधानी से देखते रहते हैं और किसी अनुचित काम पर आलोचना करते हैं।

डेनमार्क के गाँवों में ऐसा कोई घर नहीं है, जहाँ समाचार-पत्र और पुस्तकें न मिलती हों और ऐसा कोई किसान नहीं है जो इँग्लेंण्ड और उपनिवेशों के सम्बन्ध में ब्रिटिश मज़दूरों से अधिक जानकारी न रखता हो। बोअर-युद्ध के समय मैं डेनमार्क में था। उस समय मुझ से मालूम नहीं कितनी बार यह पूछा गया, कि इस युद्ध का क्या कारण है। एक बूढ़ी स्त्री के मुँह से यह सुनकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ कि यदि *आलिवर क्रामवेल जीवित होते तो यह युद्ध न छिड़ने पाता। विज्ञान और राजनीति में ही

---

* 'आलिवर क्रामवेल'—इँग्लिस्तान के एक प्रसिद्ध जनरल जिन्होंने वहाँ के राजा प्रथम चार्लस को गद्दी से हटाया था।

यहाँ के किसान प्रेम नहीं दिखाते, वरन् इतिहास, साहित्य और जनश्रुति में भी नगर-निवासियों से अधिक रुचि दिखाते हैं। इन देहातियों की इस जिज्ञासा-वृत्ति के लिए आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है, क्योंकि इनको भी पढ़ने-लिखने और अध्ययन करने का उतना ही अवसर मिलता है, जितना किसी नगर-निवासी को मिल सकता है, वरन् नगर-निवासियों से देहातियों को पढ़ने-लिखने का अधिक समय मिलता है।"

डेनमार्क के देहातियों की यह अनुपम दशा क्यों है, यह जानने के लिए उस संस्था के विषय में कुछ जानना ज़रूरी है, जिससे यहाँ के देहाती अपनी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक उन्नति करने में समर्थ हुए हैं।

डेनमार्क के प्रायः प्रत्येक गाँव में एक मिलन-मन्दिर होता है, जिसको उस गाँव के निवासी अपने ख़र्च से बनवाते हैं और जिस के प्रबन्ध के लिए अपने में से ही कुछ सदस्यों की समिति नियुक्त करते हैं। यह मन्दिर सारे गाँव का सामाजिक केन्द्र होता है, जहाँ पुरुष और स्त्री सभी दिल बहलाने, पढ़ने और गपशप करने को इकट्ठे होते हैं। गाँव की समृद्धि के अनुसार मिलन-मन्दिर का आकार भी होता है। कहीं कहीं तो यह देखने लायक एक रमणीक भवन होता है और कहीं पुरानी झोपड़ी से ही काम लिया जाता है। चाहे मिलन-मन्दिर छोटा हो, चाहे बड़ा, प्रत्येक

में एक सभा-भवन होता है, जिसमें प्रकाश का पूरा प्रबन्ध रक्खा जाता है और जो इतना बड़ा होता है कि गाँव के सभी अवस्था के पुरुष-स्त्री इसमें सुखपूर्वक बैठ सकते हैं। सभा-भवन के एक किनारे एक ऊँचा चबूतरा होता है और दूसरे किनारे वाचनालय और पुस्तकालय। कहीं कहीं वाचनालय और पुस्तकालय के लिए अलग कमरे रहते हैं। डेनमार्क के देहाती इस बात का बड़ा ध्यान रखते हैं, कि सब के पढ़ने-लायक समाचार-पत्र ही नहीं वरन् साप्ताहिक और समालोचन-पत्र और पत्रिकाएँ तथा पुस्तकें भी मिल सकें। यह बात भी नहीं है कि ये लोग पुस्तकालय की पुस्तकों पर ही भरोसा रक्खें। वे अपने पास से भी पुस्तकें मँगा मँगा कर पढ़ते हैं और यदि निर्धन हुए तो कई मिलकर किसी पुस्तक या समाचार-पत्र को मँगाते हैं और बारी बारी से पढ़ते हैं।

जिस गाँव का प्रबन्ध उत्तम हुआ वहाँ के मिलन-मन्दिर में पढ़ने-लिखने और गपशप के सिवा कोई न कोई ऐसा काम भी होता है जिसमें सारे गाँव के निवासी सम्मिलित होते हैं। जाड़े के महीनों में, सप्ताह में कम से कम एक दिन, सन्ध्या के समय, गाँव भर के युवक शारीरिक उन्नति के लिए इकट्ठे होते हैं, जहाँ एक अवैतनिक पहलवान सबको तरह तरह की कसरत सिखलाता है। सप्ताह में एक दिन बालक, युवा, वृद्ध, नर, नारी व्याख्यान सुनने के लिए आते हैं। महीने में दो बार वाग्वर्द्धिनी सभा होती है,

जिस में गाँव के सब लोग आते हैं और वाद-विवाद करते हैं। नियम सिखलाने के लिए विश्वविद्यालय के विद्यार्थी भी आते हैं। महीने में दो बार गाने-बजाने की मण्डली भी अपना गुण दिखला जाती है। कभी कभी निजी नाटक मण्डलियाँ भी लोगों के चित्त को प्रसन्न कर जाती हैं।

व्याख्यान-दाताओं को कभी पुरस्कार दे दिया जाता है, परन्तु अधिकतर व्याख्यानदाता लोकसेवा और परोपकार के विचार से ही काम करते हैं, क्योंकि ये या तो किसी कालेज के प्रोफ़ेसर हुए, या विद्यार्थी, या राजनीतिज्ञ जो गाँव का सुधारना भी ऐसा ही कर्तव्य समझते हैं जैसे पढ़ना-पढ़ाना।

छोटे से गाँव में भी एक राजनीतिक संस्था होती है, जो गवर्नमेंट के कामों को ध्यान से देखती रहती है, और उचित काम के लिए चेतावनी देती रहती है। एक ऐसी संस्था भी होती है, जिसमें लोग तरह तरह के अस्त्र-शस्त्र चलाना सीखते हैं, जिससे काम पड़ने पर देश-रक्षा कर सकें। प्रायः प्रत्येक गाँव में एक कृषि-सुधारिणी संस्था भी होती है, जिसके सदस्य यह विचार करते हैं कि भूमि की उपज किस प्रकार बढ़ाई जाय। इसी के साथ साथ सहयोग समिति भी होती है, जिसके द्वारा गाँव के सब आदमी आवश्यक सामग्री खरीदते और अपने खेत की उपज बेचते हैं। ये सब समितियाँ सरकारी कृषि-विभाग से सम्बन्ध रखती हैं, जिसका

काम यह होता है कि नवीन अनुभव की बातें किसानों को बतलाता रहे और अपने कर्मचारियों को देहातों में इसलिए भेजता रहे कि जो बात लोगों की समझ में न आवे उसे वे अच्छी तरह समझा दें।

इन मिलन-मन्दिरों, कृषि-सुधारिणी समितियों तथा व्याख्यानों से ही डेनमार्क के गाँवों में जैसी आदर्श उन्नति होनी चाहिए, होती है; परन्तु वहाँ के निवासी इतने से ही सन्तुष्ट नहीं रहते। किसान लोग हाई स्कूल और कृषि-विद्यालय से भी काम लेते हैं। डेनमार्क की कुल जन-संख्या तीस लाख है, जिसके लिए ७५ हाई स्कूल हैं। उनमें किसान ही नहीं, वरन् किसानों की सहायता करनेवाले मजदूर भी जाड़े के दिनों में जब कुछ कामकाज नहीं रहता इतिहास, साहित्य, अर्थशास्त्र, राजनीति, स्वास्थ्य-विज्ञान और अन्य उपयोगी बातें सीखते हैं। प्रतिवर्ष दस सहस्र शिक्षार्थी जिनमें एक तिहाई मजदूर होते हैं, फुरसत के महीनों में हाई स्कूलों में जाते हैं। ये जब पढ़कर अपने अपने गाँवों को लौटते हैं, तब जो कुछ नयी नयी बातें सीखते हैं उनको व्याख्यानों और वाग्वर्द्धिनी सभाओं-द्वारा गाँववालों को सिखाते हैं। इन वाद-विवादों से डेनमार्क के किसानों को बड़ा लाभ होता है। इनसे उनकी बुद्धि तीव्र ही नहीं होती, वरन् उनको ऐसी बातों से भी प्रेम हो जाता है जिनका उनसे विशेष सम्बन्ध नहीं है। यह याद

रखना चाहिए कि इन वाद-विवादों में सम्मिलित होकर लाभ उठाने में एक टका भी ख़र्च नहीं करना पड़ता।

परन्तु, क्या डेनमार्क की यह दशा सदा से ऐसी ही चली आ रही है, और डेनमार्क के निवासियों को इसके लिए कुछ प्रयत्न नहीं करना पड़ा? इतिहास उत्तर देता है, नहीं। उनकी वर्तमान समृद्धि का कारण उनकी पिछली आपत्तियाँ हैं। जब उनका समुद्री बेड़ा छिन गया, और उनके शक्तिहीन होने के कारण उनके देश का एक बड़ा प्रान्त श्लेशविग-होलस्टीन भी सन् १८६४ ईसवी में शत्रुओं के हाथ चला गया, तब इस देश को इतना धक्का पहुँचा, कि नगर और गाँव सब जगह के रहनेवाले किंकर्तव्य विमूढ़ हो गये और उन्हें यही जान पड़ने लगा कि अब उनका अन्त आगया, और अब वे सदा के लिए धूल में मिल गये। ऐसा होने में कुछ भी कसर न रहती, यदि सच्चे देश-भक्तों की एक मण्डली, जी-जान से, धर्म-पथ पर चलने वालों की नाईं, श्रद्धा और विश्वास के साथ उन्नति करने के लिए कटिबद्ध न हो जाती। धर्मगुरु 'ग्रंटविग' ने इँग्लेंण्ड से हार खाने पर जो काम जारी किया था, उसी को इस मण्डली ने फिर जारी किया। यह मण्डली देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक जाती और लोगों को बड़े ज़ोरदार शब्दों में सिखलाती कि 'जागो, उठो और अपने अपने काम में फिर लग जाओ; हाथ पर हाथ

धरे बैठे रहना और भाग्य को कोसना पुरुषों का काम नहीं है।' इसका परिणाम यह हुआ कि देश में एकदम जागृति हो गई। एक दूसरे से ऐसा प्रेम हो गया जैसा पहले स्वप्न में भी नहीं समझा गया था। लोगों में यह भाव उत्पन्न हो गया कि बिना सब के मिले ऐसी आपत्ति के समय निर्वाह होना कठिन है। इसलिए जहाँ तक हो सके प्रत्येक को अपने देश-भाई की सहायता करनी चाहिए और सबसे पहिले किसानों को ही सहायता पहुँचाने की ज़रूरत है, क्योंकि यही सबके जीवनाधार हैं।

उस समय देहात की दशा बड़ी शोचनीय थी। बहुत सी भूमि अच्छी तरह बोई न जाने के कारण ऊसर हो गई थी। किसान जितना बोझ उठा सकते थे उससे कहीं अधिक उनके सिर पर था; साथ ही साथ चरित्रबल में भी ये लोग गिरे हुए थे। इसलिए ऊपर वाली मण्डली का पहला काम यह था कि इन को इसकी शिक्षा दी जाय कि अच्छी खेती किस प्रकार हो सकती है। इस मण्डली ने उन कड़ी शर्तों को भी सुगम कराने की चेष्टा की जिन पर किसानों को खेत दिए जाते थे। बड़े बड़े कृषिविद्या-विशारद गाँव गाँव घूम कर व्याख्यान देते, प्रयोग दिखलाते, खेती करने की वैज्ञानिक रीतियाँ बतलाते, ख़रीदने-बेचने के लिए सहयोग-समितियाँ स्थापित करने में किसानों को सहायता देते और समझाते कि एक दूसरे से मिल कर कैसे काम करना चाहिए। कुछ

समय में वहाँ की सरकार भी इस काम में हाथ बँटाने लगी। कृषिविद्यालय और भ्रमणकारी स्कूल खोले गए, जो घूम घूम कर किसानों को ही नहीं, वरन् मजदूरों को भी, उनके काम उनके पास जा कर सिखाते थे।

इस मण्डली ने ऐहिक उन्नति करने का ही बीड़ा नहीं उठाया था। इसने समझ लिया था कि अन्न-वस्त्र से ही मनुष्य-जीवन पूर्ण नहीं होता, बरन् इसके साथ साथ चरित्र-बल के उन्नत करने की भी आवश्यकता है। इस लिए उसने विचारा कि इन किसानों का जीवन तभी सफल होगा जब वे उदासी रूपी गढ़े से निकल कर संसार के दुःख-सुख का सामना प्रसन्नता-पूर्वक करें, उत्तम नागरिक बनें और केवल अपनी ही उन्नति न करें, बरन देश को भी लाभ पहुँचावें; क्योंकि सब की भलाई के साथ अपनी भलाई होती है। वैसे तो इस मण्डली में भिन्न भिन्न प्रकृति के मनुष्य थे, परन्तु उपर्युक्त बात पर सब का मत एक हो गया। कुछ तो किसानों को यह सिखलाने में लगे कि खेती किस प्रकार की जाय जिस से उनको सब प्रकार का सुख मिले। कुछ इस यत्न में थे कि कभी कभी मन बहलाने और चित्त को प्रसन्न रखने की सामग्री होनी चाहिए, और कुछ यह चाहते थे कि इन किसानों के हृदय में ऐसी आशा उत्पन्न कर दी जाय कि वे अपना जीवन भले काम में लगावें। बड़े बड़े धर्मोपदेशक छोटे छोटे गाँव के गिरजाघरों में

बड़े ही मनोहर धर्मोपदेश देते; धुरन्धर राजनीति-विशारद गाँव के मैदानों में दिल को फड़का देने वाले व्याख्यान सुनाते; पुराने खलिहानों में नामी नामी गायक और बजैया सङ्गीत, नाटक और देश-भक्ति की कविताओं द्वारा लोगों के चित्त को लुभाते और अपने पूर्वजों के वीर कर्मों की प्रशंसा द्वारा दिखलाते कि मनुष्य क्या कर सकता है और हम लोगों को आगे क्या करना चाहिए। सप्ताह में कम से कम एक दिन, प्रत्येक गाँव में इस तरह का जमाव हुआ करता था। इसमें लोगों के मन बहलाने का ही ध्यान नहीं रक्खा जाता था, कुछ ऐसी चर्चा भी होती थी जिससे किसान स्वयं कुछ सोचें और विचारें; एक पंथ दो काज हों, उनका मन भी बहले और शिक्षा भी मिले। परिणाम यह हुआ कि थोड़े ही दिनों में किसान भाइयों को पढ़ने-लिखने की चाट पड़ गई, जिससे पुस्तकों की माँग खूब ही बढ़ी और व्याख्याताओं से तरह तरह के प्रश्न करने का हियाव पड़ने लगा; देश तथा संसार की बात जानने के लिए मिलन-मन्दिर की आवश्यकता जान पड़ने लगी, जिसे अपने खर्च से बनवा कर अथवा किराये पर लेकर वाचनालय तथा पुस्तकालय का प्रबन्ध किया जाने लगा। किसानों में जागृति होने से मण्डली का उद्देश्य पूरा हो गया। अब केवल इस बात की कमी थी कि कुछ समय तक यह काम ही होता रहे। अन्त में, डेनमार्क के देहाती गुणग्राहकता

और चतुराई में नगर-निवासियों से भी बढ़ गये।

भारतवर्ष के गाँवों की बात सोचिए कि कितने शहर ऐसे हैं जहाँ पठन-पाठन का तथा विद्या, बुद्धि और बल में उन्नति करने का लोगों को वैसा ही सुभीता है, जैसा डेनमार्क के छोटे छोटे गाँवों में है। यदि ऐसा सुभीता नहीं है, तो यहाँ के धर्मशिक्षकों, राजनीति-विशारदों, प्रोफ़ेसरों, अध्यापकों और विद्यार्थियों का क्या कर्तव्य है?

—महावीर प्रसाद श्रीवास्तव

३६

कृष्ण-चरित

लेखक—प्रोफ़ेसर शिवाधार पाण्डेय

[आप का जन्म ६ फ़रवरी सन् १८८८ को बुलन्द शहर में हुआ था। इनका निवास स्थान पुराना फ़ीलख़ाना बाज़ार कानपुर है। आपने एल० एल० बी० पास करने के बाद कोई तीन वर्ष तक वकालत की। आजकल आप इलाहाबाद-यूनिवर्सिटी में अँगरेज़ी के रीडर हैं। अँगरेज़ी पर तो आपका अधिकार है ही, पर आप हिन्दी के भी अच्छे मर्मज्ञ हैं। आप कविता भी करते हैं।]

घनघोर घटा से घिरी हुई भादों की काली रात है, चारों ओर भयावना जङ्गल है, सिंह दहाड़ रहे हैं, हाथी चिग्घाड़ रहे हैं, ऊपर

मेघों के झुण्ड के झुण्ड बारम्बार गरज रहे हैं, अन्धाधुन्ध अन्धकार के बीच बीच में बिजली की चकाचौंध और भी अँधेरा कर देती है, जल मूसलाधार गिर रहा है, यमुना जी की नीली नीली लहर रेती से टकरा कर कलोलें करती हुई बराबर बढ़ती चली आती हैं। ऐसे भीषण समय में, एक पुरुष एक नन्हे से बच्चे को ऊपर उठाए हुए नदी को पैदल पार कर रहा है। बच्चा अभी एक दिन का भी नहीं है, परन्तु उसके जीवन पर सारे संसार का मङ्गल स्थित है, और उसके जन्म की बाट संसार के हितू देवता और महात्मागण बहुत दिनों से जोह रहे थे।

कई हज़ार वर्षों की बात है। पृथ्वी पर कराल कलिकाल आ रहा है। मनुष्य क्षीण और दुर्बल हो गये हैं। उनकी आत्मा में बल नहीं है। उनके मस्तिष्क में शक्ति नहीं है। पहले के बड़े बड़े नेता और महापुरुष—महाराज मनु, मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचन्द्र, पृथ्वीनाथ पृथु, देवर्षि नारद, ब्रह्मर्षि याज्ञवल्क्य, राजर्षि जनक और भक्तशिरोमणि प्रह्लाद—आदि एक भी अब ढूँढ़ने से नहीं मिलते। धर्म की जड़ें ढीली पड़ गई हैं। परमात्मा में विश्वास उठा जा रहा है। परोपकार की प्रेरणा इनेगिने ही चित्तों में उठती है। लोग अपने अपने ही भले में मग्न हैं। स्वार्थ और सुख ही को उन्हों ने अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया है। विलास और आनन्द तक ही सुख की सीमा मानी जा रही है। मनुष्य-मात्र की प्रकृति शिथिल

पड़ गयी है।

जब किसी देश की अधिक आर्थिक उन्नति होती है, तब उसकी ऐसी ही दशा होती है। भारत में इस समय, प्रत्यक्षरूप से किसी बात का अभाव नहीं है। देश धन से, बल से, विद्या से परिपूर्ण है। परन्तु यदि सच्ची दृष्टि से देखा जाय, तो उसकी इससे अधम अवस्था और नहीं हो सकती। भीतर ही भीतर अश्रद्धा, अविश्वास, अहङ्कार और औद्धत्य रूपी चूहे शरीर को कुतर रहे हैं। केवल देखने भर ही को वह खोखला शरीर बाहर से सुन्दर स्वरूप में खड़ा हुआ है। न उसमें आत्म-बल है, न आत्म-विश्वास है। आत्मा के स्थान में कोरा मन ही मन है।

देश में बड़े बड़े राजा हैं, बड़े बड़े राज्य हैं। कुरु, पाञ्चाल, मगध, मत्स्य, मद्र, चेदि, विदर्भ, भोज, केकय, अङ्ग, बङ्ग, कलिङ्ग, पुण्ड्र, उत्कल, पाण्ड्य, चोल, अन्ध्र, द्रविड़, सिन्धु, बाह्लीक, त्रिगर्त्त, काश्मीर, शाल्व, शाकल, गान्धार—आदि एक से एक शक्तिशाली राज्य स्थित हैं। काशी, अयोध्या, मथुरा, माहिष्मती, प्रस्थल, प्रयाग, प्राग्ज्योतिष, कुण्डिनपुर, शोणितपुर, हस्तिनापुर, अहिच्छत्र, गिरिव्रज, चम्पा, काम्पिल्या—आदि एक से एक समृद्धिशाली नगर उपस्थित हैं। भीष्म, द्रोण, द्रुपद, विराट्, कंस, जरासन्ध, हंस, डिम्भक, शल्य, शाल्व, भीष्मक, पाण्ड्य—आदि अनेकानेक वीर और यशस्वी योद्धा वर्तमान हैं। किरात, काम्बोज,

शक, हूण, चीन, बर्बर आदि अनेक म्लेच्छ देश उनके बाहुबल को स्वीकार कर चुके हैं, तथा अधीनता मानते और सहायता अर्पण करते आते हैं। सेनाओं की अक्षौहिणी की अक्षौहिणी चलती हैं। अद्भुत अद्भुत अस्त्रों का प्रहार होता है। सब प्रकार के सांसारिक पदार्थ भरे हुए हैं। देश सभ्यता के शिखर पर स्थित है।

परन्तु, वास्तव में क्या नहीं है? ऐक्य का नाम नहीं। एक राजा दूसरे से लड़ा मरता है। इधर कुरु और पाञ्चाल में द्वेष है, तो उधर मत्स्यों और त्रिगर्त्तों में; केकय आदि कई देशों में परस्पर का विरोध है। प्रजा की दशा दिन पर दिन शोचनीय होती चली जाती है। कंस, जरासन्ध सरीखे राजा खुल्लम खुल्ला अत्याचार करते हैं, दूसरे चुरा-छिपाकर; धींगाधींगी और मन-मानी चल रही है। कोई शासक-शक्ति या समूह नहीं है, जो प्रजा की रक्षा और देश का भला करे।

प्रजा में स्वयं कुछ शारीरिक अथवा आध्यात्मिक शक्ति नहीं है। उसकी आध्यात्मिक अवस्था तो अथाह सागर में गोते खा रही है। प्राचीन कर्मकाण्ड निरा आडम्बर से पूर्ण हो गया है। पुराने दर्शन और शास्त्र का साधारण जन-समाज पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ रहा है। मनुष्य-मात्र अपने लक्ष्य को, अपने आदर्श को, भूला जा रहा है; जो स्मरण भी करते हैं, उन्होंने भी नैराश्य-रू

धारण कर लिया है। देश की सत्ता का नाश होने से भविष्य भयावने रूप का हो गया है।

ऐसी दशा में, ठीक अर्द्ध रात्रि के समय, उस जाज्वल्यमान ज्योति का आविर्भाव हुआ, जो सर्वकाल से स्थिर है और सर्वकाल तक स्थिर रहेगी। उसी ज्योति की जगमगाहट के एक कण-मात्र प्रकाश का आज, यहाँ पर, थोड़ा बहुत दर्शन करना है।

हमारे पास इतना समय नहीं है कि हम उन क्षुद्र लोगों की बातों पर यहाँ ध्यान दें, जो इस दिव्य जीवन को जानने और समझने के स्थान में, उसकी व्यर्थ की बुराइयों का पाप, अपनी मूर्खता दिखाते हुए, अपने माथे पर मढ़ते हैं। कृष्ण का जीवन जितना ही उच्च है, उतना ही कुछ लोग उसे नीच करने का प्रयत्न करते हैं। एक की राय में कृष्ण गुजरात का एक चतुर राजा था जिसको अन्त में एक बहेलिए ने मार डाला; परन्तु महाराज गायकवाड़ में और श्रीकृष्ण में अनन्त अन्तर है। दूसरों की राय में कृष्ण एक धार्मिक नेता थे, जिन्होंने हत्या को उचित बतलाया और भारत में आलस्य का आधिक्य किया। कहना नहीं होगा कि भगवान् कृष्ण की दिव्य शिक्षा से ये लोग मुँह मोड़कर आँख-कान मूँदे हुए हैं। तीसरे लोगों की घृणित राय में कृष्ण एक मनमौजी गोप-युवक थे जिन पर उन्हों ने संसार भर के दोषा-

रोपण किए हैं।

इन मूर्खता के मूर्तिमय उदाहरणों का स्मरण करना भी महा-पाप है। जितना ही छोटा हृदय और छोटा मस्तिष्क होगा, उतने ही छोटे उसके भाव होंगे। 'जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी।' कुएँ के मेंढक को कुएँ से बाहर का ध्यान ही नहीं हो सकता।

स्वयं भगवान् कृष्ण ही को अपने जीवन-काल में बड़ी भारी निन्दा सुननी पड़ी थी। निन्दा की कसौटी पर वह भली भाँति कस लिये गये थे, तब उनको संसार ने स्वीकार किया था। युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ में शिशुपाल ने, जो जो कहा जा सकता था, कहने में कुछ रख नहीं छोड़ा था। वह उनका समकालीन था, सम्बन्धी था, शत्रु था; उनकी रत्ती रत्ती बातों को जानता था। अर्घ्य के अवसर पर जहाँ उसने कहा कि कृष्ण कोई राजा नहीं हैं, उनकी जाति के विषय में सन्देह है, उनको गो, स्त्री और राजा तक की हत्या लगी हुई है, वहाँ उसने कृष्ण के चरित्र पर, जीवन की शुद्धता पर, सदाचरण पर, कोई धब्बा नहीं लगाया। यदि उसको कोई भी अवसर मिलता तो जहाँ वह भीष्म को कृष्ण के अर्घ्य का प्रस्ताव करने ही के लिए नपुंसक पुकार चुका था, क्या कृष्ण को इस विषय में 'तिल का ताड़' किए बिना कभी छोड़ देता? महाभारत के अन्त में अश्वत्थामा के अस्त्र से मृतप्राय परीक्षित की

जब गर्भ में भगवान् ने रक्षा की थी, तब किस प्रभाव से ?

उन्हों ने कहा—"यदि मैंने हँसी में भी कभी झूठ नहीं कहा है, यदि मैंने युद्ध में कभी पीछे पैर नहीं दिया है, यदि मैंने कंस और केशी को धर्मपूर्वक मारा है, यदि मैंने अपने मित्र अर्जुन का कभी स्वप्न में भी विरोध नहीं किया है, यदि धर्म और ब्राह्मणगण मुझको सर्वदा प्यारे रहे हों, तो यह बालक जीवन को प्राप्त हो।

यथा सत्यञ्च धर्मश्च मयि नित्य प्रतिष्ठितौ ।
तथा मृतः शिशुरयं जीवतामभिमन्युजः ॥

'यदि मुझ में सत्य की बराबर प्रतिष्ठा है, धर्म की बराबर तिष्ठा है, तो यह मृत बालक, अभिमन्यु का पुत्र, जीवन को प्राप्त हो।'

तप और तेज की शक्ति से क्या नहीं हो सकता ? तामसिक दिवस में चाहे जितना अन्धकार प्रतीत हो, परन्तु उस अनुपम आत्मज्योति ही से प्रकृति में प्रकाश होता है। श्रीकृष्ण के इस कर्म के समान हमारे महर्षियों के अनेक उदाहरण वर्तमान हैं। इससे उसमें कुछ आश्चर्य नहीं। परन्तु, वैसे देखिए, तो भगवान् कृष्ण का सम्पूर्ण जीवन ही आश्चर्यमय है। भागवत् धर्म के प्रवाह से भारतवर्ष में जो भक्ति की अपूर्व धारा बही है, उसमें जिस भक्त को देखिए वही उनके उस चरित्र को स्मरण कर आश्चर्य से गद्गद

और आनन्द से विह्वल हो जाता है। इतना ही नहीं, उसमें भी एक अलौकिक भाव का आवेश हो जाता है।

हम लोगों को कृष्ण का वह पुण्यमय चरित्र दो ग्रन्थों से प्राप्त होता है—भागवत और महाभारत। भागवत भक्ति का आगार है, महाभारत ज्ञान का भाण्डार। भागवत परमहंस का कहा हुआ पुराण है, महाभारत वेदव्यास का बनाया हुआ इतिहास। कृष्ण का चरित्र महाभारत से पूरी पूरी तौर से प्राप्त होता है। उसके पढ़ने से सारी सामयिक अवस्था का चित्र सामने आ जाता है; और कृष्ण का प्रभाव, आदर्श जीवन और अनमोल उपदेश, नई-नई भाँति से, स्थान स्थान पर, प्रकट होता चला जाता है। भागवत में उस दिव्य चरित्र को शुकदेव जी ने भक्ति के सागर में मग्न होकर देखा और वर्णन किया है। वह बहुत ही सीधा-सादा, भोला, विश्वासमय वर्णन है; आदि से अन्त तक पवित्रता के भाव से, रस से, भरा हुआ है। परन्तु, अनेक कलिकाल के कवियों ने उस पर मनमाने छन्द और कवित्त गढ़ गढ़ कर उसको नीच कर डालने की कोशिश की है। अनेक स्वार्थी पुरुषों ने भक्तगण को बहलाने और धोका देने के लिए उस पवित्र भक्ति-क्षेत्र को अनुचित रीति से दूषित किया है। यदि किसी को सुवर्ण दिया जाय, और वह उस से परोपकार के स्थान में दुष्टता ही की वृद्धि करावे, तो यह उसका दोष है या सुवर्ण का? यदि शैतान को भी इञ्जील पढ़ाई जाय,

और वह उससे भी अपना ही मतलब निकाले, तो यह शैतान का दोष है या इञ्जील का ? कहा है, 'पयः पानं भुजङ्गानां केवलं विषवर्धनम्' अर्थात् भुजङ्ग को दूध पिलाने से उसके विष ही की बढ़ती होती है। ऐसे ऐसे ही भयावने भुजङ्ग-भक्तों ने भारतवर्ष में अपना विष फैलाया है। यदि ऐसा न होता, तो धर्म के नाम से इतने अधर्मी पाप क्यों फैलाते फिरते ?

कृष्ण का चरित्र! संसार में उससे बढ़ कर दूसरा चरित्र मिलना कठिन है। परन्तु कलङ्क किसको नहीं छूता ? कलङ्क कृष्ण को भी लगा था। सत्राजित की सूर्यमणि के बारे में उनके सारे कुटुम्बियों ने उन पर सन्देह किया था, यहाँ तक कि उनके दूसरे शरीर, दूसरे हृदय, बड़े भाई बलराम भी उन से रूठ कर द्वारका छोड़ बैठे थे। परन्तु असत्य असत्य ही है, सत्य सत्य ही है। तब, कलङ्क का नाम सुनते ही किसी को एकाएक घबड़ा न उठना चाहिए परन्तु उसकी पूरी जाँच करनी चाहिए, जैसी कृष्ण ने प्रसेन की मृत्यु की की थी।

सांसारिक भाव देखो। कृष्ण क्या नहीं थे ? पहले दर्जे के राजनीतिज्ञ—'न कूटनीतिरभवत् श्रीकृष्णसदृश्य पुरा'—शुक्राचार्य जी कह गए हैं कि 'श्रीकृष्ण के समान नीति में चतुर कोई नहीं हुआ।' महावीरों के महावीर भीष्म पितामह ने राजसूय यज्ञ में एकत्र हुए राजाओं से कहा था कि मैं तुम में से एक को भी नहीं देखता

हूँ जिस को श्रीकृष्ण के तेज ने विजय न किया हो'—

अस्यां हि समितौ राज्ञामेकमप्यजितं भुवि ।
न पश्यामि महीपालं सात्वतीपुत्रतेजसा ॥

अस्त्रों में श्रेष्ठ उनके चक्र सुदर्शन को जब द्वारका में जाकर अश्वत्थामा ने उन से माँगा था, और उनके आज्ञा देने पर भी वह पृथ्वी से उसको नहीं उठा सका था, तो उसने उनको यही उत्तर दिया था—'हे कृष्ण! तुम सच कहते हो। इस तुम्हारे अस्त्र को तुमसे तुम्हारे मित्र अर्जुन, भाई बलराम, पुत्र प्रद्युम्न आदि किसी ने भी कभी नहीं माँगा था, यह मैं जानता हूँ। परन्तु मेरी इच्छा थी कि मैं इसको लेकर तुम्हारे ही साथ युद्ध करूँ जिससे मैं फिर अजय हो जाऊँ। तुम्हारे सिवा मुझको और किसी से भय नहीं है।' महाभारत-संग्राम में कौरवों के एक मात्र आधार महावीर कर्ण ने अर्जुन के मारने के अपने प्रण को अलग रखकर, कृष्ण ही के वध के लिए, इन्द्र की दी हुई शक्ति का प्रयोग करना विचारा था, और देवव्रत भीष्म ने उनकी शस्त्र-ग्रहण की प्रतिज्ञा का भङ्ग कर देना ही अपने पौरुष का लक्ष्य स्थिर किया था।

जहाँ वह नीति में, वीरता में, बुद्धि में और बल में संसार में अग्रणी थे, वहाँ उनकी विद्या और उनका सदाचार भी निराला ही था। राजसूय-यज्ञ के अवसर पर जब भारत भर के राजा लोग इन्द्रप्रस्थ में एकत्र हुए थे, भगवान् कृष्ण पैर धोने के लिए नियुक्त

किए जाने में नहीं शरमाये—नहीं, नहीं, अपने आपको ही उन्होंने नियुक्त किया। अर्घ्य के अवसर पर कुरुवृद्ध भीष्म पितामह ने उनका वर्णन यों किया—

'ब्राह्मणों में ज्ञान से बड़ाई होती है, क्षत्रियों में बल से। गोविन्द की पूजा के दोनों कारण उपस्थित हैं।'

वेदवेदाङ्गविज्ञानं बलञ्चाप्यधिकं तथा।
नृणां लोके हि कोऽन्योऽस्ति विशिष्टः केशवादृते॥

'वेदवेदाङ्ग और विज्ञान में अधिक होने से और बल में भी अधिक होने से, मनुष्यों के लोक में, केशव को छोड़कर, दूसरा ऐसा कौन है जो विशिष्ट कहा जाय?'

'दान, दाक्षिण्य, श्रुति, वीर्य, लज्जा, कीर्ति, बुद्धि, सन्तति, श्री, धृति, तुष्टि, पुष्टि, सब अच्युत ही में स्थित है।'

कृष्णं कमलपत्राक्षं नार्चयिष्यन्ति ये नराः।
जीवन्मृतास्तु ते ज्ञेया न सम्भाष्यः कदाचन्॥

'कमल-दल के से नेत्रोंवाले कृष्ण की जो पुरुष पूजा न करेंगे, उन्हें जीवन्मृत जानना चाहिए और उनसे बात न करनी चाहिए।'

केवल यही नहीं, वे सङ्गीत-विद्या में निपुण थे—मुरली-मनोहर उनका नाम है। वे रास में कुशल थे—उनका नटवर वेष मशहूर है। वे कविता में अद्वितीय थे, उनके दिव्य गीत भगवद्गीता की तरङ्गें अनन्त समय तक उठेंगी। पौरुष का कोई अङ्ग नहीं

दिखलाई पड़ता, जिसको उन्होंने पूर्ण न किया हो। जङ्गली जानवरों को मार कर, नागों को नाथ कर, पहाड़ों को हटा कर, उन्होंने अपना बचपन वृन्दावन की आनन्दमयी भूमि में खेल-कूद कर बिताया। सब स्त्री-पुरुष उन पर मुग्ध हो गये। यदि इस काल में, उनके भोले भाले प्रेममय चरित्र पर, ज़रा भी लाञ्छन लग सकता, तो क्या गोकुल, बरसाना, नन्दगाँव आदि के गोपगण चुपके बैठे बैठे सब सहा करते? कदापि नहीं। यही लोग कृष्ण के पक्के अनुयायी थे। कृष्ण के गोपालगण नेपोलियन की रक्षक सेना (ओल्डगार्ड) की भाँति अजेय थे। दुर्योधन उनको पाकर फूल उठा था, और उनकी सहायता से अनेक दिवसों तक कृष्ण के मित्र, कृष्ण के रथी, उस समय के अनन्य वीर अर्जुन के दाँत खट्टे किये थे।

बाल्यकाल से निकल कर श्रीकृष्ण ने अपने कौशल और पराक्रम से अत्याचारी कंस का नाश किया, भोजवंश के पुराने राजा उग्रसेन को सिंहासन पर फिर से बिठलाया, मगधराज जरासन्ध को बारम्बार हराया, और अन्त में, समुद्र-तट पर जाकर एक नई पुरी 'द्वारिका', जो भारतवर्ष का द्वार थी, बनायी। द्वारिका से श्रीकृष्ण का प्रभाव भारतवर्ष भर में फैल गया।

भारतवर्ष को श्रीकृष्ण ने जैसा पाया, पहले वर्णन कर चुके हैं। चारों ओर उद्दण्ड राजा लोगों का ज़ोर था। उनकी उद्धत सेनाएँ

क्षत्रियत्व की सच्ची शिक्षा को, सच्चे धर्म को, कभी की तिलाञ्जलि दे चुकी थीं। देश रसातल को जा रहा था। श्रीकृष्ण ने पहले अनार्यों पर आक्रमण किया। उत्तर में नरक और दक्षिण में वाण— यही दोनों उन लोगों में उस समय विशेष बलशाली थे। कृष्ण ने उत्तर जाकर नरक का उसके देश प्राग्ज्योतिष (भूटान) में वध किया। फिर दक्षिण में उन्होंने वाण को हराकर उसकी कन्या उषा का विवाह अपने पोते अनिरुद्ध के साथ होने दिया। उनके पुत्र प्रद्युम्न का विवाह मायावती से हुआ था, जो अनार्य असुर शम्बर ही के अधिकृत देश में प्रकट हुई थी। शम्बर का नाश प्रद्युम्न ने स्वयं किया था और यह शम्बर छल के लिए अकेला ही था। शाम्बरी माया अब तक प्रसिद्ध है।

परन्तु, क्रूर अनार्य लोगों का बल इस समय बहुत क्षीण अवस्था में था; असली डर तो देश को अनार्य प्रकृति वाले आर्य राजाओं ही से था। नरक ने हज़ारों कन्याएँ अपने क़िले में क़ैद कर रक्खी थीं। (कृष्ण के सोलह हज़ार कन्याओं के साथ विवाह करने की कथा महाभारत में नहीं मिलती) परन्तु जरासन्ध ने, जो मगध का चन्द्रवंशी राजा था, छियासी राजाओं को (भागवत में यह 'अयुते द्वे शतान्यष्टौ' कहे गये हैं) जीतकर पहाड़ की गुफा में क़ैद कर रक्खा था, कि अगर वह सौ राजाओं को जमा कर ले, तो उन सबका बलिदान शिवजी को कर देगा। साथ ही साथ जरासन्ध

ब्राह्मणों का भी बड़ा भक्त था, और स्नातकों की सर्वदा सहायता करता था, तथा ब्राह्मणों से आधी रात तक भी मिलता था, और उनसे किसी बात की नाहीं नहीं करता था, यह उसके चरित्र से प्रकट है। जरासन्ध के डर से दूसरे सब राजा लोग काँपते थे, परन्तु अकेले उसमें भारत भर को एक कर लेने की बुद्धि नहीं थी। यह थी शिशुपाल में।

जिस प्रकार शरीर के भीतर का सारा अशुद्ध रुधिर जमा होकर एक फोड़ा निकल आता है, उसी प्रकार सारे दुष्ट लोगों का शिरोमणि मूर्तिमान् शिशुपाल था। हिरण्यकशिपु कोरा दैत्य था। रावण वेद का टीकाकार, ब्राह्मण का बेटा था, जो संसर्गदोष से राक्षस होकर मनुष्य-समाज से पतित होगया था। परन्तु शिशुपाल चलता फिरता पक्का मनुष्य था; न राक्षस, न दैत्य। मनुष्य ही नहीं कृष्ण का सम्बन्धी, वसुदेव की बहन का लड़का, चेदियों का शासक, माहिष्मती का महाराज था। उसने जो षड्यन्त्र रचा था, उससे भारतवर्ष अत्याचार के अथाह सागर में अनन्तकाल के लिए डूब जाता। उसके प्रयत्न से पौण्ड्रक, भगदत्त, दन्तवक्र, रुक्म आदि अनेक राजा जरासन्ध के पक्ष के हो गये, और उसको भारत का अधीश्वर मानने में संकोच न करने लगे। यहाँ तक कि स्वयं रुक्मिणी के पिता, श्रीकृष्ण के श्वसुर, विदर्भ ऐसे बड़े राज्य के अधिष्ठाता, महाराज भीष्मक भी जरासन्ध ही के दल के हो गये।

ऐसी अवस्था में श्रीकृष्ण को यदि भारतवर्ष का उद्धार करना था, तो बहुत शीघ्र उन्होंने धर्मराज युधिष्ठिर को राजसूय यज्ञ करने का उपदेश कर भीम के द्वारा जरासन्ध का कौशल से नाश करवाया, और शिशुपाल के सौ अपराध क्षमा करने पर भी अपनी प्रकृति प्रेरणा से वह स्वयं उनकी तेजोऽग्नि में पतङ्ग की भाँति कूद पड़ा।

इसके पीछे जब श्रीकृष्ण ने देखा कि कौरव लोग भी किसी प्रकार सुधरने वाले नहीं हैं। अव्वल दर्जे के अधर्मी और दुराचारी हैं। जिनके प्रचण्ड पाप-पूर्ण प्रताप के आगे भीष्म और द्रोण ऐसे बड़े बड़े विश्वविजयी सरदारों को, विदुर और सञ्जय ऐसे बड़े बड़े राजनीति-विशारद, राजवल्लभ महामन्त्रियों को, चुपचाप सिर झुकाए भरी सभा में शकुनि के कपट-द्यूत और द्रौपदी के चीर-हरण सदृश दारुण दृश्यों को विवश हो कर देखना पड़ा था, तो उन्होंने महाभारत को भी रोकना पसन्द नहीं किया, और उस अथाह संग्राम-रूपी सागर में भारत भर का क्षत्रियत्व गोता खा गया। श्रीकृष्ण ने देश के कल्याण के लिए सारा पक्षपात छोड़ कर जिस प्रकार पाण्डवों से कौरवों का वध कराया था, उसी प्रकार अपने उद्दण्ड कुटुम्ब का नाश कराया। धर्मराज युधिष्ठिर के राज्यमार्ग में देश-हित की कोई बाधा न खड़ी होने दी। यदि पृथ्वी पर कलि-काल को आना था, तो श्रीकृष्ण ने पुरानी सारी बुराइयों को दूर कर, दूषित रुधिर को रुधिर की धारा द्वारा बहा कर, मनुष्यों को फिर

एक नया अवसर दिया कि वे सुधरे रहें और कलि के फन्दे में न फँसे। इस अवसर से पूरा लाभ न उठाने का दोष, शिथिलता और मानसिक दौर्बल्य से अधोगति ही को प्राप्त होने का दोष, श्रीकृष्ण पर नहीं है, मनुष्य-मात्र पर ही है।

कहा जाता है कि महाभारत करवा कर श्रीकृष्ण ने भारतवर्ष के पौरुष का नाश करा दिया और उसकी स्वाधीनता का लोप करा दिया। यह बिलकुल ठीक नहीं है। जब परशुराम ने इक्कीस बार ढूँढ़ ढूँढ़ कर क्षत्रियों को मारा था, तब भी क्षत्रियों का लोप नहीं हुआ था। बहुत से कुलों के बहुत से बालक बच गए थे, जिनके नाम पूर्ण-रूप से महाभारत में मिलेंगे, जिनसे उनके वंश फिर चले और कुरुक्षेत्र में अट्ठारह अक्षौहिणी क्षत्रिय आकर जमा हो गए। महाभारत के अश्वमेध-पर्व को पढ़ने से मालूम हो जायगा कि महा-भारत के पीछे भी अनेक क्षत्रिय घराने विद्यमान थे। महाराज युधिष्ठिर ने अर्जुन को साफ़ आज्ञा दे दी थी, कि जो कोई महाभारत में मारा गया हो, उसके किसी सम्बन्धी को तुम अब मत मारना। महाभारत के बाद क्षत्रियों का लोप नहीं हुआ, पर कमज़ोरी कुछ समय तक अवश्य हुई। कुछ भी हो, क्या पठानों से लड़ने के लिए पृथ्वीराज और जयचन्द के पास क्षत्रियों की कमी थी? कमी थी, तो न राजाओं की, न राजपूतों की; पर दूसरी ही बात की, जिस की शिक्षा उनको श्रीकृष्ण भारत के इतिहास में काफ़ी तौर पर दे

गए थे, यदि उन में उस से लाभ उठाने की बुद्धि होती।

सच तो यह है कि जिस प्रकार परशुराम से नाश होने के बाद मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचन्द्र का चरित्र देख कर भारतवर्ष ने फिर से बल धारण कर लिया था, उसी प्रकार महाभारत के बाद भगवान् श्रीकृष्ण के आदर्श से उसने फिर वृद्धि नहीं की। यह कलिकाल के प्रभाव और मनुष्यों की दुर्बलता का परिणाम है, श्रीकृष्ण पर इसका दोष लगाना वृथा है। उन्होंने एक सिरे से एक बार फिर देश को नया कर दिया। धर्मराज्य स्थापित कर, धर्म का उपदेश कर स्वयं धर्म का मार्ग बतला दिया। यदि भारतवर्ष ने श्रीकृष्ण के उस सरलातिसरल धर्म-मार्ग तथा कर्म-मार्ग से लाभ नहीं उठाया, तो देश का दोष है, श्रीकृष्ण का नहीं।

श्रीकृष्ण ने धर्म का क्या मार्ग बतलाया—इस प्रश्न का उत्तर देना श्रीकृष्ण के जीवन के सच्चे तात्पर्य को जान लेना है। उपनिषदों में जिन को 'कृष्ण देवकीपुत्र' कहा है, यह वही थे जिन्होंने एक बेर कलिकाल में गोता खाते हुए, आलस्य और विलासिता में डूबते हुए, मनुष्यों की आत्मा को फिर से नया कर देना चाहा। उनका उपदेश ऐसा था कि वह मुर्दे से भी मुर्दे मनुष्य को एक बार जीता जागता बना कर ही छोड़े। यह उपदेश 'भगवद्गीता' अर्थात् भगवान् का गीत है।

गीता संसार-साहित्य में अपूर्व पुस्तक है। उसके कई भाव महा-

भारत में श्रीकृष्ण के मुख से जगह जगह निकले हैं। परन्तु जिस स्थान पर गीता स्वयं कही गई है वह अद्वितीय है। गीता उस से अमर है।

धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में एकत्र, लड़ने के लिए तैयार, शस्त्र उठाये हुए, कौरवों और पाण्डवों की अट्ठारह अक्षौहिणियों के बीच में एक अकेला रथ खड़ा हुआ है। सारा युद्ध ठहर गया है। वह रथ अर्जुन का है, और भगवान् कृष्ण अपना यह दिव्य गीत—नर को नारायण का सन्देश—कह रहे हैं, जिसको पान करने के लिए सब लोग चित्र लिखे से हो रहे हैं, और आगे भी होते रहेंगे।

अर्जुन की अवस्था प्रत्येक मनुष्य की अवस्था है। मनुष्य के जीवन-क्षेत्र में अनेक स्थानों पर कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं, मार्ग साफ़ नहीं मालूम देता। एक धर्म कहता है, यह मत करो; दूसरा कहता है, यह अवश्य करो। तब मनुष्य चकरा कर निराश हो जाता है कि वह किस प्रकार तय करे कि उसका कर्तव्य क्या है। गीता इसी का प्रत्यक्ष उत्तर है।

गीता का ज्ञान अनन्त है। उस पर भारतवर्ष के बड़े बड़े विद्वानों ने टीकाएँ लिखी हैं। उसके बिना श्रीकृष्ण के जीवन के उद्देश्य ही को निष्फल समझना चाहिए। इसलिए यहाँ पर उसका, कम से कम, सारांश ही कह देना आवश्यक है।

भगवान् ने कहा है कि मनुष्य को व्यर्थ का सोच न करना

चाहिए, आत्मा कभी नहीं मरती अथवा नाश होती— फिर सोच काहे का ? दुःख और क्लेश उसको ज़रा भी नहीं व्याप्त होते। मनुष्य की आत्मा का नाश नहीं होता, उसका जीवन अनन्त है। प्रत्यक्ष में, मनुष्य संसार में मर जाता है, परन्तु असल में बराबर जीता रहता है। मनुष्य को चाहिए कि वह इसी असल अवस्था में हमेशा रहे। इस संसार के जीवन को ही अपना असली जीवन न मान बैठे। प्रश्न यह है कि उस सच्चे असली जीवन को मनुष्य किस प्रकार प्राप्त कर सकता है (क्योंकि वही मोक्ष, कल्याण और निर्वाण है)। देखना चाहिए कि वह सच्चा जीवन इस संसार का झूठा जीवन कैसे हो जाता है।

श्रीकृष्ण कहते हैं—माया के कारण। माया कैसे पैदा होती है ? कर्मों से। मनुष्य कर्म करता है, उसका फल होता है, उन फलों को वह भोगता है, दुःख-सुख जो कुछ हो, उसे भोगना होता है। वह अपना समय इस झूठे स्वर्ग-नरक संसार में बिताता फिरता है। इसी से इस माया का, इस झूठे संसार का, और इस झूठे जीवन का अन्त नहीं होता। यदि माया छूट जाय, तो इससे भी छुटकारा मिल जाय और मोक्ष हो जाय।

माया कैसे छूट सकती है ? श्रीकृष्ण ने कहा है कि कर्मों से। कर्मों ही से वह पैदा होती है, और कर्मों ही से वह नाश भी होती है। पर कैसे कर्मों से ?—निष्काम कर्मों से। यही श्रीकृष्ण

का उपदेश है। कर्म करो, बराबर कर्म करो, परन्तु कैसे कर्म ?— निष्काम अर्थात् इच्छा-रहित, स्वार्थ-रहित और वासना-रहित कर्म। इन कर्मों का कुछ फल नहीं होता, क्योंकि वह फल की कामना से नहीं किए गए हैं। उनका फल तुम्हारे लिए नहीं होगा, दूसरों के लिए होगा। संग्राम में सिपाही युद्ध करते हैं, शत्रुओं को मारते हैं। क्यों ? सेनापति की आज्ञा से, अपनी इच्छा से नहीं। उनका कर्म निष्काम है। उसका पाप-पुण्य उनको नहीं लग सकता। श्रीकृष्ण कहते हैं कि मनुष्य को 'ईश्वर का सिपाही' होना चाहिए। जो कुछ ईश्वर करावे, आँख बन्द कर निष्काम करना चाहिए। ईश्वर को प्रिय भले काम होते हैं, उनको मनुष्य करे; परन्तु कामना छोड़ कर। परिणाम यह होगा कि उसको उन कर्मों का कुछ फल न होगा। वह कामना से धीरे धीरे रहित हो जायगा। स्वर्ग-नरक के चक्रव्यूह से छूट जायगा। माया उसको छोड़ देगी। यह झूठा जीवन भी छूट जायगा। उसका मोक्ष हो जायगा और वह सच्चे जीवन को प्राप्त होगा, क्योंकि उसका नाश तो हो ही नहीं सकता।

मोक्ष को मनुष्य बहुत कठिन समझते थे कि कहीं करोड़ों जन्म-जन्मान्तरों में जाकर प्राप्त होगा, परन्तु इससे सीधा रास्ता और क्या हो सकता है ? बुद्धि के अनुसार भी यह बिलकुल ठीक है। निष्काम कर्म ही मोक्ष का सीधा सरल रास्ता है, यही भगवान्

की शिक्षा है। कलिकाल में सीधा रास्ता बतलाये जाने की ज़रूरत थी इसीलिए भगवान् का अवतार हुआ था और उन्होंने रास्ता बतला दिया।

माया नाश करने के और भी रास्ते हैं। भक्ति, ज्ञान और कर्म ये तीनों मार्ग श्रीकृष्ण ने दिखलाये हैं, तीनों की प्रशंसा की है, और तीनों का आपस में सम्बन्ध बतलाया है। किस सीढ़ी से मनुष्य कितनी दूर पहुँचता है और किस मार्ग से उसको कम कठिनाई होती है, यह भगवान् के उपदेश से प्रकट होता है। परन्तु सब से सरल मार्ग वा सीढ़ी निष्काम कर्म ही की है, यह श्रीकृष्ण का सबसे बड़ा सन्देश है।

निष्काम कर्म के विषय में श्रीकृष्ण का यह भी उपदेश है—यदि मनुष्य में विद्या है, तो वह संसार से—सब भूतों से—प्रेम करेगा; यदि उसको सब जीवों से प्रेम होगा, तो उसको प्रकृति से प्रेम होगा; यदि प्रकृति से प्रेम होगा तो प्रकृति की आत्मा से भी होगा; यदि प्रकृति की आत्मा से प्रेम होगा तो वह परमात्मा पर भरोसा रक्खेगा। यदि परमात्मा पर भरोसा रक्खेगा, तो उसके कर्म भी निष्काम होंगे। निष्काम कर्मों से माया का नाश होगा, भवसागर से मोक्ष होगा, सच्चा जीवन प्राप्त होगा।

गीता में ऐसे ऐसे भाव हैं, जो सारे संसार को एक करते हैं। मनुष्य मात्र भगवान् के सामने बराबर है—यही शिक्षा इन श्लोकों

की शङ्खध्वनि द्वारा दी गयी है। भगवान् ने कहा है:—

"कोई बड़ा दुराचारी भी मेरी अनन्य रूप से सेवा करे, तो उसको साधु मानना चाहिए।"

"जो जो जिस जिस का भक्त होकर श्रद्धा-पूर्वक उसकी पूजा करता है, मैं उसी में उसकी भक्ति दृढ़ करता हूँ।"

"देवताओं की भक्ति करनेवाले देवलोक को जाते हैं, पितरों की भक्ति करनेवाले पितृलोक को, भूतों के भक्त भूतों के लोक को और मेरी पूजा करनेवाले मेरे लोक को।"

"पत्र, पुष्प, फल, जल जो कुछ मुझको भक्ति-पूर्वक दिया जाय, वही मैं प्रसन्नता-पूर्वक ग्रहण करता हूँ"—जैसे, सुदामा के चावल या विदुर का साग।

"जो मेरी जिस प्रकार सेवा करते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ। सारे मनुष्य मेरे ही मार्ग में लगे हुए हैं।"

"जो अपने ही समान सबको एकसा देखता है, सुख-दुःख सबको बराबर समझता है, वही योगी है।"

"मुझसे परे और कुछ नहीं है। जो करते हो, खाते हो, देते हो, यज्ञ करते हो, तप करते हो, सब मुझको अर्पण करो।"

संसार के इतिहास में वेद को छोड़ गीता ही परम पुरानी ऐसी पुस्तक है जिसमें साफ़ साफ़, सब से प्रथम, परमेश्वर-द्वारा अपना पथ प्रकट किया जाना वर्णित है। गीता से बढ़कर हित-

कर उपदेश हमको कहाँ मिलता है ?

यदि संसार ने भगवद्गीता से पहले पूरा लाभ नहीं उठाया, तो अब उठाने को तैयार हो रहा है। धीरे धीरे पूर्व-पश्चिम, योरप-अमेरिका, चारों ओर इस अमूल्य रत्न का प्रकाश फैल रहा है, और मनुष्य-मात्र अपने सच्चे जीवन को जान रहा है।

हम हिन्दू लोग मानते हैं और स्वयं श्रीकृष्ण ने कहा है—

'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥'

"जब जब धर्म का क्षय और अधर्म का अभ्युदय होता है, तब तब हे अर्जुन! मैं अपने को सृजता हूँ।" यह भगवान का वचन है। जहाँ मर्यादा पुरुषोत्तम के दो अक्षर के 'राम' नाम ही को हम परमेश्वर का नाम मानते हैं, वहाँ कृष्ण को हम कोई विशेष नाम लेकर भी नहीं पुकारते। केवल 'भगवान्' ही कहते हैं। उनके लिए वही नाम यथार्थ है। भगवान् ही से सब कुछ है।

यतः सत्यं यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जवं यतः।
ततो भवति गोविन्दो यतः कृष्णस्ततो जयः ॥

"जहाँ सत्य है, धर्म है, लज्जा है, सीधापन है, वहाँ ही भगवान् पाये जाते हैं। जहाँ भगवान् हैं वहाँ ही जय होती है।"

भगवान् कृष्ण ने जय का—संसार-जय का—सीधा, सरल रास्ता बतलाया है। फिर क्यों न कहें ?—

'यतः कृष्णस्ततो जयः।' अर्थात् जहाँ कृष्ण है, वहाँ जय है।

जिसके हृदय में कमल-दल-लोचन, दुरित-दुःख मोचन, वृन्दा-वन-विहारी, भक्त-भय-हारी, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र रहेंगे, उसकी अनन्त विजय होगी, इस में सन्देह का नाम-मात्र नहीं। हमारा प्रत्येक हिन्दू से, प्रत्येक प्राणी से यही कहना है:—

"गीता को मत भूलो। श्रीकृष्ण को मत भूलो।

निष्काम-मार्ग से ही कल्याण है। भगवान् ही से निर्वाण है।'

३७

भरत

मूल-लेखक—श्रीदिनेश चन्द्र सेन

अनुवादक—श्रीभगवानदास हालना और श्रीबदरीनाथ शर्मा

भरत के विषय में महाराज दशरथ ने कैकेयी से कहा था—

"रामादपि हि तं मन्ये धर्मतो बलवत्तरम् ।" "धर्म की दृष्टि से हम भरत को राम से भी श्रेष्ठ समझते हैं ।"

भरत के चरित्र को वे विलक्षण रूप से जानते थे, तथापि रामचन्द्र के वन जाने पर उन्होंने भरत को त्याज्य पुत्र और अपनी अन्त्येष्टि-क्रिया करने के अयोग्य समझा । इस प्रकार निर्दोष—बिलकुल निर्दोष कहना भी ठीक नहीं—और रामायण काव्य के आदर्श चरित्र भरत के भाग्य में यह क्या विडम्बना हुई,

इसकी आलोचना करते हुए हमें दुःख होता है। पिता ने अन्याय करके उन्हें त्याग दिया। और कहाँ तक कहें, अयोध्या के जो सब दूत केकय राज्य में उन्हें लेने गये थे, उन्होंने भी भरत के अयोध्या सम्बन्धी कुशल-समाचार पूछने पर कुछ क्रूर व्यंग्य ही से कहा था कि—

"कुशलास्ते महाबाहोर्येषां कुशलमिच्छसि।"

आप जिनकी कुशल पूछते हैं, वे सकुशल हैं।" अर्थात् मानों भरत वास्तव में दशरथ, राम, लक्ष्मण आदि की कुशल नहीं चाहते थे, किन्तु हृदय से वे कैकेयी और मन्थरा ही की कुशल मनाते थे। या तो सब दूत आपस में मिलकर झूठ बोलते थे या निठुर बन व्यंग्य छोड़ते थे। इस जगह इस पद का और कुछ अर्थ हो ही नहीं सकता। रामचन्द्र के वनवास होने पर अयोध्या के राज-महल में जो भयानक वितण्डावाद हुआ, उसमें भी दो एक जगह इस निर्दोष राजकुमार पर अन्यायपूर्वक कटाक्ष किया गया है। प्रजा रामचन्द्र के वनवास के समय—

"भरते सन्निबद्धाःस्मि सौनिके पशवो यथा।"

"हम लोग कसाई के निकट पशुओं की तरह भरत के सामने खड़े हैं"—यह कह कर आर्तनाद करती थी। इस साधु व्यक्ति को अपने अत्यन्त निकटस्थ सम्बन्धियों से भी अन्यायपूर्वक लाञ्छित होना पड़ा था। रामचन्द्र भरत को इतना अधिक प्यार

करते थे कि उन्होंने बारम्बार "मम प्राणैः प्रियतरः"—"हमारे प्राणों से भी प्यारे"—कह कर भरत का उल्लेख किया है। कौशल्या से रामचन्द्र ने कहा था—"धर्मप्राण भरत की बात देख कर तुम्हें अयोध्या छोड़ने में हमें कुछ भी चिन्ता नहीं होती।" पर इन रामचन्द्र ने भी भरत पर सन्देह के दो एक बाण न छोड़े हों, ऐसा नहीं है। उन्होंने सीता से कहा था—"तुम भरत के सामने हमारी प्रशंसा मत करना, क्योंकि ऋद्धियुक्त पुरुष दूसरे की प्रशंसा नहीं सुनना चाहता।" यह सन्देह क्षमा नहीं किया जा सकता। पिता दशरथ ने भी रामचन्द्र के राज्याभिषेक के समय भरत को सन्देह की दृष्टि से देखा था। उन्होंने राम को बुला कर कहा था—"हम चाहते हैं कि मामा के यहाँ भरत के रहते रहते ही तुम्हारा अभिषेक हो जाय, क्योंकि यद्यपि भरत धार्मिक और तुम्हारे पीछे पीछे चलने वाला है, तथापि मनुष्य का मन विचलित होते कितनी देर लगती है।' इक्ष्वाकु-वंश की परम्परागत प्रथा के अनुसार राजसिंहासन बड़े भाई ही को मिलता है, तो फिर ऐसी दशा में धार्मिकाग्रगण्य भरत पर ऐसा सन्देह करना मार्जनीय नहीं हो सकता। रामचन्द्र भरत के चरित्र की महिमा इतनी जानते थे तो भी वनवास के अन्त में भारद्वाज के आश्रम में उन्होंने हनुमान को यह कह कर भरत के पास भेजा कि 'हमारे आने की ख़बर सुन कर भरत के मुख पर कुछ विकार होता है या नहीं,

यह अच्छी तरह देखना।' यह सन्देह भी सर्वथा अमार्जनीय है। संसार में निरपराधी को भी कई बार दण्ड हुआ है, पर भरत के समान आदर्श धार्मिक को इस तरह के दण्ड देने का दृष्टान्त कहीं विरले ही मिलेगा। लक्ष्मण तो बारम्बार—

'भरतस्य वधे दोषं नाहं पश्यामि राघव।'

'भरत के वध करने में मैं कोई पाप नहीं समझता।' कह कर उछल कूद करते थे। किन्तु उसी भरत ने अश्रुरुद्ध कण्ठ हो लक्ष्मण के विषय में कहा था—

'सिद्धार्थः खलु सौमित्रिर्यश्चन्द्रविमलोपमम्।
मुखं पश्यति रामस्य राजीवाक्षं महाद्युतिम्॥'

'लक्ष्मण, तू धन्य है जो राजीवलोचन रामचन्द्र के चन्द्रमा के समान उज्ज्वल मुख को देखता है।' भरत से सब लोगों के रुष्ट होने का कुछ न कुछ कारण अवश्य होगा। इतना बड़ा षड्यन्त्र रचा गया, क्या भरत ने परोक्ष में इसका किसी तरह अनुमोदन नहीं किया? अपने मामा युधाजित से परामर्श कर भरत दूर ही से डोर हिला कर कैकेयी को कठपुतली की तरह नहीं नचाते थे, इसका क्या प्रमाण है? इसी सन्देह की आशङ्का करके भरत ने बेहोशी की दशा में कैकेयी से कहा था—'जिस समय अयोध्या की सारी प्रजा रुद्धकण्ठ और सजल नेत्र हो हमारी ओर देखेगी, हम उस को सह नहीं सकेंगे।' कौशल्या भरत को बुला कर कटु वाक्य

कहने लगी। उन कटुवचनों से भरत को घाव में सुई छेदने के समान पीड़ा हुई। दैव के चक्र में पड़ कर देवताओं के समान चरित्र-सम्पन्न भरत सारे संसार के सन्देह-भाजन हो लाञ्छित हुए। जब वे रामचन्द्र को मनाने के लिए बहुत सी सेना लेकर जा रहे थे, तब निषादों का राजा गुह मन में यह विचार कर कि वे रामचन्द्र का अनिष्ट करने के लिए जाते हैं, हाथ में लट्ठ लेकर रास्ते में खड़ा हो गया। यही क्यों भरद्वाज ऋषि तक ने भय की दृष्टि से देखते हुए उन से यह पूछा—'आप उस निष्पाप राजपुत्र के पास कोई पाप-विचार कर तो नहीं जाते हैं'? इस प्रकार हर एक का समाधान करते करते भरत के प्राण कण्ठ-गत होगये। भरत कैकेयी को 'मातृरूपे महामित्रे' कहकर सम्बोधन करते थे। वास्तव में कैकेयी माता के रूप में उनकी बड़ी भारी शत्रु ही थी। सारे संसार का भरत पर जो सन्देह की दृष्टि का विष-बाण गिरता था, उसका मूल कारण कैकेयी ही थी।

किन्तु घटनावली कितना ही जटिल भाव क्यों न धारण करे, पर भरत के अपूर्व भ्रातृ-स्नेह ने सारी जटिलता को सहज कर दिया था। रामचन्द्र को हमने अनेक अवस्थाओं में सुखी होते देखा है। जिस समय चित्रकूट की पुष्प-वाटिका की शोभा और टूटे फूटे पत्थरों के टुकड़ों से छाई हुई अधित्यका भूमि में अधिष्ठित पर्वत के शिखर और रंग-बिरंगे फूलों को देख कर रामचन्द्र ने सीता

से कहा—"इस स्थान पर तुम्हारे संग विचर कर हम अयोध्या के राज्यपद को तुच्छ समझते हैं"। उस समय दम्पति का निर्मल आनन्दमय चित्र हमें बड़ा ही सुन्दर और सुखप्रद बोध होता है। रामचन्द्र रूपी आकाश कभी बादलों से घिर जाता और कभी स्वच्छ हो जाता था। किन्तु भरत का सदा ही खिन्न चित्र मर्मान्तिक करुणा के योग्य था। जिस समय भरत रामचन्द्र को लौटाने के लिए आए, उस समय रामचन्द्र उनकी जटिल, कृश और विवर्ण मूर्ति को देख कर चकित हो गए और उन्हें बड़ी कठिनाई से पहचाना।

भरत का चित्र प्रदर्शन करने के अभिप्राय से जिस समय कवि-गुरु ने पहले ही पहल पर्दा उठाया, उसी समय उनकी मूर्ति विषण्णतापूर्ण थी। वे इस बुरे स्वप्न को देख कर प्रातःकाल उठे कि नर्तकियाँ उनके प्रमोद के लिए उनके सामने नृत्य कर रही हैं, सखा लोग व्यग्रचित्त हो कर कुशल पूछ रहे हैं और भरत का चित्त भारी और मुख श्री-हीन है। अयोध्या की विषम विपत्ति के पूर्वाभास ने मानो उनके मन पर अधिकार कर लिया था और वे किसी प्रकार स्वस्थ नहीं होते थे। इसी समय उनको लेने के लिए अयोध्या से दूत आए। व्यग्र कंठ से भरत ने दूतों से अयोध्या के सब लोगों की अलग अलग कुशल पूछी। दूतों ने दो अर्थवाला उत्तर दिया—

"कुशलास्ते महाबाहोर्येषां कुशलमिच्छसि ।"

'हे महाबाहो, आप जिनकी कुशल पूछते हैं, वे सकुशल हैं।' किन्तु पिछली रात को बुरा स्वप्न और दूतों की व्यग्रता ये दोनों उन्हें एक समस्या के समान समझ पड़े। इन दो घटनाओं को दुश्चिन्ता के सूत्र में बाँध कर वे अत्यन्त दुःखी हुए।

बहुत से स्थान, नदी-नाले और झाड़ियाँ पार करके भरत दूर ही से अयोध्या की चिरश्यामल वृक्षावली को देख सकते थे और डरी हुई ज़बान से उन्हों ने सारथी से पूछा—"अयोध्या सी तो नहीं मालूम होती। इस नगरी का वह चिरश्रुत तुमुल शब्द क्यों नहीं सुनाई पड़ता ? वेदपाठी ब्राह्मणों का कण्ठस्वर और काम में लगे हुए स्त्री-पुरुषों का कोलाहल भी बिलकुल नहीं सुनाई देता। जिन प्रमोद-उद्यानों में स्त्री-पुरुष अकेले विचरते थे, वे आज सूने पड़े हैं। सड़कें चन्दन और जल के छिड़काव से पवित्र नहीं होतीं। सड़कों पर रथ, हाथी, घोड़े कुछ भी नहीं हैं। जिसके सब दरवाज़े खुले हैं, ऐसी श्री-हीन राजपुरी मानों व्यंग्य कर रही है। यह तो अयोध्या नहीं है, मानो अयोध्या का वन है।"

वास्तव में अयोध्या श्रीहीन हो गई थी। रामचन्द्र रूपी चन्द्र के बिना अयोध्या के सुन्दर बाज़ारों की शोभा बिलकुल नष्ट हो गई थी। तीनों लोकों में यशस्वी महाराज दशरथ ने पुत्र-शोक में अपने प्राण त्याग दिए थे। अभिषेक के उत्सव से आनन्दित बड़े

राजकुमार मुनियों के वेष में वन को चले गये थे और हाथों के कङ्कण, कड़े और अन्य आभूषण सखियों को वितरण कर अयोध्या की राजवधू तपस्विनियों के वेश में अपने स्वामी के संग हो ली थी। जिनकी दोनों लम्बी और सुडौल भुजाएँ अङ्गद प्रभृति सब आभूषण धारण करने के योग्य थीं, ऐसे "स्वर्णच्छवि" लक्ष्मण भाई और भाभी के पैरों के पीछे पीछे जा रहे थे। अयोध्या में घर घर इन तीनों देवताओं के लिए करुणा के आँसुओं की नदी बह रही थी। हा, अब वे वन में रहते हैं और राजमहल त्याग दिया है! सुमन्त ने ठीक ही कहा था कि सारी अयोध्या पुत्रहीना कौशल्या की दशा को प्राप्त हुई है।

किन्तु भरत यह सब कुछ नहीं जानते थे। उन्होंने चुपचाप प्रतिहारियों का अभिवादन स्वीकार किया और बड़े उत्कण्ठित चित्त से पिता के महल में गये; पर वहाँ पिता को नहीं पाया—

"राजा भवति भूयिष्ठमिहाम्बाया: निवेशने।"

'कैकेयी के महल में महाराज अनेक समय रहते थे,' अतएव भरत पिता को ढूँढ़ते ढूँढ़ते माता के महल में पहुँचे।

सद्योविधवा कैकेयी आनन्द में फूली नहीं समाती थी और वह पतिघातिनी पुत्र के भावी अभिषेक के आनन्द के चित्र को मन ही मन में खींच कर सुखी हो रही थी। भरत को देख कर वह बड़ी ही प्रसन्न हुई। जब भरत ने पिता के सम्बन्ध में पूछा

तो वह बोली—

"या गतिः सर्वभूतानां तां गतिं ते पिता गतः।"

'सब प्राणियों की जो गति होती है, वही गति तुम्हारे पिता की हुई है।' इस समाचार को सुन कर कुठार से काटे गए वन-वृक्ष की तरह भरत पृथ्वी पर गिर पड़े।

'क्व स पाणिः सुखस्पर्शस्तातस्याक्लिष्टकर्मणः।'

'अक्लिष्टकर्मा पिता के हाथ के स्पर्श का वह सुख अब कहाँ मिलेगा?' यह कह कर भरत रोने लगे। राजा के बिना राजशय्या उन्हें चन्द्रमा के बिना आकाश के समान दिखाई पड़ी। उन्होंने कैकेयी से कहा—'राम कहाँ हैं?' इस समय पिता के न होने पर जो हमारे पिता, जो हमारे बन्धु और मैं जिनका दास हूं—ऐसे रामचन्द्र के देखने के लिए हमारा प्राण व्याकुल हो रहा है।" राम, लक्ष्मण और सीता को वनवास हुआ सुन कर भरत क्षण भर के लिये मूर्ति के समान खड़े रह गए और भाई के चरित्र में आशंका करके बोले—"राम ने क्या किसी ब्राह्मण का धन छीन लिया था? क्या उन्होंने दीन-दुखियों को सताया था? अथवा पर-स्त्री में आसक्त होगये थे, जिससे उन्हें निर्वासन का दण्ड मिला?" अन्तिम प्रश्न के उत्तर में कैकेयी ने कहा—

'न रामः परदारान् स चक्षुर्भ्यामपि पश्यति।'

'रामचन्द्र पराई स्त्रियों को आँखों से भी नहीं देखते।' अन्त में भरत की उन्नति और राजश्री की कामना से कैकेयी ने जो सब लीला रची थी, उसे कह कर वह पुत्र को प्रसन्न करने की प्रतीक्षा में उनके मुख की ओर देखने लगी।

घने बादलों ने मानों आकाश को घेर लिया था। धर्मप्राण विश्वस्त भ्राता क्षण भर तक इस दुःख-संवाद का मर्म समझने में समर्थ नहीं हुए। उन्होंने माता को जो धिक्कार दी, उसे हम उसकी महादुर्गति का स्मरण कर सम्पूर्ण रूप से समयोपयोगी समझते हैं। 'तू धार्मिकवर अश्वपति की कन्या नहीं है, उनके वंश में तू राक्षसी पैदा हुई है। तूने हमारे धर्मवत्सल पिता का नाश कर दिया है और भाइयों को गली गली का भिखमँगा बना दिया है। तू नरक में पड़।' जिस समय कातर कण्ठ हो कर भरत ये बातें कह रहे थे, उस समय दूसरे महल से कौशल्या ने सुमित्रा से कहा—'भरत की आवाज़ सुनाई पड़ती है। वह आ गया है। उसे हमारे पास बुला।' कृशाङ्गी सुमित्रा ने भरत को बुलाया। तब कौशल्या ने कहा—'तुम्हारी माता तुमको लेकर निष्कंटक राज्य भोगे, तुम हमको राम के पास पहुँचा दो।' इन कटु वचनों से मर्मबिद्ध हो कर भरत ने कौशल्या के सामने अनेक शपथें खाईं कि वे इस मामले के रहस्य को रत्ती भर भी नहीं जानते। अपनी बात को अनेक प्रकार से समझाने की चेष्टा कर दारुण शोक और

लज्जा के मारे भरत का चेहरा कुम्हला गया और वे अपने को बारम्बार कोसने और दोषी ठहराने लगे। ज़ोर से बोलने और दारुण शोक के कारण वे मूर्च्छित हो कर पृथ्वी पर गिर पड़े। करुणामयी अम्बा कौशल्या धर्मभीरु कुमार के मन के भाव को समझ गई और उन्हें गोद में उठा कर रोने लगी।

भरत का शोक और उदासीनता क्रम से बढ़ चली। श्मशान-भूमि में मृत पिता के गले से लग कर वे रोते रोते बोले—'हे पिता, अपने दोनों प्यारे पुत्रों को वन भेज कर आप कहाँ जाते हैं?' सजल-नेत्र और शोकविमूढ़ राजकुमार को वशिष्ठ ने ताड़ना कर के पिता की अन्त्येष्टि-क्रिया करने में प्रवृत्त किया। शोक-विह्वल हो कर भरत एक बेर मूर्च्छित होकर गिर पड़े।

प्रातःकाल वन्दीजन भरत की स्तुति गाने लगे। उस समय भरत ने पागलों की तरह दौड़ कर उन्हें मना कर दिया—'इक्ष्वाकु-वंश की प्रथा के अनुसार सिंहासन बड़े राजकुमार को मिलता है। तुम किस की वन्दना कर रहे हो?' राजा की मृत्यु के चौदहवें दिन वशिष्ठ आदि मंत्रियों ने भरत से राज्य ग्रहण करने का अनुरोध किया। भरत बोले—'रामचन्द्र राजा बनेंगे। हम अयोध्या की सारी प्रजा को लेकर उन्हें पैरों पड़ कर मना लावेंगे। यदि वे न लौटे, तो हम भी चौदह वर्ष वन में रहेंगे।'

शत्रुघ्न मन्थरा को मारने और कैकेयी को ताड़ना देने लगे,

किन्तु क्षमा के अवतार भरत जी ने उन्हें मना कर दिया।

सब अयोध्यावासी रामचन्द्र को लौटाने के लिए चल पड़े। शृङ्गवेरपुर में गुह के साथ भरत का साक्षात्कार हुआ। गुह ने भरत पर पहले सन्देह किया था; किन्तु भरत के मुख को देख कर उसे उनके हृदय का भाव जानने में देर नहीं लगी। इंगुदी के वृक्ष के नीचे रामचन्द्र ने तृण-शय्या पर कुछ जलपान कर एक रात्रि व्यतीत की थी। वह तृण-शय्या रामचन्द्र के विशाल बाहुओं की रगड़ से दब गई थी और सीता के वस्त्रों से गिरे हुए स्वर्ण-बिन्दु तृण पर दिखाई देते थे। यह दृश्य देखते देखते भरत मौन हो एकटक खड़े रह गये। गुह बातें करता था, पर भरत सुन नहीं सकते थे। भरत को संज्ञाशून्य देख कर शत्रुघ्न उनसे लिपट कर रोने लगे। रानियाँ और मंत्री लोग शोक से विह्वल हो गये। बहुत यत्न से जब भरत होश में आये, तब उन्होंने नेत्रों में जल भर कर कहा—'क्या यह उन्हीं की शय्या है, जिन्हें सदा आकाश-स्पर्शी राजप्रासाद में रहने का अभ्यास है—जिनके गृह पुष्प-माला, चित्र और चन्दन से सदा चर्चित रहते हैं—जिनके महल का शिखर नृत्यशील पक्षियों और मोरों की विहारभूमि है और गाने-बजाने के शब्द से सदा मुखरित रहता है और जिसकी स्वर्ण की दीवारों पर आदर्श चित्रकारी का काम किया हुआ है? उसी गृह के स्वामी इंगुदी के नीचे रहे हैं! ये बातें स्वप्न सी मालूम

पड़ती हैं, ये विश्वास के योग्य नहीं हैं। हम क्या मुँह लेकर राजवस्त्र धारण करेंगे? भोग-विलास की वस्तुओं से हमें प्रयोजन नहीं। हम आज ही से जटा-वल्कल धारण करेंगे, भूमि पर सोएँगे और फल-फूल खा कर अपना जीवन व्यतीत करेंगे।'

इस प्रकार जटा-वल्कलधारी शोकविमूढ़ राजकुमार भरद्वाज मुनि के आश्रम में जा कर रामचन्द्र का पता लगाने लगे। सर्वज्ञ ऋषि ने भी पहले सन्देह प्रकट कर भरत के मन को पीड़ा पहुँचाई थी। एक रात्रि भरद्वाज के आश्रम में आतिथ्य-सत्कार ग्रहण कर मुनि के निर्देशानुसार राजकुमार ने चित्रकूट की ओर प्रस्थान किया। भरद्वाज ने भरत के डेरों में आ कर रानियों को देखना चाहा। भरत ने इस प्रकार माताओं का परिचय दिया—'भगवन्, यह जो शोक और निरादर से क्षीण-देह, सौम्य मूर्ति और देवताओं की तरह दिखलाई पड़ती है, वह हमारे अग्रज रामचन्द्र की माता है। वह जो बायें हाथ का सहारा लगाए उदास खड़ी और वन में सूखे हुए कर्णिकार-पुष्पों के पेड़ की तरह शीर्णाङ्गी है, लक्ष्मण और शत्रुघ्न की जननी सुमित्रा है। और उन के पास ही वह, जिस ने अयोध्या की राजलक्ष्मी को विदा कर दिया है, वह पतिघातिनी और सारे अनर्थ की मूल, वृथा प्रज्ञामाननी और राजकामुका इस अभागे की माता है।' यह कहते कहते भरत के दोनों नेत्रों से जल बहने लगा और क्रुद्ध सर्प की तरह उन्होंने एक

बार अश्रुपूर्ण चक्षुओं से माता की ओर देखा।

चित्रकूट के पास पहुँच कर माताओं और मन्त्रियों को लिए हुए भरत ने रथ त्याग दिया और पैदल चलने लगे।

उस समय रमणीय चित्रकूट पर अर्क और केतकी के पुष्प खिल रहे थे और आम और लोध के पके हुए फल डालियों पर लटक रहे थे। चित्रकूट पर्वत पर कहीं टूटे फूटे पत्थर के टुकड़े पड़े हुए थे, कहीं नीचे की अधित्यका भूमि पुष्पों के लगने से रमणीय बगीचों की तरह सुन्दर मालूम होती थी, और कहीं पर्वत के एक गात्र से एक शैलशिखर ऊँचा उठ कर आकाश का ही चुम्बन कर रहा था। पास ही मन्दाकिनी कभी किनारे पर आ जाती और कभी उसकी छोटी सी धारा वृक्षों की नील आभा ही में विलुप्त हो जाती थी। कहीं मन्दाकिनी की लहरें वायु के वेग से इस प्रकार फर्राटे ले रही थीं, मानों सुन्दरियों के शरीर से वस्त्र ही उड़ रहे हों। और कहीं झरनों के प्रवाह में पर्वती फूल अपनी ही छटा दिखा रहे थे। इस दृश्य को देख कर रामचन्द्र ने सीता से कहा—'राज्यनाश और सुहृद्विरह हमारी समझ में हमें कोई पीड़ा नहीं दे रहा है। हम इस पर्वत की दृश्यावली का निर्मल आनन्द सम्पूर्ण रूप से उपभोग कर सकते हैं।'

इस बात के समाप्त होते न होते आकाश सहसा बड़े भारी शब्द से गूँजने लगा; धूल से दशों दिशाएँ छा गईं और तुमुल शब्द

से पशु-पक्षी चारों ओर भागने लगे। रामचन्द्र ने त्रस्त हो कर लक्ष्मण से जिज्ञासा की—'देखो, क्या कोई राजा या राजपुत्र इस वन में शिकार खेलने आया है? अथवा किसी भीषण जन्तु के आने से इस सौम्य निकेतन की शान्ति इस प्रकार भङ्ग हो रही है?' लक्ष्मण दीर्घपुष्पित शाल वृक्ष पर चढ़ कर इधर उधर देखने लगे, तो उन्हें पूर्व दिशा में फौज दिखाई पड़ी। उसे देख कर वे बोले—'अग्नि बुझा दो, सीता को कहीं गुफा में छिपा दो और अस्त्र-शस्त्र ले कर सुसज्जित हो जाओ।' 'किस की फ़ौज आ रही है? क्या कुछ समझ में आया?' लक्ष्मण ने इस प्रश्न का उत्तर दिया—'पास ही वह वृक्ष जो दिखाई पड़ता है, उस के पत्तों में से भरत की कोविदारयुक्त ❀ रथ की ध्वजा दिखाई पड़ती है। अभिषेक होने से उनका मनोरथ पूर्ण नहीं हुआ। अपने राज्य की शोभा को निष्कंटक करने के लिए भरत हम लोगों का वध करने के लिए आये हैं। आज हम इस सब अनर्थ के मूल भरत का वध करेंगे।'

रामचन्द्र बोले—'भरत हमें लौटाने के लिए आये हैं। सब बातों को अच्छी तरह जान कर हमसे सदा स्नेह करने वाले, हमारे प्राणों से भी प्यारे भरत स्नेहार्द्र हृदय से पिता को प्रसन्न कर हमें लेने के लिए आये हैं। तुम उन पर अन्याय करने का

❀ भरत की फौज के झंडे का निशान 'कोविदार' था।

क्यों सन्देह करते हो ? भरत ने कभी हमारे साथ बुराई नहीं की। तुम उन्हें क्यों ऐसे क्रूर वचन कहते हो ? यदि राज्य के लोभ से तुमने ऐसा किया है, तो भरत से कह कर निश्चय ही हम राज्य तुम्हें दिला देंगे।' धर्मशील भ्राता की इन बातों से लक्ष्मण बड़े ही लज्जित हुए।

थोड़ी देर बाद ही भरत आ उपस्थित हुए। उपवास से कृश और शोक की जीवन्त मूर्त्ति देवोपम भरत रामचन्द्र को तृण के ऊपर बैठे देख कर बालक की तरह फूट फूट कर रोने और कहने लगे—'जिनके मस्तक पर स्वर्णछत्र शोभा पाता था, उस राजश्री से उज्ज्वल ललाट पर आज जटाजूट कैसे बँधे हैं ? हमारे अग्रज का शरीर सदा चन्दन और अगर से मार्जित होता था। आज वह अङ्गराग से रहित है और उसकी कान्ति धूल-धूसरित हो रही है। जो सारे विश्व के प्राणियों के आराधन की वस्तु थे, वे ही आज वन बन में भिखमँगे की तरह टकराते फिरते हैं। हमारे लिए ही यह सब कष्ट आप भोग रहे हैं। हमारे इस लोकगर्हित और नृशंस जीवन को धिक्कार है!' इस प्रकार कहते और उच्च स्वर से रुदन करते हुए भरत रामचन्द्र के पैरों में जाकर गिर पड़े। इन दोनों त्यागी महापुरुषों का मिलाप बड़ा ही करुण है। भरत का मुख सूख गया था; उनके माथे पर जटाजूट बँधे थे और शरीर पर वे चीर धारण किये हुए थे। रामचन्द्र ने विवर्ण और कृश भरत को

कठिनता से पहचाना। उन्होंने बड़े आदरपूर्वक भरत को ज़मीन से उठा लिया और उनके शिर को सूँघ और हृदय से लगा कर बोले—'वत्स, तुम्हारा यह वेश क्यों ? तुम्हें इस वेश से वन में आना उचित नहीं था।'

भरत बड़े भाई के चरणों में लेट गये और बोले—'हमारी जननी घोर नरक में गिर पड़ी है, आप उसकी रक्षा कीजिये। मैं आपका भाई हूँ, शिष्य हूँ और दासानुदास हूँ। आप मुझ पर प्रसन्न हो अयोध्या चल कर सिंहासन पर बैठिये'। बहुत बातें हुईं और बड़ा तर्क-वितर्क हुआ। राम बोले—'हम चौदह वर्ष तक वन में वास करेंगे। महाराज की प्रतिज्ञा पालन करना हमारा कर्तव्य है।' जब राम को किसी प्रकार अयोध्या चलने के लिए राजी न कर सके, तो भरत अनशन-व्रत धारण कर उनकी कुटी के द्वार पर धरना दे कर पड़ गए। भूमि पर लोटे हुए भरत को रामचन्द्र ने आदरपूर्वक उठा कर अपनी पादुकाएँ प्रदान कीं। भाई के पद-रज से विभूषित पादुकाएँ भरत के जटाजूट को शोभित कर उनके शिर पर मुकुट के समान देदीप्यमान हो रही थीं। सहस्रों आभूषणों से जो शोभा नहीं आ सकती, इन पादुकाओं ने भरत को वही अपूर्व राजश्री प्रदान की। भरत ने विदा होते समय कहा—'चौदह वर्ष तक हम आपकी प्रतीक्षा में इन पादु-काओं की आज्ञा लेकर राज्य का काम चलावेंगे। यदि इतने

समय में आप नहीं आये, तो अग्नि में हम अपना प्राण होम देंगे।' अयोध्या के समीप पहुँच कर भरत बोले—'अयोध्या वह अयोध्या नहीं है। हम इस विना सिंह की गुफा में प्रवेश नहीं कर सकेंगे।' नन्दीग्राम में राजधानी बनाई गई। पर वह राजधानी नहीं, ऋषि का आश्रम था। मन्त्री लोग जटा-वल्कल-धारी और फलमूलाहारी राजा के पास बहुमूल्य वस्त्र धारण कर कैसे बैठेंगे, यह विचार कर उन सब ने कषाय वस्त्र पहनना आरम्भ कर दिया। सचिव-वृन्द की सहायता से इस कषाय वस्त्रधारी, व्रत और उपवास से कृशांग और त्यागी राजकुमार ने रामचन्द्र की पादुकाओं के ऊपर छत्र धारण कर चौदह वर्ष तक राज्य कर प्रजा का पालन किया।

भरत की यह विवर्ण मूर्त्ति राम के चित्त में काँटे की तरह विध गई थी। जिस समय सीता के हरण होने पर वे पम्पा के किनारे उन्मत्त की तरह घूम रहे थे, उस समय उन्हों ने कहा था—'इस पम्पा-तीर की रमणीय दृश्यावली सीता के विरह और भरत के दुःख में हमें रमणीय नहीं मालूम होती।' और एक दिन लङ्का में रामचन्द्र ने सुग्रीव से कहा था—'बन्धु भरत के समान भाई इस संसार में कहाँ मिलेगा!'

जब रामचन्द्र लौट कर अयोध्या को आये, तब भरत उन्हीं पादुकाओं को अपने हाथों से उनके चरणों में पहना कर कृतार्थ

हुए और रामचन्द्र के चरणों में प्रणाम करके बोले—'देव, आप इस अयोग्य के हाथ में जो राज्यभार छोड़ गए थे, उसे ग्रहण कीजिए। चौदह वर्ष में राजकोष में दस गुना धन बढ़ गया है।'

रामायण में यदि कोई चरित्र ठीक आदर्श समझ कर ग्रहण किया जा सकता है, तो वह एक मात्र भरत ही का चरित्र है। सीता ने लक्ष्मण से जो कटु वचन कहे थे, वह क्षमा के योग्य नहीं हैं। रामचन्द्र के बालि-वध आदि अनेक कार्यों का समर्थन नहीं किया जा सकता। लक्ष्मण की बातें तो कई बार बड़ी रूखी और दुर्विनीत हुई हैं। कौशल्या ने दशरथ से कहा था—'कई जल-जन्तु जिस प्रकार अपनी सन्तान भक्षण कर जाते हैं, तुमने भी उसी प्रकार किया है'। किन्तु भरत के चरित्र में एक भी दोष नहीं। रामचन्द्र की पादुकाओं पर स्वर्ण-छत्र धारण करनेवाले जटावल्कलधारी इस राजर्षि का चित्र रामायण में एक अद्वितीय सौन्दर्य धारण कर रहा है। दशरथ ने सत्य ही कहा था—

'रामादपि हि तं मन्ये धर्मतो बलवत्तरम्।'

'धर्म की दृष्टि से हम राम की अपेक्षा भरत को अधिक बलवान् समझते हैं।'

जब हम देखते हैं कि कैकेयी ऐसे सुपुत्र की गर्भधारिणी थी, तो हम उस के सहस्रों दोषों को क्षमा के योग्य समझते हैं। हम निषादाधिपति गुह के स्वर में स्वर मिला कर एक वाक्य में यही

कहेंगे —

'धन्यस्त्वं न त्वया तुल्यं पश्यामि जगतीतले ।
अयत्नादागतं राज्यं यस्त्वं त्यक्तुमिच्छसि ।'

तुम धन्य हो जो बिना यत्न से आए हुए राज्य को छोड़ना चाहते हो । इस संसार में तुम्हारे समान और कोई नहीं दिखाई देता । ❀

—["रामायणी कथा" से]

❀ बंगला से अनूदित ।

३८

रक्षा-बन्धन

लेखक—श्रीयुत विश्वम्भरनाथ कौशिक

[इन का जन्म सन् १८६१ में अम्बाला छावनी में हुआ था, पर इन के दादा के भाई ने इन्हें गोद ले लिया। तब से आप कानपुर में रहते हैं। आप अँगरेज़ी, बंगाली, गुजराती और मराठी के अच्छे ज्ञाता हैं। आप हिन्दी के एक बहुत अच्छे उपन्यास-लेखक हैं। 'माँ', चित्रशाला, भीष्म, संसार की असभ्य जातियों की स्त्रियाँ आप की रचनाएँ हैं।]

[१]

'माँ मैं भी राखी बाँधूगी।'

श्रावणी की धूमधाम है। नगरवासी स्त्री-पुरुष बड़े आनन्द

तथा उत्साह से श्रावणी का उत्सव मना रहे हैं। बहनें भाइयों के और ब्राह्मण अपने यजमानों के राखियाँ बाँध बाँध कर चाँदी कर रहे हैं। ऐसे ही समय एक छोटे से घर में एक दस वर्ष की बालिका ने अपनी माता से कहा—'माँ' मैं भी राखी बाधूँगी'।

उत्तर में माता ने एक ठंडी साँस भरी और कहा—'किस के बाँधेगी बेटी—आज तेरा भाई होता तो—।'

माता आगे कुछ न कह सकी। उसका गला रुँध गया और नेत्र अश्रुपूर्ण हो गये।

अबोध बालिका ने इठला कर कहा—'तो क्या भैया ही के राखी बाँधी जाती है और किसी के नहीं? भैया नहीं हैं तो अम्मा, मैं तुम्हारे ही राखी बाधूँगी'।

इस दुःख के समय भी पुत्री की बात सुन कर माता मुस्कराने लगी और बोली—'अरी, तू इतनी बड़ी हो गई—भला कहीं माँ के भी राखी बाँधी जाती है'?

बालिका ने कहा—'वाह, जो पैसा दे उसी के राखी बाँधी जाती है'।

माता—'अरी पगली! पैसे पर नहीं—भाई ही के राखी बाँधी जाती है।'

यह सुन कर बालिका कुछ उदास हो गई।

माता घर का काम काज करने लगी। घर का काम शेष करके

उसने पुत्री से कहा—'आ तुझे न्हिला (नहला) दूँ'।

बालिका मुख गम्भीर करके बोली—'मैं नहीं नहाऊँगी'।

माता—'क्यों, नहावेगी क्यों नहीं'?

बालिका—'मुझे क्या किसी के राखी बाँधना है'?

माता—'अरी, राखी नहीं बाँधनी है तो क्या नहावेगी भी नहीं? आज त्योहार का दिन है। चल उठ नहा'।

बालिका—'राखी नहीं बाँधूँगी तो त्योहार काहे का'?'

माता—(कुछ क्रुद्ध होकर) 'अरी, कुछ सिड़न हो गई है। राखी-राखी की रट लगा रक्खी है। बड़ी राखी बाँधने वाली बनी है। ऐसी ही होती तो आज यह दिन देखना पड़ता। पैदा होते ही बाप को खा बैठी। ढाई बरस की होते होते भाई से घर छुड़ा दिया। तेरे ही कर्मों से सब नास (नाश) हो गया।'

बालिका बड़ी अप्रतिभ हुई और आँखों में आँसू भरे हुए चुपचाप नहाने को उठ खड़ी हुई।

+ + +

एक घण्टा पश्चात् हम उसी बालिका को उसके घर के द्वार पर खड़ा देखते हैं। इस समय भी उसके सुन्दर मुख पर उदासी विद्यमान है। अब भी उसके बड़े बड़े नेत्रों में पानी छलछला रहा है।

परन्तु बालिका इस समय द्वार पर क्यों खड़ी है? जान पड़ता है, वह किसी कार्य्यवश खड़ी है, क्योंकि उसके द्वार के सामने से जब

कोई पुरुष निकलता है तब वह बड़ी उत्सुकता से उसकी ओर ताकने लगती है। मानों वह मुख से कुछ कहे बिना, केवल इच्छा-शक्ति ही से, उस पुरुष का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने की चेष्टा करती थी। परन्तु जब उसे इसमें सफलता नहीं होती तब उसकी उदासी बढ़ जाती है।

इसी प्रकार एक, दो, तीन करके कई पुरुष, बिना उसकी ओर देखे, निकल गये।

अन्त को बालिका निराश होकर घर के भीतर लौट जाने को उद्यत ही हुई थी कि एक सुन्दर युवक की दृष्टि, जो कुछ सोचता हुआ धीरे धीरे जा रहा था, बालिका पर पड़ी। बालिका की आँखें युवक की आँखों से जा लगीं। न जाने उन उदास तथा करुणा-पूर्ण नेत्रों में क्या जादू भरा था, जिसके प्रभाव से युवक ठिठक कर खड़ा हो गया और बड़े ध्यान से बालिका को सिर से पैर तक देखने लगा। ध्यान से देखने पर युवक को ज्ञात हुआ कि बालिका की आँखें अश्रुपूर्ण हैं। तब युवक अधीर हो गया। उसने निकट जाकर पूछा – 'बेटी, क्यों रोती हो' ?

बालिका इसका कुछ उत्तर न दे सकी। परन्तु उसने अपना एक हाथ युवक की ओर बढ़ाया। युवक ने देखा, बालिका के हाथ में एक लाल डोरा है। उसने पूछा—'यह क्या है ?' बालिका ने आँखें नीची करके उत्तर दिया—'राखी'। युवक समझ गया।

उसने मुसकरा कर अपना दाहिना हाथ आगे बढ़ा दिया।

बालिका का मुख-कमल खिल उठा। उसने बड़े चाव से युवक के हाथ में राखी बाँध दी।

राखी बँधवा चुकने पर युवक ने जेब में हाथ डाला और दो रुपए निकाल कर बालिका को देने लगा। परन्तु बालिका ने उन्हें लेना स्वीकार न किया। वह बोली—'नहीं, यह नहीं; पैसे दो।'

युवक—'ये पैसे से भी अच्छे हैं।'

बालिका—'नहीं—मैं पैसे लूँगी, यह नहीं।'

युवक—'ले लो बिटिया। इसके पैसे मँगा लेना। बहुत से मिलेंगे।'

बालका—'नहीं, पैसे दो।'

युवक ने चार आने पैसे निकाल कर कहा—'अच्छा, ले पैसे भी ले और यह भी ले।'

बालिका—'नहीं, खाली पैसे लूँगी।'

'तुझे दोनों लेने पड़ेंगे'—यह कह कर युवक ने बल-पूर्वक पैसे तथा रुपए बालिका के हाथ पर रख दिए।

इतने में घर के भीतर से किसी ने पुकारा—'अरी सरसुती (सरस्वती) कहाँ गई?'

बालिका ने 'आई' कह कर युवक की ओर कृतज्ञता-पूर्ण दृष्टि

डाली और भीतर चली गई।

[२]

गोलागञ्ज (लखनऊ) की एक बड़ी तथा सुन्दर अट्टालिका के एक सुसज्जित कमरे में एक युवक चिन्ता-सागर में निमग्न बैठा है। कभी वह ठण्डी साँसें भरता है; कभी रूमाल से आँखें पोंछता है; कभी आप ही आप कहता है—'हा! सारा परिश्रम व्यर्थ गया। सारी चेष्टाएँ निष्फल हुईं। क्या करूँ। कहाँ जाऊँ। उन्हें कहाँ ढूँढूँ। सारा उन्नाव छान डाला, परन्तु फिर भी पता न लगा— ।' युवक आगे कुछ और कहने को था कि कमरे का द्वार धीरे धीरे खुला और एक नौकर अन्दर आया।

युवक ने कुछ विरक्त हो कर पूछा—'क्यों, क्या है?'

नौकर—'सरकार, अमरनाथ बाबू आए हैं।'

युवक (सँभल कर)—'अच्छा, यहीं भेज दो।'

नौकर के चले जाने पर युवक ने रूमाल से आँखें पोंछ डालीं और मुख पर गम्भीरता लाने की चेष्टा करने लगा।

द्वार फिर खुला और एक युवक अन्दर आया।

युवक—'आओ भाई अमरनाथ!'

अमरनाथ—'कहो घनश्याम, आज अकेले कैसे बैठे हो? कानपुर से कब लौटे'?

घनश्याम—'कल आया था'।

अमरनाथ—'उन्नाव भी अवश्य ही उतरे होगे' ?

घनश्याम—(एक ठण्डी साँस भर कर) 'हाँ उतरा तो था, परन्तु व्यर्थ। वहाँ अब मेरा क्या रक्खा है' ?

अमरनाथ—'परन्तु करो क्या। हृदय नहीं मानता है—क्यों ? और सच पूछो तो बात ही ऐसी है। यदि तुम्हारे स्थान पर मैं होता तो कदाचित् मैं भी ऐसा ही करता'।

घनश्याम—'क्या कहूँ मित्र, मैं तो हार गया। तुमतो जानते ही हो कि मुझे लखनऊ आकर रहे एक वर्ष हो गया और जब से मैं यहाँ आया हूँ मैंने उन्हें ढूँढ़ने में कुछ भी कसर उठा नहीं रक्खी—परन्तु सब व्यर्थ'।

अमरनाथ—'उन्होंने उन्नाव न जाने क्यों छोड़ दिया और कब छोड़ा—इसका भी कोई पता नहीं चलता'।

घनश्याम—'इसका तो पता. चल गया न, कि वे लोग मेरे चले जाने के एक वर्ष पश्चात् उन्नाव से चले गए। परन्तु कहाँ गये, यह नहीं मालूम'।

अमरनाथ—'यह किससे मालूम हुआ' ?

घनश्याम—'उसी मकान वाले से जिसके मकान में हम लोग रहते थे'।

अमरनाथ—'हा शोक' !

घनश्याम—'कुछ नहीं, यह सब मेरे ही कर्मों का फल है।

यदि मैं उन्हें छोड़ कर न जाता; यदि गया था तो उनकी खोज खबर लेता रहता। परन्तु मैं तो दक्षिण जाकर रुपया कमाने में इतना व्यस्त रहा कि घर की कभी याद ही न आई। और जो आई भी तो क्षणमात्र के लिए। उफ़, इतना भी कोई अपने घर को भूल जाता है। मैं ही ऐसा अधम'—

अमरनाथ—(बात काट कर) 'अजी नहीं, सब समय की बात है'।

घनश्याम—'मैं दक्षिण न जाता तो अच्छा था'।

अमरनाथ—'तुम्हारा दक्षिण जाना तो व्यर्थ नहीं हुआ। यदि न जाते तो इतना धन—।'

घनश्याम—'अजी चूल्हे में जाय धन। ऐसा धन किस काम का। मेरे हृदय में सुख-शान्ति नहीं तो धन किस मर्ज़ की दवा है'।

अमरनाथ—'ऐं, यह हाथ में लाल डोरा क्यों बाँधा है' ?

घनश्याम—'इसकी तो बात ही भूल गया। यह राखी है'।

अमरनाथ—'भाई वाह, अच्छी राखी है। लाल डोरे को राखी बताते हो। यह किसने बाँधी है। किसी बड़े कञ्जूस ब्राह्मण ने बाँधी होगी। दुष्ट ने एक पैसा तक खर्चना पाप समझा। डोरे ही से काम निकाला'।

घनश्याम—'संसार में यदि कोई बढ़िया से बढ़िया राखी बन

सकती है तो मुझे उससे भी कहीं अधिक प्यारा यह लाल डोरा है'। यह कह कर घनश्याम ने उसे खोलकर बड़े यत्नपूर्वक अपने बक्स में रख दिया।

अमरनाथ—'भई, तुम भी विचित्र मनुष्य हो। आखिर यह डोरा बाँधा किसने है' ?

घनश्याम—'एक बालिका ने'।

पाठक समझ गये होंगे कि यह घनश्याम कौन है।

अमरनाथ—'बालिका ने कैसे बाँधा और कहाँ ?'

घनश्याम—'कानपुर में'।

घनश्याम ने सारी घटना कह सुनाई।

अमरनाथ—'यदि यह बात है तो सत्यही यह डोरा अमूल्य है'।

घनश्याम —'न जाने क्यों उस बालिका का ध्यान मेरे मन से नहीं उतरता'।

अमरनाथ—'उसकी सरलता तथा प्रेम ने तुम्हारे हृदय पर प्रभाव डाला है। भला उसका नाम क्या है' ?

घनश्याम—'नाम तो मुझे नहीं मालूम। भीतर से किसी ने उसका नाम लेकर पुकारा तो था। परन्तु मैं सुन न सका'।

अमरनाथ—'अच्छा, ख़ैर। अब तुमने क्या करना विचारा है' ?

घनश्याम—'धैर्य धर कर चुपचाप बैठने के अतिरिक्त और

मैं कर ही क्या सकता हूँ! मुझ से जो हो सका, मैं कर चुका।'

अमरनाथ—'हाँ, नहीं ठीक भी है। ईश्वर पर छोड़ दो। देखो क्या होता है'।

[३]

पूर्वोक्त घटना हुए पाँच साल व्यतीत हो गये। घनश्यामदास पिछली बातें प्रायः भूल गये हैं। परन्तु उस बालिका की याद कभी कभी आ जाती है। उसे देखने वे एक बार कानपुर गये भी थे। परन्तु उसका पता न चला। उस घर में पूछने पर ज्ञात हुआ कि वह वहाँ से, अपनी माता सहित, बहुत दिन हुए, न जाने कहाँ चली गई। इसके पश्चात् ज्यों ज्यों समय बीतता गया उसका ध्यान भी कम होता गया। पर अब भी जब वे अपना बक्स खोलते हैं तब कोई वस्तु देख कर चौंक पड़ते हैं और साथ ही कोई पुराना दृश्य भी आँखों के सामने आ जाता है।

घनश्याम अभी तक अविवाहित हैं। पहले तो उन्हों ने निश्चय कर लिया था कि विवाह करेंगे ही नहीं। पर मित्रों के कहने और स्वयं अपने अनुभव ने उनका यह विचार बदल दिया। अब वे विवाह करने पर तैयार हैं। परन्तु अभी तक कोई कन्या उनकी रुचि के अनुसार नहीं मिली।

जेठ का महीना है। दिन भर की जला देने वाली धूप के पश्चात् सूर्यास्त का समय अत्यन्त सुखदायी प्रतीत हो रहा है। इस

समय घनश्यामदास अपनी कोठी के बाग़ में मित्रों सहित बैठे मन्द मन्द शीतल वायु का आनन्द ले रहे हैं। आपस में हास्य-रस-पूर्ण बातें हो रही हैं। बातें करते करते एक मित्र ने कहा—'अजी अभी तक अमरनाथ नहीं आये'!

घनश्याम—'वह मनमौजी आदमी है। कहीं रम गया होगा'।

दूसरा—'नहीं रम नहीं, वह आज कल तुम्हारे लिए दुलहन ढूँढ़ने की चिन्ता में रहता है'।

घनश्याम—'बड़े दिल्लगी बाज़ हो'।

दूसरा—'नहीं दिल्लगी की बात नहीं'।

तीसरा—'हाँ, परसों मुझ से भी वह कहता था कि घनश्याम का विवाह हो जाय तो मुझे चैन पड़े'।

ये बातें हो ही रही थीं कि अमरनाथ लपकते हुए आ पहुंचे।

घनश्याम—'आओ यार, बड़ी उमर—अभी तुम्हारी ही याद हो रही थी'।

अमरनाथ—'इस समय बोलिए नहीं, नहीं एक आध को मार बैठूँगा'।

दूसरा—'जान पड़ता है, कहीं से पिट कर आये हो'।

अमरनाथ—'तू फिर बोला—क्यों?'

दूसरा—'क्यों, बोलना किसी के हाथ क्या बेच खाया है ?

अमरनाथ—'अच्छा, दिल्लगी छोड़ो। एक आवश्यक बात है।'

सब उत्सुक हो कर बोले—'कहो कहो, क्या बात है ?'

अमरनाथ—(घनश्याम से) 'तुम्हारे लिए दुलहन ढूँढ़ ली है।'

सब—(एक स्वर से) 'फिर क्या ! तुम्हारी चाँदी है।'

अमरनाथ—'फिर वही दिल्लगी। यार, तुम लोग अजीब आदमी हो।'

तीसरा—'अच्छा, बताओ, कहाँ ढूँढ़ी ?'

अमरनाथ—'यहीं, लखनऊ में।'

दूसरा—'लड़की का पिता क्या करता है ?'

अमरनाथ—'पिता तो स्वर्गवास करता है।'

तीसरा—'यह बुरी बात है।'

अमरनाथ—'लड़की है और उसकी माँ। बस, तीसरा कोई नहीं। विवाह में कुछ मिलेगा भी नहीं। लड़की की माता बड़ी ग़रीब है।'

दूसरा—'यह उससे भी बुरी बात है।'

तीसरा—'उल्लू मर गए; पट्ठे छोड़ गए। घर भी ढूँढ़ा तो ग़रीब। कहाँ हमारे घनश्याम इतने धनाढ्य और कहाँ ससुराल इतनी दरिद्र ! लोग क्या कहेंगे ?'

अमरनाथ—'अरे भई, कहने और न कहने वाले हमीं तुम

है। और यहाँ उनका कौन बैठा है जो कहेगा ?'

घनश्याम ने ठण्डी साँस ली।

तीसरा—'आपने क्या भलाई देखी जो यह सम्बन्ध करना विचारा है?'

अमरनाथ—'लड़की की भलाई। लड़की लक्ष्मी-रूपा है। जैसी सुन्दर वैसी ही सरल। ऐसी लड़की यदि दीपक लेकर ढूँढ़ी जाय तो भी कदाचित् ही मिले।'

दूसरा—'हाँ, यह अवश्य एक बात है।'

अमरनाथ—'परन्तु लड़की की माता लड़का देख कर विवाह करने को कहती है।'

तीसरा—'यह तो व्यवहार की बात है'।

घनश्याम—'और, मैं भी लड़की देख कर विवाह करूँगा'।

दूसरा—'यह भी ठीक ही है'।

अमरनाथ—'तो इसके लिए क्या विचार है' ?

तीसरा—'विचार क्या, लड़की देखेंगे'।

अमरनाथ—'तो कब' ?

घनश्याम—'कल'।

[४]

दूसरे दिन शाम को घनश्याम और अमरनाथ गाड़ी पर सवार होकर लड़की देखने चले। गाड़ी चक्कर खाती हुई अहिया-

गंज की एक गली के सामने जा खड़ी हुई। गाड़ी से उतर कर दोनों मित्र गली में घुसे। लगभग सौ क़दम चल कर अमरनाथ एक छोटे से मकान के सामने खड़े हो गये और मकान का द्वार खटखटाया।

घनश्याम बोले—'मकान देखने से तो बड़े ग़रीब जान पड़ते हैं'।

अमरनाथ—'हाँ, बात तो ऐसी ही है, परन्तु यदि लड़की तुम्हारे पसन्द आ जाय तो यह सब सहन किया जा सकता है'।

इतने में द्वार खुला और दोनों भीतर गये। सन्ध्या हो जाने के कारण मकान में अँधेरा हो गया था। अतएव ये लोग द्वार खोलने वाले को स्पष्ट न देख सके।

एक दालान में पहुँच कर ये दोनों चारपाइयों पर बिठा दिए गए और बिठाने वाली ने, जो स्त्री थी, कहा—'मैं ज़रा दिया जला लूँ'।

अमरनाथ—'हाँ, जला लो'।

स्त्री ने दीपक जलाया और पास ही एक दीवार पर उसे रख दिया। फिर इनकी ओर मुख करके वह नीचे चटाई पर बैठ गई। परन्तु ज्यों ही उसने घनश्याम पर अपनी दृष्टि डाली—एक हृदय-वेधी आह उसके मुख से निकली—और वह ज्ञानशून्य होकर गिर पड़ी।

स्त्री की ओर कुछ अँधेरा था। इस कारण इन लोगों को उसका मुख स्पष्ट न दिखाई पड़ता था। घनश्याम उसे उठाने को उठे। परन्तु ज्योंही उन्होंने उसका सिर उठाय और रोशनी उसके मुख पर पड़ी त्योंही घनश्याम के मुख से निकला—'मेरी माता'—और उठ कर वे भूमि पर बैठ गये।

अमरनाथ विस्मित होकर काष्ठवत् बैठे रहे। अन्त को कुछ क्षण उपरान्त बोले—'उफ़ ईश्वर की महिमा बड़ी विचित्र है। जिनके लिए तुमने न जाने कहाँ कहाँ की ठोकरें खाईं वे अन्त को इस प्रकार मिले'।

घनश्याम अपने को सँभाल कर बोले—थोड़ा पानी मँगाओ'।

अमरनाथ—'किससे मँगाऊँ। यहाँ तो कोई और दिखाई ही नहीं पड़ता। परन्तु हाँ वह लड़की तुम्हारी—' कहते अमरनाथ रुक गये। फिर उन्होंने पुकारा—'बिटिया, थोड़ा पानी दे जाओ'।

परन्तु कोई उत्तर न मिला।

अमरनाथ ने फिर पुकारा—'बेटी, तुम्हारी माँ अचेत हो गई है। थोड़ा पानी दे जाओ'।

इस 'अचेत' शब्द में न जाने क्या बात थी कि तुरन्त ही घर के दूसरी ओर बरतन खड़कने का शब्द हुआ। तत्पश्चात् एक पूर्णवयस्क लड़की लोटा लिए आई। लड़की मुँह कुछ ढके हुए थी। अमरनाथ ने पानी लेकर घनश्याम की माता की आँखें तथा मुख

धो दिया। थोड़ी देर में उसे होश आया। उसने आँखें खोलते ही फिर घनश्याम को देखा। तब वह शीघ्रता से उठ कर बैठ गई और बोली—'एँ, मैं क्या स्वप्न देख रही हूँ? घनश्याम क्या तू मेरा खोया हुआ घनश्याम है? या कोई और'?

घनश्याम की आँखों से अश्रुधारा फूट निकली। वह रोता हुआ माता के चरणों पर लोट गया और बोला—'हाँ, माँ, मैं तुम्हारा वही कपूत घनश्याम हूँ जो छोड़ कर भाग गया था'।

माता ने पुत्र को उठा कर छाती से लगा लिया और अश्रु-बिन्दु विसर्जन किए। परन्तु वे बिन्दु सुख के थे अथवा दुख के—कौन कहे?

लड़की ने यह सब देख सुन कर अपना मुँह खोल दिया और भैया, भैया कहती हुई घनश्याम से लिपट गई। घनश्याम ने देखा-लड़की कोई और नहीं, वही बालिका है जिसने पाँच वर्ष पूर्व उनके राखी बाँधी थी और जिसकी याद प्रायः आया करती थी।

\+ \+ \+

श्रावण का महीना है और श्रावणी का महोत्सव। घनश्याम-दास की कोठी खूब सजाई गई है। घनश्याम अपने कमरे में बैठे एक पुस्तक पढ़ रहे हैं। इतने में एक दासी ने आकर कहा—'बाबू, भीतर चलो'। घनश्याम भीतर गए। माता ने उन्हें एक आसन पर बिठाया और उनकी भगिनी सरस्वती ने उनके तिलक

लगाकर राखी बाँधी। घनश्याम ने दो अशर्फ़ियाँ उसके हाथ में धर दीं और मुस्करा कर बोले—'क्या पैसे भी देने होंगे' ?

सरस्वती ने हँस कर कहा—'नहीं, भैया, ये अशर्फ़ियाँ पैसों से अच्छी हैं। इनसे बहुत से पैसे आवेंगे।

३६

सुधा

[१]

नीरव निशा में निशाकर के रजत-किरण धारण कर लेने से निर्मल नीलाकाश की अपूर्व शोभा हो गई है। आज पूर्णिमा है। ऋतुराज के राज्य में दिगन्त को कम्पित करता हुआ पपीहा मधुर स्वर से गान कर रहा है। चतुर्दिक् कुसुम-सुगन्ध से परिपूर्ण हो रही है। निर्जन गृहकोण में बैठे हुए शशिशेखर सोच रहे हैं—'मैं किस अन्याय-कार्य में प्रवृत्त हो रहा हूँ!'

मस्तक के ऊपर शैलबाला का तैल-चित्र सुशोभित है। ऊपर की ओर देख कर शशिशेखर कहने लगे—'शैल! अब भी मैं

तुम्हें भूल नहीं सकता। इस जीवन में तुम्हें कभी न भूल सकूँगा। भूलने का भाव भी हृदय में उपस्थित नहीं होता। जिस प्रकार चिरकाल पर्य्यन्त मैं ने तुम्हारी आराधना की थी, उसी प्रकार शेष जीवन भी तुम्हारी ही आराधना में व्यतीत करूंगा। क्या इतने पर भी तुम मुझे अपने पास न बुला लोगी?'

तैल-चित्र उसी प्रकार नीरव रहा। उसकी दृष्टि में तिरस्कार की कठोरता न थी; न अनादर का मृदु हास्य ही विद्यमान था। उसकी दृष्टि स्थिर तथा अचञ्चल थी। परन्तु उसमें अलौकिक भाव अज्ञात रूप से अवश्य विद्यमान था। शशिशेखर उस दृष्टि का भाव जान लेने में असमर्थ हुए। वे उच्च स्वर से बोल उठे—'शैल! तुम मुझे वृथा दोषी बनाती हो। मैं ने अपनी इच्छा से विवाह नहीं किया। यद्यपि माता ने अपना हठ पूर्ण किया, तथापि क्या मैं तुम्हारी आनन्ददायिनी मूर्त्ति हृदय-मन्दिर से बाहर करने में समर्थ हो सकता हूँ? कदापि नहीं! तुम मेरे हृदय-मन्दिर की अधिष्ठात्री देवी हो। मेरे हृदय में 'सुधा' के लिए तिलमात्र भी स्थान नहीं।'

इतने में पीछे से कोई कोमल मधुर स्वर से बोला—'प्रियतम! मैं आती हूँ।'

घर में चन्द्र की चन्द्रिका छिटक रही थी। पूर्वोक्त शब्द कहने वाली की देह तथा मुख-मण्डल को मधुर ज्योत्स्ना देदीप्यमान कर रही थी। शेखर के विचार भङ्ग हुए। पीछे फिर कर देखा तो

अनिन्द्य सुषमामयी रमणी की मूर्त्ति है। कम्पित कण्ठ से शेखर बोले—'सुधा! यहाँ क्यों आई हो? जाओ, माता के पास जाओ।'

नेत्रों को नीचे किए हुए सुधा बोली—'प्रभु! आज के लिए तो अपराधिनी को क्षमा करो। चरण-कमल पूजने की आज्ञा देकर आज इस दासी को कृतार्थ होने दो।'

शेखर चुप रहे। तब सुधा ने हाथ में लिए हुए कुङ्कुम से शेखर के दोनों पैर रँगे। अनेक दिनों बाद आज सुधा स्वामी के चरण पर गिर पड़ी। फिर उसने उठ कर कहा—'हृदयेश! मेरी पूजा समाप्त हो गई। मैं जाती हूँ।'

सुधा चली गई। ऊर्ध्व-आबद्ध दृष्टि से देखते हुए शेखर अचल अटल भाव से बैठे रहे।

[२]

इस घटना को हुए कितने ही दिन व्यतीत हो गए। परन्तु शशिशेखर के हृदय का दुर्दमनीय वेग किसी प्रकार शान्त न हो सका। कितनी ही नीरव भिक्षाओं ने, तथा कितनी ही बार कातर नयनों की दृष्टि ने, उनके हृदय-पटल पर कुछ भी प्रभाव न जमा पाया। एक ही चिन्ता—एक ही भावना—के कारण शेखर की देह जीर्ण होने लगी। जब तक वे इस यातना को सह सके, उन्होंने चुपचाप सहन किया। परन्तु जब यह यातना असह्य हो गई, तब एक रात को उन्होंने तीर्थराज प्रयाग की ओर प्रस्थान

किया।

उस समय कुम्भ का मेला था। हज़ारों यात्री, संन्यासी प्रभृति वहाँ एकत्र हुए थे। अनन्त जन-राशि से उस महातीर्थ का कलेवर आच्छादित था। पुण्य-पीयूषवाहिनी भगवती जाह्नवी और यमुना का सङ्गम! यमुना के कृष्ण जल का जाह्नवी के शुभ्र जल से मिलन। यह दृश्य बहुत ही सुन्दर तथा मनोरम था!

कुछ दिन तो शशिशेखर ने किसी न किसी तरह व्यतीत किए। नवीन स्थल पर नवीन दृश्य देख कर किस का हृदय पुलकित नहीं होता! शेखर ने बहुविधि संन्यासियों के साथ इतस्ततः परिभ्रमण करके मन को बहुत कुछ स्थिर किया। परन्तु यह स्थिरता कितने दिनों के लिए थी! शान्ति का फिर नाश होगया। शशिशेखर अस्थिर चित्त से देश-विदेश में परिभ्रमण करने लगे।

[३]

सुधा के हृदय में भाव उठा—'उन्हें एक बार और देख पाती तो अच्छा होता। उनसे वियोग हुए बहुत दिन हो गए'। उस तैल-चित्र के समक्ष बैठकर सुधा कहने लगी—'भगिनी! तुम जैसी भाग्यशीला संसार में धन्य हैं! तुम ने पति के हृदय-मन्दिर में स्थान-लाभ किया। मैं हत-भागिनी हूँ जो तुम्हारा द्रव्य छीनने का प्रयत्न करती हूँ'।

सुधा और न बोल सकी। नयन-मोचित अश्रुधारा से उसका

वक्षस्थल भीग गया। सुधा फिर कम्पित कण्ठ से बोली—'बहन! मैं तुम्हारी वस्तु पाने की इच्छा नहीं करती हूँ। परन्तु उस अमूल्य रत्न की आराधना करने की इच्छा अवश्य है। क्या यह इच्छा पूर्ण करोगी ?' इतने में पीछे से ननद ने कहा—'बहू! क्यों रोती हो' ? आँसू पोंछ कर सुधा ने उत्तर दिया—'हृदय जिस व्यथा से व्यथित हो रहा है, उसे क्या कहकर समझाऊँ! स्त्री होकर भी मेरा हृदय विदीर्ण नहीं होता। इस कष्ट से पत्थर, वृक्ष प्रभृति भी फट जाते। क्या उनकी खबर पाने का कुछ उपाय नहीं ?' शैवलिनी ने धीरे से कहा—'बहू, क्या तू पागल हो जायगी ? चल सारा दिन बीत गया। कुछ खायगी भी! चल, खा ले। दादा की खबर आई है। आजकल वृन्दावन में हैं'। उत्तेजित स्वर से सुधा ने सुधा-वर्षण किया—'तुम माता जी से कहो, मैं उन्हें देखने जाऊँगी।' शैवलिनी ने कहा—'बहू! तू निश्चय पागल हो गई है। दो दिन के बाद दादा स्वयं घर आ जायँगे'।

सुधा बोली—'न दीदी! वे कभी न आवेंगे। चलो, उन्हें लौटा लावें।'

'अच्छा, यही सही। मैं जाकर रविशेखर से कहती हूँ। तू तब तक चल। खाना खा'।

रवि शशिशेखर के कनिष्ठ भ्राता हैं। सुधा ने नाम-मात्र भोजन किया। सती का स्वामी से वियोग होने के कारण क्षुत्पिपासा से

भी वियोग हो गया। इस वियोग के कारण सुधा की सुन्दर लावण्यमयी देह की अत्युज्ज्वल कान्ति क्रमशः क्षीण होने लगी। देह-लता निर्जीव सी हो गई। तब पुत्र-शोकातुरा सास ने कहा— 'चल, मैं तुझे वृन्दावन ले चलूँगी। मैं भी अपनी शेष अवस्था श्री गोविन्द के पादपद्म में अर्पण करूंगी'।

शैवलिनी बोली—'माता! अच्छी बात है। चलो, हम सब रवि को संग लेकर दादा को खोजें। वे फिर न कहीं चले जाँय। बहू भी पागल सी होती जाती है'।

वृन्दावन के लिए यात्रा स्थिर हुई। उसी दिन सन्ध्या को रवि-शेखर के साथ सब ने पुण्य-तीर्थ वृन्दावन को गमन किया। जो घर सदा ही आनन्द-लहरी से मुखरित होता था, वही आज निविड़ निस्तब्धता में परिणत हो गया।

[४]

नील-सलिला स्वच्छा यमुना आज नीरव स्वर से बह रही है। पर हाय! उस बाँसुरी का स्वर नहीं। इसी से आज यमुना उदास होकर बह रही है। जिस बाँसुरी के शब्द को सुन कर गृह-वासिनी गोपिकाएँ उदास हो जाती थीं, हाय यमुने! तुम्हारे तट पर से वह बाँसुरी का स्वर कहाँ गया? और आज महामाया राधारानी कहाँ हैं? वृन्दावन में यद्यपि तुम्हारा सब कुछ है, परन्तु वह मोहन-मुरली नहीं है। यमुने! क्या उसी के विरह में सूख गई हो? कितनी

गोपिकाओं की तप्त अश्रुधाराएँ तुम्हारे जल में मिल गई हैं, सो कौन कह सकता है !

वृन्दावन के निकट तमाल-वन है। इस वन का दृश्य अति मनोरम है। सुन्दर नृत्य से मयूरों ने इस वन की शोभा को बहुत बढ़ा दिया है। इसी वन के मध्य एक पर्णकुटी में बैठे हुए दो संन्यासी कथनोपकथन कर रहे हैं।

अच्युतानन्द ने कहा—'वत्स ! तुम घर लौट जाओ। अभी तुम्हारे लिए कठोर कर्तव्य करना शेष है। अभी कर्म-योग पालना ही तुम्हारा कर्तव्य है। ज्ञान-योग में तुम्हारा अधिकार नहीं'।

दूसरे संन्यासी ने कहा—'प्रभो ! घर में मुझे शान्ति नहीं। मैं ज्ञान के द्वारा शान्ति लाभ करना चाहता हूँ।'

अच्युतानन्द गोस्वामी ने हँसते हुए कहा—'वत्स ! नयन खोल कर देखो। तुम्हारे सम्मुख कितना महत् कर्तव्य करने को पड़ा है। पुत्र-शोकातुरा माता सन्तान के आगमन की प्रतीक्षा करती हुई पथ की ओर एकटक निहार रही होगी। दीर्घ वियोग से व्याकुल पतिगतप्राणा सती स्वामी के दर्शन की लालसा से प्राण धारण कर रही होगी। वत्स ! अन्धे मत बनो। तुम्हारी वासना अभी बलवती बनी है। जाओ, गृह-धर्म पालन करो। धीरे धीरे शान्ति प्राप्त कर सकोगे'।

यह कह कर वह महापुरुष वहाँ से चला गया। ध्यान-स्तिमित

लोचन शशिशेखर के हृदय में नाना प्रकार की चिन्ताएँ उत्पन्न होने लगीं।

[५]

जैसा प्रायः देखने में आता है, घर से बाहर होने पर, शशिशेखर की अस्थिरता बढ़ गई। शांति-लाभ की आशा से वे जितनी ही दूर गए, हृदय में शांति की उतनी ही कमी वे अनुभव करने लगे। शांति की आशा से शेखर कठोर आत्म-संयम का अभ्यास करने लगे। परन्तु सफल-मनोरथ न हुए।

शेखर का हृदय शून्य था। उन्होंने स्वप्न में देखा कि कोई उनके दोनों चरण नयनाश्रुओं से धो रहा है। कितनी ही दफे मना करने पर भी नहीं मानता! वह पैरों पर गिर कर लोट रहा है। शेखर उसको उठाना चाहते हैं, परन्तु उठा नहीं सकते। वृन्दावन में निवास करते करते शेखर को उन्माद हो गया। उनके हृदय की ज्वाला और बढ़ने लगी। इसी कारण वे अच्युतानन्द गोस्वामी के शिष्य हो गए। इस से उन को कहाँ तक शान्ति मिली होगी, सो पाठक स्वयं ही जान सकते हैं। आज सारा दिन क्लान्ति से पीड़ित होने के उपरान्त शेखर इस समय गम्भीर निद्रा में निमग्न हैं। परन्तु निद्रादेवी भी उनके मन में शान्ति स्थापित करने में असमर्थ हुई। शेखर ने एक विचित्र स्वप्न देखा।

\+ + +

शैल ने कहा—'और कितने दिन इस अशान्ति से पीड़ित

रहोगे? जाओ, सुधा को ले कर सुख से जीवन व्यतीत करो!'

शेखर बोले—'शैल! भला तुम्हें छोड़ कर मैं कैसे सुखी हो सकता हूँ!'

शैल ने कहा—'स्त्रियाँ स्वार्थपर नहीं होतीं। मेरा देहान्त अवश्य हो गया, परन्तु मैं तुम्हें दुखी न होने दूँगी। इसी लिए मैं ने तुम्हें सुधा का हाथ सौंप दिया है।

शैल अदृश्य हो गई। किन्तु फिर वही दृश्य। कोई नयनाश्रुओं से पद-युगल धो रहा है। प्रेम-परिपूर्ण हृदय से पदतल में लोट रहा है। शशिशेखर चौंक पड़े। वे उच्च स्वर से बोल उठे—'सुधा! सुधा!' उनकी निद्रा भङ्ग हो गई। उन्होंने देखा कि सचमुच ही कोई उन के पैर नयनाश्रुओं से धो कर चला गया है।

[६]

चिन्ता करते करते शशिशेखर की देह भग्न होने लगी। वे विषम-ज्वर से पीड़ित हो गए। अच्युतानन्द स्वामी उनकी सेवा-शुश्रुषा करने लगे। शेखर की माता और पत्नी उनको इस अवस्था में देख कर चिन्तित होंगी, इसी कारण स्वामी जी ने उन्हें इसकी खबर न दी। किन्तु जब ज्वर-प्रकोप उत्तरोत्तर बढ़ने लगा, तब वे उन्हें लाने के लिए बाध्य हो गए।

पतिगतप्राणा सुधा स्वामी के पैरों के निकट बैठी हुई अहर्निशि स्वामी की सेवा-शुश्रुषा करती थी। आहार-निद्रा परित्याग कर के

साध्वी सुधा श्री-माधव के चरणारविन्दों में प्रार्थना करती थी—'प्रभु ! हमारे स्वामी की रक्षा करो।'

कितनी ही नीरव रजनियाँ व्यतीत हो गईं; परन्तु शेखर की अवस्था में कुछ भी परिवर्तन न हुआ। ज्वर की ज्वाला से वे बकने लगे—'मेरा जीवन आज शेष होना चाहता है। मुझे अपने पास बुला लो।' माता और सुधा चुपचाप रोने लगीं। अच्युतानन्द ने कहा—'तुम अधीर न हो। तुम्हारे अधीर होने से रोगी की अवस्था और भी बिगड़ जायगी।' तब बहुत कष्ट होने से उन्होंने आत्म-संवरण किया। परन्तु हृदय में शान्ति न हुई।

शेखर की अवस्था क्रमशः बिगड़ने लगी। कभी कभी वे प्रेम की स्थिर दृष्टि से सुधा के मुख-मण्डल की ओर देखते। एक दिन वे कह उठे—'शैल ! हमारे पास आई हो ? चलो ! प्राणेश्वरी ! हम दोनों हाथ पर हाथ रख कर अनन्त पथ पर चलें। हमें कोई बाधा नहीं दे सकता।' दारुण शोक-यातना से सुधा चिल्ला उठी। उसकी चिल्लाहट सुन कर शेखर को ज्ञान हुआ। वे कहने लगे—'सुधा ! तुम रोती हो ? रोओ मत। अपने तप्त अश्रुजल से मेरे हृदय को सन्तप्त न करो। मुझे जाने दो। यह जीवन तुम्हारे साथ व्यतीत नहीं हो सकता। यदि मरणोपरांत फिर जन्म होगा, तो मेरा तुम्हारा मिलन होगा। तब मैं तुम्हें और शैल को ले कर सुखी रहूँगा।' इतना कह शेखर निःस्वर हो गये।

रोरुद्यमाना सुधा पास ही मूर्च्छित हो गई।

[७]

अनेक निद्राहीन रातों तथा अनेक अनशन-क्लिष्ट दिवसों के कारण सुधा की देहलता निर्जीव-प्राय होगई। सुधा की मूर्च्छा भंग हुई। परन्तु समय समय पर मूर्च्छा आती रही। एक दिन शशिशेखर की व्याधि ने प्रबल मूर्त्ति धारण की। अच्युतानन्द ने कहा—"माता! चित्त स्थिर कर। आज तेरी कठोर परीक्षा का दिन है। भगवान् गोविन्द के पाद-पद्म में आत्म-समर्पण कर।' शोकातुरा माता धूल में लोटती हुई उच्च स्वर से रोदन करने लगी। रोने से शेखर की रोग-निद्रा भङ्ग हुई। उनके नेत्र अश्रु-पूर्ण हो गये। उन्हों ने कहा—'माता! रो मत। अपराधी पुत्र को क्षमा कर। पद-धूलि दे। आशीर्वाद दे। मेरा समय पूर्ण हो गया। मैं चलता हूँ'। घोर विकार के प्रकोप में शेखर ने देखा कि शैल उँगली के सङ्केत से उन्हें बुला रही है। उच्च स्वर से वे बोल उठे—'शैल! मैं आता हूँ'। उसी दिन रात्रि के शेष होने पर शेखर का प्राण-पक्षी पिञ्जर-मुक्त हो कर उड़ गया। बालिका सुधा मृतक स्वामी के पैरों के निकट मूर्च्छित होकर पृथिवी पर गिर गई।

\+ + +

इस के उपरान्त वृन्दावन में बहुत दिन व्यतीत हो गये। माता और सुधा ने वृन्दावन में अच्युतानन्द स्वामी का आश्रम परित्याग

न किया। शेखर की माता ने यथार्थ ही माधव के पाद-पद्म में अत्म-समर्पण कर दिया। उसी आत्म-समर्पण के कारण उसने निदारुण पुत्र-शोक पर जय-प्राप्ति की। जब मनुष्य का चित्त भगवान् के पाद-पद्म में आकृष्ट हो जाता है, तब उसे पार्थिव शोक व्याकुल नहीं कर सकते। और बालिका सुधा! हाय! उस के हेमाङ्ग में आज शुभ्र वस्त्र शोभा पा रहे हैं। यह हृदय-विदारक दृश्य है! दृश्य संसार के प्रति वैराग्योत्पन्नकारी है।

सुधा प्रति मुहूर्त निज जीवन के शेष दिनों की प्रतीक्षा करती रही।

सुधा जान गई थी कि प्रेम अविनश्वर है। मृत्यु के उपरान्त भी प्रेम का नाश नहीं होता। प्रेम स्वर्ग में भी मिलता है। ऊपर की तरफ़ हाथ उठा कर वह बोल उठी —'हृदयेश! प्राण-बल्लभ! प्राण-जीवन! तुम बहुत दूर होते हुए भी मेरे हृदय से दूर नहीं। मैं इस हृदय-मन्दिर में चिर-दिन तुम्हारी पूजा करूँगी। मेरा देवता दूसरा नहीं। मेरे देवता तुम्हीं हो। यदि साधना की जीत हुई, मेरा जीवन शेष होने पर तुम से अवश्य मिलन होगा। हे प्रियतम! तब भी तुम मुझे फिर चरण से मत ढकेलना'*। —चण्डीप्रसाद

*बङ्ग-भाषा के प्रसिद्ध लेखक श्रीयुत यतीन्द्रनाथ सोम, एल० एम० एस० की "सुधा" नामक कहानी का भाषानुवाद।

४०

मध्य एशिया के खँडहरों की खुदाई का फल

[लेखक—श्रीयुत पुराण-पाठी]

जिस समय बौद्ध-धर्म अपनी ऊर्जितावस्था में था उस समय यूनान, रूम, मिस्र, बाबुल आदि की तो बात ही नहीं, मध्य एशिया की राह, उसके आचार्य चीन तक जाते और वहाँ अपने धर्म का प्रचार करते थे। अफ़ग़ानिस्तान तो उस समय भारतीय साम्राज्य का एक अंश ही था। उस समय तो भारतवासी बलख़, बुख़ारा, ख़ुरासान, खुतन और ताशकन्द तक फैले हुए थे। चीन और भारत के बीच आवागमन का मार्ग उस प्रान्त से था जिसे इस समय पूर्वी तुर्किस्तान कहते हैं। बर्बर मुसलमानों के

आक्रमण से अपने देश की रक्षा करने के लिए चीनियों ने जो इतिहास-प्रसिद्ध दीवार बनाई थी उसका कुछ अंश इस पूर्वी तुर्किस्तान में भी था। इस प्रान्त में पहले कई बड़े-बड़े नगर थे। बौद्धों के विहारों और मठों से यह प्रान्त सर्वत्र भरा हुआ था। इन मठों में बड़े-बड़े बौद्ध विद्वान निवास करते थे। वे हज़ारों विद्यार्थियों को विद्या-दान करते थे। उन्होंने बहुमूल्य पुस्तकालयों तक की स्थापना की थी। जो बौद्ध श्रमण चीन से भारत और जो भारत से चीन जाते थे वे इन्हीं मठों और विहारों में ठहरते हुए जाते थे। इन लोगों के काफ़िले के काफ़िले चलते थे। चीनी परिब्राजक ह्वेनसाँग और इत्सिंग आदि इसी मार्ग से भारत आए थे। उनके यात्रा-वर्णनों में इस मार्ग में पड़ने वाले नगरों, नदियों, पर्वतों, रेगिस्तानों आदि का बहुत कुछ उल्लेख पाया जाता है।

कालान्तर में बर्बर मुसलमानों का ज़ोर बढ़ने पर उन्होंने चीन और भारत के बीच के इस राज-मार्ग को धीरे-धीरे नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। मठों, स्तूपों और विहारों को उजाड़ दिया। हज़ारों बौद्ध श्रमणों को तलवार के घाट उतार दिया। नगरों को तहस-नहस करके उनको ज़मींदोज़ कर दिया। ये सभी स्थान बालू के टीलों में परिणत हो गए। तूफ़ानों के कारण उड़ी हुई बालू ने इन सब को अपने नीचे यहाँ तक दबा लिया कि इनका नामोनिशाँ तक न रहा। अपने ऊपर आई हुई या आने वाली विपत्ति से अपनी प्राण-

रक्षा असम्भव समझ कर बौद्ध विद्वान् प्राणदान देने के लिए तैयार होगए। परन्तु उन्होंने अपने एकत्र किए हुए ग्रन्थ और चित्रादि के समुदाय को अपने प्राणों से भी अधिक समझा। अतएव कहीं कहीं उन्हों ने उस समुदाय को पर्वतों की गुफ़ाओं के भीतर, कहीं कहीं ज़मीन के नीचे भूतलवर्तिनी कोठरियों के भीतर, और कहीं कहीं पत्थर के संदूकों के भीतर रख कर उन्हें छिपा दिया। उनमें से अनेक वस्तु-समुदाय तो अवश्य ही नष्ट हो गए, पर जो गुफ़ाओं के भीतर और पृथ्वी के पेट में छिपा दिए गए थे वे अब धीरे धीरे निकलते जाते हैं। इसका विशेष श्रेय बौद्ध और हिन्दूधर्म के अनुयायियों को नहीं; योरप के पुरातत्त्व-प्रेमी ईसाइयों को है। लाखों रुपया खर्च करके और कठिन से भी कठिन क्लेश उठाकर ये लोग उन निर्जन वनों और रेतीले स्थानों के ध्वंसावशेष खोद खोद कर उन हज़ारों वर्ष के पुराने ग्रंथों और काग़ज़-पत्रों को ज़मीन के पेट से बाहर निकाल रहे हैं। उनमें से कितने ही तो विवरण और टीका-टिप्पणी सहित छप कर प्रकाशित भी हो गए। परन्तु अभी अनन्त रत्न-राशि प्रकाश में आने को बाकी है।

१८७६ ईसवी में जर्मन-विद्वान् डाक्टर रेजल का ध्यान चीनी तुर्किस्तान के उजाड़-खंड की ओर आकृष्ट हुआ। वे वहाँ गए। उन्हें वहाँ कितने ही प्राचीन खँडहरों का पता

चला। इसके बाद रूस के रहने वाले दो पुरातत्ववेत्ताओं ने सन १८९६—९७ ईसवी में उसी तुर्किस्तान के तुरफ़ान प्रान्त में खोज की। उन्हें, अपनी खोज में, जो चीज़ें मिलीं उनका विस्तृत वर्णन उन्होंने अपनी भाषा में प्रकाशित किया। उनकी देखा देखी फिनलैंड के भी कुछ पुरातत्वज्ञों ने उस रेगिस्तान में पदार्पण करके वहाँ का कुछ हाल लिखा। इस तरह, धीरे धीरे, लोगों का कौतूहल बढ़ता ही गया। अन्त में रूसी विद्वान रैडलफ़ ने, सन १८९९ ई० में पुरातत्व-विशारदों की एक सभा में इस बात का प्रस्ताव किया कि पूर्वी और मध्य एशिया के खण्डहरों की बाक़ायदा जाँच की जाय। यह प्रस्ताव पास हो गया। तब से इन प्रान्तों की जाँच के लिए कई देशों के विद्वानों के यूथ के यूथ वहाँ पहुँचे और अनेक बहु-मूल्य पुस्तकों, मूर्त्तियों, चित्रों आदि का पता लगा कर उन्होंने उन पर बड़े मार्के के लेख प्रकाशित किए। यहाँ तक कि सुदूरवर्त्ती जापान तक ने कई विद्वानों को भेज कर वहाँ खोज कराई। वे लोग भी कितनी बहुमूल्य सामग्री अपने देश को ले गए।

१८९१ ईसवी में ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के एक दूत चीनी-तुर्किस्तान में थे। उनका नाम था कप्तान बावर। उन्हें भोज पत्र पर लिखा हुआ एक ग्रन्थ मिला। उसे उन्होंने बङ्गाल की एशियाटिक सोसाइटी को भेज दिया। डाक्टर हार्नली ने उसे पढ़ा। मालूम हुआ कि वह गुप्त नरेशों के समय की देवनागरी लिपि में है और

ईसा की चौथी शताब्दी में लिखा गया था। अतएव उसकी रचना उसके भी बहुत पहले हुई होगी। एक आध को छोड़ कर इस से अधिक पुरानी हस्त-लिखित पोथी भारत में कहीं नहीं पाई गई। जो पोथियाँ सब से अधिक पुरानी हैं वे ईसा के ग्यारहवें शतक के पहले की नहीं। यहाँ की आबोहवा में इस से अधिक पुस्तकें रही नहीं सकती; वे टूट फूट कर नष्ट हो जाती हैं। बावर साहब को मिली हुई पोथी में भिन्न भिन्न सात पुस्तकें हैं। उन में से तीन वैद्यक विषय की हैं। अवशिष्ट पुस्तकें विशेष करके बौद्ध धर्म से सम्बन्ध रखती हैं।

जब से बावर साहब की पोथी प्रकट हुई तब से तुर्किस्तान के रेगिस्तानी खँडहरों की खुदाई आदि का काम और भी जोरों पर किया जाने लगा। फ्रांस, रूस, स्वीडन, जर्मनी आदि के पुरातत्वज्ञ वहाँ से राशि राशि प्राचीन वस्तु-समुदाय अपने अपने देश को उठा ले गए। चुनाँचे ब्रिटिश गवर्नमेंट भी इस सम्बन्ध में चुप नहीं रही। कलकत्ता मदरसा के प्रधान अध्यापक, डाक्टर आरल स्टीन, की योजना उसने इस काम के लिए की। सन १९००–०१ ईसवी में डाक्टर साहब चीनी तुर्किस्तान को गए। वहाँ उन्होंने खुतन या खोटान (Khctan) के सूबे में जाँच पड़ताल की। उन्हें अपने काम में अच्छी कामयाबी हुई। अनेक ग्रन्थ-रत्न उन्हें प्राप्त हुए। उनका वर्णन उनकी लिखी हुई पुस्तक—'प्राचीन खुतन (Anci-

ent Khotan) में सविस्तर पाया जाता है। इसके बाद डाक्टर साहब ने चीनी तुर्किस्तान पर दो चढ़ाइयाँ और कीं। उनकी तीसरी चढ़ाई सन १९१३ में हुई। सन १९०६ ईसवी वाली दूसरी चढ़ाई में उन्हें एक ऐसी कोठरी मिली जो बाहर से बन्द थी, परन्तु भीतर जिसके पुस्तकें भरी हुई थी। इन पुस्तकों का कुछ ही अंश डाक्टर स्टीन को मिला; अवशिष्ट अंश एम० पोलियो नाम के एक फ्रेंच विद्वान् के हाथ लगा। इस चढ़ाई का बहुत ही विशद वर्णन डाक्टर स्टीन ने पाँच बड़ी बड़ी जिल्दों में किया है। वे प्रकाशित भी हो गई हैं। उनका नाम है सेरेंडिया (Serindia)।

अपनी दूसरी चढ़ाई में जिस समय डाक्टर स्टीन तुर्किस्तान में प्राचीन चिन्हों और वस्तुओं की खोज कर रहे थे उसी समय मध्य एशिया में खोज करने के लिए फ्रांस की राजधानी पेरिस में एक परिषद् की स्थापना हुई। उसकी सहायता फ्रांस की गवर्नमेंट ने भी धन से की और कई एक अन्य सभाओं ने भी की। इस परिषद् ने एक चढ़ाई की योजना की। एम० पोलियो, जिनका नाम ऊपर एक जगह आया है, इसके प्रधानाध्यक्ष नियत हुए। वे दल-बल समेत जून सन १९०६ में पेरिस से रवाना हुए और मास्को, ताशकन्द होते हुए, पामीर के उत्तर काशगर तक पहुँच गए। वहाँ आस पास खोज करते हुए वे तुन-हाँग नामक स्थान में पहुँचे। इसके कुछ ही समय पहले डाक्टर स्टीन एक गुफा से बहुत सी

पुस्तकें प्राप्त कर के लौट चुके थे। यह एक प्रसिद्ध प्राचीन स्थान था। इसकी खबर पेलियों को पहले ही से थी। उन्होंने यह भी सुन लिया था कि डाक्टर स्टीन वहाँ से बहुत-सी प्राचीन पुस्तकें लेकर पहले ही चम्पत हो गए हैं। फिर भी उन्होंने वहाँ पर अपने मतलब की कुछ चीज़े पाने की आशा न छोड़ी।

खोज करने पर पोलियो को मालूम हुआ कि वैंग-ताउ नाम का एक चीनी बौद्ध पुरानी पुस्तकों का स्थिति-स्थान जानता है। पता लगाने पर वह बौद्ध साधु उन्हें मिल गया। पेलियो ने उससे हेल-मेल पैदा करके पुस्तकों का अनुसंधान लगाने की प्रार्थना की। उसने इस प्रार्थना को स्वीकार किया। वह उन्हें एक ऐसी जगह ले गया जहाँ पर कोई एक हजार वर्ष की पुरानी सैकड़ों बौद्ध-गुफाएँ या कोठरियाँ थीं। उनमें से, किसी समय, उसने एक को खोल कर देखा था और वह उसे पुस्तकों से परिपूर्ण मिली थी। इसी गुफा को वैंगने पेलियो के लिए खोला। खोलने पर जो दृश्य पेलियो को दिखाई दिया उससे उनके आश्चर्य और हर्ष की सीमा न रही। ईसवी सन् की दसवीं शताब्दी के अन्त में जब मुसलमानों ने बौद्धों के नाश का बीड़ा उठाया तब उस प्रान्त के बौद्ध विद्वानों ने अपना सारा ग्रन्थ और चित्र-समुदाय लाकर उस गुफा में बन्द कर दिया। फिर उसका मुँह चुनवा दिया और चुनी हुई जगह पर बेल बूटे और चित्र खिंचा दिए। यह इस लिए किया जिसमें वह

दीवार सी मालूम हो; किसी को यह सन्देह न हो कि यह गुफा है और इसके भीतर पुस्तकें भरी हुई हैं। मुसलमानों ने पुस्तकादि के इस संग्रह के स्वामी बौद्धों की क्या दशा की, कुछ मालूम नहीं। तब से सन १६०६ ईसवी तक यह गुफा बराबर बन्द रही।

इस गुफा के भीतर कोई १५ हज़ार पुस्तकें—संस्कृत, प्राकृत, चीनी, तिब्बती तथा कई अन्य अज्ञात भाषाओं और लिपियों में—मिलीं। रेशम के टुकड़ों पर खिंचे हुए सैकड़ों अनमोल चित्र भी प्राप्त हुए। पुस्तकें सभी ग्यारहवीं सदी के पहले की हैं। कितनी ही ब्राह्मी लिपि में हैं। अधिकतर पुस्तकों का सम्बन्ध बौद्ध धर्म से है। परन्तु काव्य, साहित्य, इतिहास, भूगोल, दर्शन आदि शास्त्रों से ही सम्बन्ध रखने वाली पुस्तकें इस पुस्तकालय से मिलीं। संस्कृत भाषा में कितनी ही लिखी हुई पुस्तकें इसमें ऐसी हैं जो भारत में सर्वथा अप्राप्य हैं। यहाँ तक कि इसकी अनेक पुस्तकें, जो चीनी भाषा में हैं, चीन में भी दुर्लभ क्या अलभ्य ही हैं। पुराने-बही खाते, रोजनामचे और दस्तावेज़ तक यहाँ मिले। इन सब का प्रकाशन धीरे धीरे हो रहा है।

इससे स्पष्ट है कि प्राचीन भारत ने मध्य-एशिया की राह, चीन सीस्तान (शकस्थान) और यूनान आदि को विद्या-दान देने और उन्हें सभ्य बनाने का कितना काम किया था। —सरस्वती

❀ ❀ ❀

४१

हमीर

भूमि भारत की सदा से सद्गुणों की खान है।
धर्म-रक्षा, धर्म-निष्ठा ही यहाँ की बान है॥
दीन-दुखियों पर दया करना यहाँ की शान है।
बस इसी से आज तक सर्वत्र इसका मान है॥

—कमलाकर

प्रसिद्ध गढ़ रणथम्भोर को कौन इतिहास-प्रेमी नहीं जानता ? किसने शरणागत-वत्सल वीरवर हमीर राव का नाम नहीं सुना ? सब इतिहास-प्रेमियों को मालूम है कि वीर हमीर अला उद्दीन जैसे प्रबल शत्रु से कैसी वीरता से लड़ा था ! अला उद्दीन जैसे

उद्दण्ड बादशाह को भी एक बार उसके सामने से भागना पड़ा था। परन्तु हमीर राव के राज्य-लोभी दीवान की अज्ञानता तथा अकृतज्ञता से रणथम्भोर जैसे अजेय दुर्ग पर मुसलमानों का झण्डा फहराया।

अला उद्दीन बादशाह के मैहमाशाह नामक एक मुसलमान दरबारी से एक अपराध बन पड़ा। बादशाह ने इस अपराध की खबर पाते ही उसे प्राण-दण्ड की आज्ञा दे दी। मैहमाशाह को इस कठोर आज्ञा की सूचना पहले मिल चुकी थी। इस लिए उसने भाग कर शरणागत-वत्सल वीर हमीर की शरण ली।

यह सुन कर बादशाह ने हमीर को कहला भेजा कि मैं ने सुना है कि तुमने मैहमा को शरण दी है। क्या तुम को मालूम न था कि वह शाही अपराधी है? अथवा क्या तुम को मेरा प्रताप विदित नहीं है, जो तुम ने ऐसी धृष्टता की है? क्यों व्यर्थ पतङ्ग की भाँति सकुटुम्ब प्राण देने को उद्यत हुए हो? इसलिए मैहमा को मेरे पास भेज कर क्षमा-प्रार्थी बनो। नहीं तो मैं शीघ्र ही आकर तुम्हारी इस उद्दण्डता का उचित पुरस्कार दूँगा।

दूत द्वारा बादशाह के इस सन्देश को सुनते ही, वीर हमीर दूत से कड़क कर बोले—बादशाह से कह देना कि हमीर ऐसी धमकियों से डरने वाला नहीं है। मैंने उसी वंश में जन्म लिया है जिसके एक नरेश ने शहाबुद्दीन गोरी को सात बार हराया था

और उसे सात बार ही सही-सलामत छोड़ कर अपनी वीरता तथा उदारता का परिचय दिया था। क्या मैं राजपूत होकर एक शरण आए हुए मनुष्य को पकड़वा दूँ? नहीं, कभी नहीं। सूर्य पश्चिम में निकल सकता है, हिमालय फूँक से उड़ सकता है और समुद्र अपनी मर्यादा को भी लाँघ सकता है, परन्तु हमीर स्वप्न में भी एक शरणागत मनुष्य को नहीं त्याग सकता। जब तक धड़ पर मस्तक है, जब तक हाथ में कृपाण है, तब तक यदि सारे संसार की शक्तियाँ भी मिल कर लड़ें, तो भी वे मैहमा को नहीं ले सकतीं, तेरी तो हकीकत ही क्या है।

अपने दूत के मुँह से हमीर के वाक्य सुन कर बादशाह के क्रोध की आग और भी भड़क उठी। तुरन्त ही उसने एक बड़ी सेना तैयार करने की आज्ञा दे दी। सेना तैयार हो कर रणथम्भोर की ओर चल दी। स्वयं बादशाह भी अपनी फ़ौज के साथ था। कहते हैं कि लगभग दस मील तक फ़ौज की छावनी पड़ी थी। इस सेना ने दुर्ग को घेर लिया। पर अपने दुर्ग को इस तरह इतनी बड़ी फौज द्वारा घिरे हुए देख कर भी, निर्भय वीर हमीर का कलेजा जरा भी नहीं दहला, वरन् दुर्ग के ऊपर से बादशाह की विस्तृत फौज को देख कर वे बोले कि बादशाह तो एक सौदागर सा मालूम पड़ता है!

बादशाह ने समझा था कि इतनी बड़ी सेना देख कर हमीर

भयभीत हो गया होगा । ऐसा सोच कर उसने फिर एक बार अपने अपराधी को माँगा, परन्तु उसको फिर भी वही निर्भीक उत्तर मिला ।

मैहमाशाह भी बड़ा वीर पुरुष था । वह तीर चलाने में अद्वितीय वीर था । ऐसा कहा जाता है कि युद्ध आरम्भ होने के दिन की पहली रात्रि को, क़िले के ऊपर खुली छत पर, हमीर का दरबार लगा हुआ था और नाच हो रहा था । सब राजपूत आनन्द मना रहे थे । कल युद्ध होने वाला है, इसकी किसी को कुछ भी परवाह नहीं थी । एक वीर राजपूत के लिए इससे बढ़ कर आनन्द की बात और क्या हो सकती है ? उनके शास्त्र में तो लिखा है कि क्षत्रिय को युद्ध में मरने से स्वर्ग मिलता है । फिर भला लड़ाई में मरने से कौन डरेगा ? हमीर का ऐसा निर्भय ढङ्ग देख कर, अलाउद्दीन जैसे वीर मनुष्य का भी कलेजा दहल गया । उसके मुख पर निराशा के चिह्न स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगे । यह देख कर मैहमा का भाई मीर गाबरू, जो कि बादशाह की फ़ौज में था, बोला—आप इतने निराश क्यों होते हैं ? मैं अभी हमीर के रङ्ग में भङ्ग किये देता हूँ । ऐसा कह कर उसने एक थोथा तीर पातुर की एड़ी पर मारा, जिससे वह बेचारी धड़ाम से गिर पड़ी ! यह देख कर हमीर के मन में कुछ शङ्का हुई । परन्तु मैहमा ने आगे बढ़ कर कहा कि महाराज, यह काम मेरे भाई का है,

क्योंकि वह भी तीर चलाने में मेरे ही बराबर है। यदि आप आज्ञा दें तो मैं भी अपनी तीरन्दाज़ी दिखलाऊँ। बस, हमीर की आज्ञा पा कर मैहमा ने ऐसा तीर मारा, जिससे बादशाह की टोपी उड़कर अलग जा पड़ी ! यह देख कर शाह की फ़ौज में हलचल मच गई।

प्रातः काल ही वीर राजपूत प्रातःक्रिया से निवृत्त हो कर युद्ध-भूमि पर जा डटे। छान के दर्रे पर हमीर के काका रणधीर नायक ने घोर युद्ध किया। यह युद्ध बड़ा ही लोमहर्षण हुआ। दोनों ओर के बड़े बड़े वीर योद्धा रण में काम आये। पृथ्वीराज के प्रसिद्ध सामन्त, काका कान्ह, की उपमा रणधीर से दी जाती है। कहावत है कि 'जो काका कनवज करो, सो छानि करो रणधीर, कहते हैं कि रणधीर पाँच वर्ष लड़ कर वीर-गति को प्राप्त हुआ।

अब छान के दर्रे को विजय करके बादशाह की फ़ौज क़िले की ओर बढ़ी। वहाँ भी बहुत दिनों तक घमसान युद्ध होता रहा। बादशाह ने क़िला विजय करने के अनेक उपाय किए, परन्तु स्वदेश और स्वजाति-प्रेमी वीर राजपूतों के सामने उसका एक भी दाँव न चला। अन्त में विश्वासघाती, अकृतज्ञ, दुष्ट सुरजन नामक हमीर का दीवान (मन्त्री) राज्य के लोभ में आकर बादशाह से जा मिला और उसने प्रतिज्ञा की

कि मैं दुर्ग को फ़तह करवा दूँगा। वीर राजपूत अपनी विजय के लिये जी तोड़ कर लड़ रहे थे। उन्हें दुष्ट सुरजन की दुष्टता की कुछ भी ख़बर न थी। उस समय मन्त्री ने आकर हमीर से कहा— महाराज, दुर्ग की भोज्य-सामग्री समाप्त हो गई है। 'जोरा-भोंरा' नामक खास खाली हो गये हैं। अब सामग्री एकत्र करना दुस्साध्य है। यह सुनते ही वीर हमीर के ऊपर वज्रपात सा हो गया। वह अवाक् रह गया। सरल-हृदय हमीर उसकी दुष्टता न समझ सका।

रात्रि को एक दरबार किया गया और सब सरदारों की राय पूछी गई। क़िले में बन्द हो कर भूखों मरना वीर-हृदय राजपूतों को कब पसन्द आ सकता था। और अधीनता स्वीकार करना तो उनका अपना गला घोंटना था। सब ने एकमति होकर जौहर करने की सम्मति दी। इस समय इस प्रकार हमीर को सङ्कट में देख, मैहमाशाह बोला—महाराज, आप चिन्ता न करें। यह सब लड़ाई मेरे पीछे है। मुझे बादशाह के हवाले कर दीजिये। यह सुनकर हमीर बोले—यह कभी नहीं हो सकता कि मैं राज-पूत और राजा हो कर एक शरण आये हुए मनुष्य को वचन दे कर पकड़ा दूँ। धिक्कार है मुझे और मेरी माता को, यदि मैं ऐसा विचार भी करूँ! जब तक शरीर में प्राण है तब तक तुझे प्राणों से अधिक मानता हूँ।

यह कहकर वीर हमीर महलों में चले गये और अपनी वीर पत्नी से बोले—प्रिये! क़िले की भोज्य-सामग्री समाप्त हो गई। अब क्या करना चाहिए? मैहमा को पकड़वा कर अधीनता स्वीकार करूँ या क़िले के बाहर हो कर युद्ध करूँ?

यह सुनते ही रानी अपने पति को वीर वाक्यों से उत्साहित करती हुई बोली—महाराज क्या शरण आए हुए मनुष्य को आप पकड़ा देंगे? क्या आप पवित्र राजपूत कुल में कलङ्क लगावेंगे? क्या आप वीर मनुष्य हो कर प्राणों के लोभ से राजपूतों के स्वाभाविक गुण शरणागत वत्सलता को इस प्रकार तिलाञ्जली दे देंगे? कभी नहीं। महाराज ऐसा कभी विचार भी न कीजिए। हम लोग भी जल कर आप से स्वर्ग में मिलेंगी। बस, अब सोच-विचार का काम नहीं।

रानी के ऐसे वीर वाक्य सुन कर हमीर बोले—मुझे तुम से ऐसी ही आशा थी।

प्रातःकाल होते ही वीर राजपूत अन्तिम युद्ध के लिए सज्जित होने लगे। सब ने स्नान-सन्ध्यादि करके केसरिया वस्त्र धारण किए और मस्तक पर केसर का त्रिपुण्ड लगाया। हमीर को उनकी रानी ने स्वयं अपने हाथों से युद्ध के साजों से सज्जित करके उनकी आरती की। अब वह प्रेम-भरी आँखों से अपने पति का अन्तिम दर्शन करने लगी। इतने में लड़ाई के नगाड़े का घनघोर शब्द सुन पड़ा!

नगाड़े के शब्द की ध्वनि राजपूत वीरों की विकट गर्जना से प्रतिध्वनित होने लगी। अब विलम्ब का समय न देख, रानी से अन्तिम भेंट कर और बादशाही सेना को क़िले की ओर बढ़ते देख, जौहर करने का उपदेश दे, वे बहुत शीघ्र महलों से बाहर आए। उनके दृष्टिगोचर होते ही सेना ने विकट गर्जना करके 'हमीरराव की जय' का उच्चारण करके उनका स्वागत किया।

बस, अपनी सेना को शब्दों द्वारा उत्तेजित करके वे रण-भूमि में जा डटे। दोनों सेनाओं के आमने-सामने होते ही घोर घमासान युद्ध आरम्भ हो गया। वीर पुरुष अपने खड्गों को शत्रुओं का रुधिर-पान कराने लगे। वीर हमीर भी शाही सेना को मथन करने लगा। कई बार उसने बादशाह के हाथी की ओर रुख़ किया, परन्तु कृतकार्य न हो सका। अन्त में बादशाह का हठ टूट गया और राजपूतों की सच्ची वीरता के सामने मुसलमान लोग न ठहर सके और धीरे धीरे पीछे हटने लगे। राजपूत वीर भी उत्साहित हो बड़ी वीरता से लड़ने लगे। अब मुसलमान लोग उनके सामने न डट सके और बची हुई सेना के साथ बादशाह भाग निकला। हमीर के सैनिकों ने बादशाह से शाही निशान छीन लिए। आनन्द में मग्न होते, जीते हुए निशानों को सेना के आगे किए हमीर लौटे।

मुसलमानों के निशानों को दूर से आते देख क़िले के विश्वास-

पात्र सेवकों ने समझा कि बादशाह की विजय हुई। राजपूत रमणियों ने यह सुनते ही मुसलमानों से अपनी प्रतिष्ठा बचाने के लिये धधकती हुई अग्नि में प्रवेश किया। देखते ही देखते अगणित रूप-लावण्य-मयी ललनाएँ जल कर राख का ढेर हो गईं।

जब वीर हमीर ने क़िले के पास पहुँच कर यह हृदयविदारक शोक-संवाद सुना, जो कि उनके सैनिकों की असावधानी के कारण संघटित हुआ था, तब वे शोक से विह्वल हो गए। जब शोक कुछ कम हुआ, तब वे इसे दैव का कर्त्तव्य मान कर बोले—अब ईश्वर की यही इच्छा है कि पवित्र भारत में मुसलमानों का राज्य हो! अब कुटुम्ब-रहित होकर संसार में रहने से तो मरना ही श्रेष्ठ है। यह कह कर उन्होंने अपने खड्ग से अपना मस्तक काट शिव जी को चढ़ा दिया।

सुरजन ने बादशाह को यह ख़बर दी। इसके सुनते ही वह लौट आया। राजपूतों ने अन्त तक उसका सामना किया, पर बिना स्वामी के वे कब तक लड़ते! अन्त में बादशाह की विजय हुई और मनुष्य-रहित दुर्ग पर उसने अपना अधिकार जमाया। मैहमा शाह ने भी लड़ाई में वीरता से प्राण त्यागे। इस प्रकार गढ़-रणथम्भोर सदा के लिए शून्य हो गया।

परन्तु वीर हमीर ने अपने प्राण दे कर भी शरणागत वत्सलता का व्रत पाला और राजा शिवि की भाँति अपनी कीर्ति

अटल कर गये। हमीर की दृढ़ता वर्णन करते हुये किसी कवि ने कहा है—

> सिंह-गमन, सत्पुरुष-वचन, कदलि फरै इक बार
> तिरिया-तेल, हमीर-हठ, चढ़ै न दूजी बार ॥

आज तक यह दोहा बड़े ही आदर के साथ हमीर का नाम स्मरण कराता है।

—कुँवर नारायण सिंह
"भारतीय आत्मत्याग" से

४२

हिन्दी साहित्य और मुसलमान कवि

सभी देशों के इतिहास में भिन्न-भिन्न जातियों के पारस्परिक सङ्घर्षण के उदाहरण मिलते हैं। उन से यही सिद्ध होता है कि ऐसे ही सङ्घर्षण से सभ्यता का विकास होता है। भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न अवस्थाओं के कारण विभिन्न जातियों के विभिन्न आदर्श होते हैं। जब एक जाति का दूसरी जाति के साथ मिलन होता है तब उसका सामाजिक जीवन जटिल होता है, पर इसी जटिलता से सभ्यता का विकास होता है। दो जातियों में परस्पर भिन्नता रहनी चाहिए। परन्तु जब उन्हें एक ही स्थान में रहना पड़ता है तब विवश होकर उन्हें कोई एक ऐसा सम्बन्ध-

सूत्र खोजना पड़ता है जिस से उस भिन्नता में भी एकता स्थापित हो जाय। यही सत्य का अन्वेषण है, बहु में एक और व्यष्टि में समष्टि।

भारतवर्ष के इतिहास में महत्वपूर्ण घटना भिन्न भिन्न जातियों का पारस्परिक सम्मिलिन है। अन्य देशों की अपेक्षा भारत में जाति-प्रेम की समस्या अधिक कठिन थी। योरप में जिन जातियों का संम्मिलन हुआ है उनमें इतनी विषमता नहीं थी। उनमें से अधिकांश की उत्पत्ति एक ही शाखा से हुई थी। इसमें सन्देह नहीं कि उनमें जाति-गत विद्वेष और विरोध की मात्रा कम नहीं थी तो भी कदाचित् उनमें वर्ण-भेद नहीं था। यही कारण है कि इँग्लेंड में सैक्सन और नार्मन जातियों में इतना शीघ्र मिलाप हो गया। सच तो यही है कि सभी पाश्चात्य जातियों में वर्ण और शारीरिक गठन की समता है। यही नहीं, किन्तु उनके आदर्शों में भी अधिक भेद नहीं है। इसी लिए उनके पारस्परिक संम्मिलन में बाधा नहीं आती। परन्तु भारतवर्ष की यह दशा नहीं है। प्राचीन काल में श्वेतांग आर्यों का कृष्णकाय आदिम निवासियों से मिलाप हुआ। फिर द्राविड़ जाति से उनका संघर्षण हुआ। उस समय द्राविड़ जाति भी सभ्य थी और उनका आचार-व्यवहार आर्यों के आचार-व्यवहार से सर्वथा भिन्न था। यह विषमता दूर करने के लिए तीन ही उपाय थे। एक तो यह कि इन जातियों

का नाश ही कर दिया जाय। दूसरा यह कि इन्हें वशीभूत कर उन पर अपनी सभ्यता का प्रभाव डाला जाय। और तीसरा यह कि एक ऐसे बृहत् सत्य का आविष्कार किया जाय जहाँ किसी भी प्रकार की भिन्नता नहीं रह सकती। भारतीय आर्यों ने इस तीसरे उपाय का अवलम्बन किया। भारतवर्ष के इतिहास में जिन महापुरुषों का नाम अग्रगण्य है, उन्होंने यही कार्य किया है। भगवान् बुद्ध ने विश्व-मैत्री की शिक्षा देकर भारत के राष्ट्रीय जीवन में एकता का प्रचार किया। जब भारत पर मुसलमानों का आक्रमण हुआ तब देश में एक नए आन्दोलन का जन्म हुआ। उस आन्दोलन का उद्देश्य था जातीय और धार्मिक विरोध को भूल कर नारायण के प्रेम में सभी नरों को भ्रातृरूप से ग्रहण करना। हिन्दी-साहित्य पर इस आन्दोलन का जो प्रभाव पड़ा उसी की चर्चा यहाँ की जाती है।

भारत पर मुसलमानों का आधिपत्य सहसा स्थापित नहीं हो गया। समस्त हिन्दू जाति ने—विशेषकर राजपूतों और मरहठों ने—बड़ी दृढ़ता से उनका आक्रमण रोका था। मुसलमानों का पहला आक्रमण सन् ६६४ ईसवी में हुआ। उस समय मुसलमान मुलतान तक ही आकर लौट गए। उनका दूसरा आक्रमण सन् ७७१ में हुआ। तब उन्होंने सिन्धु-देश पर अधिकार कर लिया था। परन्तु कुछ समय के बाद राजपूतों ने उनको वहाँ से

हटा दिया। इसके बाद महमूद ग़ज़नवी का आक्रमण हुआ। उस समय भी मुसलमानों का प्रभुत्व यहाँ स्थापित नहीं हुआ। सन् ११६३ से मुसलमानों का शासन-युग प्रारम्भ हुआ। उत्तर भारत में उनका साम्राज्य स्थापित हो जाने पर भी दक्षिण में हिन्दू-साम्राज्य बना रहा। विजयनगर का पतन होने पर कुछ समय के लिए समग्र भारत पर से हिन्दू-साम्राज्य का लोप हो गया। परन्तु सत्रहवीं सदी में मरहठे प्रबल हुए, और अन्त में उन्होंने फिर हिन्दू-साम्राज्य की स्थापना की। इसी समय अँगरेज़ों का प्रभुत्व बढ़ा और कुछ ही समय में हिन्दू और मुसलमान दोनों को अँगरेज़ों का आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा।

यद्यपि भारतवर्ष में मुसलमानों का साम्राज्य सन् ११६३ से प्रारम्भ होता है, तथापि कितने ही मुसलमान साधक और फ़क़ीर इन आक्रमणकारियों के पहले ही यहाँ आ चुके थे। आठवीं सदी में जब मुसलमानों ने भारत का एक भाग विजय कर लिया तब तो हिन्दुओं और मुसलमानों में घनिष्ठता हो गई। उस समय मुसलमानों का अभ्युदय बढ़ रहा था। बग़दाद विद्या का केन्द्र हो गया था। कितने ही भारतीय विद्वान् ख़लीफ़ा के दरबार तक जा पहुँचे। वहाँ उन लोगों की बदौलत संस्कृत के कितने ही ग्रन्थों का अनुवाद अरबी भाषा में हुआ। भारत में मुसलमानों ने केवल अपनी प्रभुता ही स्थापित नहीं की किन्तु अपने धर्म का भी प्रचार किया।

तभी हिन्दू और मुसलमान का विरोध आरम्भ हुआ। इस विरोध को दूर करने का सब से अधिक प्रयत्न किया कबीर ने। कबीर ने देखा कि भारतवर्ष में हिन्दू और मुसलमानों का विरोध बिलकुल अस्वाभाविक है।

कोइ हिन्दू कोइ तुरुक कहावै एक जमीं पर रहिए।
वही महादेव वही मुहम्मद ब्रह्मा आदम कहिए॥
वेद किताब पढ़ैं वे कुतवा मौलाना वे पांडे।
विगत विगत के नाम धरायो यक माटी के भांडे॥

कबीर हिन्दू और मुसलमान दोनों का हाथ पकड़ कर एक ही पथ पर ले जाना चाहते थे। परन्तु दोनों इस का विरोध करते थे। कबीर को उनकी इस मूढ़ता—इस धर्मान्धता—पर आश्चर्य होता था। उन्होंने देखा कि इस विरोधाग्नि में पड़ कर दोनों नष्ट हो जावेंगे।

साधो देखो जग बौराना।
साँच कहो तो मारन धावे झूठे जग पतियाना।
हिन्दू कहत हैं राम हमारा, मुसलमान रहिमाना॥
आपस में दोउ लरि लरि मूए मरम न काहू जाना।
हिन्दू की दया मेहर तुरकन की, दोनों घट सों त्यागी॥
वैं हलाल वैं झटका मारैं, आग दोऊ घर लागी।
या विधि हँसत चलत हैं हम को आप कहावे स्याना।

कहें कबीर सुनो भई साधो, इन में कौन दिवाना ॥

स्वदेश की कल्याण-कामना से प्रेरित हो कबीर उस पथ को खोज निकालना चाहते थे, जिस पर हिन्दू और मुसलमान दोनों चल कर आत्मोन्नति कर सकें। परन्तु हिन्दू एक ओर जा रहे थे तो मुसलमान ठीक उसके विपरीत जा रहे थे। कबीर ने उनको चेतावनी दी—

अरे इन दुहु राह न पाई।
हिन्दू की हिन्दुवाई देखी तुरकन की तुरकाई।
कहें कबीर सुनो भई साधो कौन राह ह्वै जाई ॥

इसी लिए कबीर ने हिन्दू की हिन्दुवाई और तुर्क की तुरकाई दोनों को छोड़ दिया। उन्हों ने केवल मनुष्यत्व को ग्रहण किया—

हिन्दू कहूँ तो मैं नहीं मुसलमान भी नाहिं।

उन्होंने दोनों को एक ही दृष्टि से देखा—

सम दृष्टी सतगुरु किया मेटा भरम विकार।
जहँ देखौं तहँ एक ही साहेब का दीदार ॥
सम दृष्टी तब जानिए सीतल समता होय।
सब जीवन की आतमा लखें एक सी सोय ॥

कबीर का प्रयास व्यर्थ नहीं हुआ। हिन्दू और मुसलमान सम्मिलन की ओर अग्रसर हुए। भाषा के क्षेत्र में इनका सम्मिलन बहुत पहले हो चुका था। अमीर खुसरो ने इस एकता की नींव को

दृढ़ किया। हिन्दी में काग़ज़-पत्र, शादी-ब्याह, ख़त-पत्र आदि शब्द उसी सम्मिलन के सूचक हैं। इस के बाद जायसी ने मुसलमानों को हिन्दी-साहित्य में सौंदर्य का दर्शन कराया।

तुरकी अरबी हिन्दवी भाषा जेती आहि।
जामें मारग प्रेम का सबै सराहै ताहि॥

मलिक मुहम्मद जायसी कवि ही नहीं थे, साधक भी थे। हिन्दू और मुसलमान दोनों उनकी पूजा करते थे। कितने ही लोग उनके शिष्य थे। अतएव यह कहना नहीं होगा कि हिन्दी-भाषा में रचना कर उन्होंने मुसलमानों को हिन्दू-जाति से प्रेम करने की शिक्षा दी। जायसी के धार्मिक विचारों का आभास उनके अखरावट से मिलता है। अपने धर्म पर अविचल रह कर भी कोई दूसरे के धर्म को श्रद्धा की दृष्टि से देख सकता है। यही नहीं, उनका भी धर्म ईश्वर-प्रदत्त है। अतएव वे हमारी घृणा के पात्र नहीं हैं।

तिन्ह सन्तति उपराजा भाँतिहि भाँति कुलीन।
हिन्दू तुरक दुनउ भए अपने अपने दीन।

जायसी ने जो शिक्षाएँ दी हैं उनमें ऐसी कोई शिक्षा नहीं है जिसे कोई हिन्दू स्वीकार न कर सके। ईश्वर की सर्वव्यापकता पर उन्होंने कहा है—

जस तन तस यह धरती जस मन तइस अकास।
परम हंस तेहि मानस जइस फूल मँह बास॥

जो उनका दर्शन करना चाहते हैं उन्हें अपने हृदय को सदैव स्वच्छ रखना चाहिए—

तन दरपन कहँ साज दरसन देखा जो चहइ।
मन सों लीजइ माँज, महमद निरमल होम किया॥

उन्होंने एकत्ववाद की सदैव शिक्षा दी है—

एक कहत दुइ होय दुइ से राज न चलि सकइ
बीच तें आपहु खोय महमद एकाग्र होइ रहइ॥

भोग्य और भोक्ता में भी उन्होंने कोई भिन्नता नहीं देखी है—

सबइ जगत दरपन कइ लेखा,
आपुहि दरपन आपहु देखा।
आपुहि बन अउ आपु पखेरू,
आपुहि सउजा आप अहेरू॥
आपुहि पुहुप फूल-गति फूले,
आपुहि भँवर बास-रस भूले।
आपुहि फल आपुहि रखवारा,
आपुहि सो रस चाखन हारा।
आपुहि घट घट मँह मुख चाहइ,
आपुहि आपन रूप सराहइ
आपुहि कागद आपु मसि आपुहि लिखन हार।
आपुहि लिखनी अखर आपुहि पँडित अपार॥

जिस आन्दोलन के प्रवर्तक कबीर थे उसकी पुष्टि जायसी के समान मुसलमान साधकों और फ़क़ीरों ने की। भारत में राजकीय सत्ता स्थापित करने के लिए हिन्दू और मुसलमान दोनों प्रयत्न करते रहे। परन्तु देश में दोनों का स्थान निर्दिष्ट हो चुका था। भारत से मुसलमानों का उतना ही सम्बन्ध हो गया जितना हिन्दुओं का। प्रतिद्वन्द्वी होने पर भी इन दोनों के धर्मों का प्रवेश भारतीय सभ्यता में हो गया। हिन्दी और फ़ारसी से उर्दू की सृष्टि हुई। उसी प्रकार हिन्दू और मुसलमान की कला ने मध्य युग में एक नवीन भारतीय कला की सृष्टि की। देश में शान्ति भी स्थापित हुई। कृषकों का कार्य निर्विघ्न हो गया। व्यवसाय और वाणिज्य की वृद्धि होने लगी। देश में नवीन भाव का यथेष्ट प्रचार हो गया। अकबर के राजत्व-काल में जिस साहित्य और कला की सृष्टि हुई उस में हिन्दू और मुसलमान का व्यवधान नहीं था। अकबर के महामंत्री अबुल फ़ज़ल ने एक हिन्दू-मंदिर के लिए जो लेख उत्कीर्ण कराया था उसका भावार्थ यह है—हे ईश्वर सभी देव-मंदिरों में मनुष्य तुम्हीं को खोजते हैं, सभी भाषाओं में मनुष्य तुम्हीं को पुकारते हैं। विश्व-ब्रह्मवाद तुम्हीं हो और मुसलमान-धर्म भी तुम्हीं हो। सभी धर्म एक ही बात कहते हैं कि तुम एक हो, तुम अद्वितीय हो। मुसलमान मसजिदों में तुम्हारी प्रार्थना करते हैं और ईसाई गिर्जा-घरों में तुम्हारे लिए

घंटा बजाते हैं। एक दिन मैं मसजिद जाता हूं और एक दिन गिर्जा। पर मन्दिर-मन्दिर में मैं तुम्हीं को खोजता हूं। तुम्हारे शिष्यों के लिए सत्य न तो प्राचीन है और नवीन। अबुल फ़ज़ल का यह उद्गार मध्ययुग का नवीन सन्देश था। हिन्दी में सूरदास और तुलसीदास ने अपने युग की इसी भावना से प्रेरित हो मनुष्य जीवन में श्रेष्ठ आदर्श दिखलाया। उसी भाव को ग्रहण कर मुसलमानों में रहीम ने कविता लिखी। निम्नलिखित पद्यों से प्रकट हो जाता है कि रहीम ने हिन्दू भाव को कितना अपना लिया था।

अनुचित बचन न मानिए जदपि गुराइस गाढ़ि।
है रहीम रघुनाथ ते सुजस भरत को बाढ़ि॥
कमला थिर न रहीम कहि, यह जानत सब कोय।
पुरुष पुरातन की बधू, क्यों न चंचला होय॥
गहि सरनागति राम की भवसागर की नाव।
रहिमन जगत उधार कर और न कछू उपाव॥
जो रहीम करिबो हुतो ब्रज को इहै हवाल।
तो काहे कर पर धरयो गोवर्धन गोपाल॥

मुग़लों के शासन-काल में हिन्दी-साहित्य की जो श्री-वृद्धि हुई उसका कारण यही है कि उस समय मुसलमान भारत को स्वदेश समझने लगे थे। न तो हिन्दुओं ने तत्कालीन राजभाषा

की उपेक्षा की और न मुसलमानों ने हिन्दू-साहित्य की। उस समय वैष्णव-सम्प्रदाय के आचार्यों ने धार्मिक विरोध को हटाने की चेष्टा की। कितने ही मुसलमान साधक श्रीकृष्ण के उपासक हो गए। इनमें रसखान की भक्ति ने हिन्दी में रस की धारा बहा दी है। उनका निम्नलिखित पद्य बड़ा प्रसिद्ध है—

मानुस हो तो वही रसखान बसौं मिलि गोकुल गोप गुवारन।
जो पशु होउँ कहा बसु मेरो चरौं नित नंद की धेनु मझारन।
पाहन हों तो वही गिरि को जु कियो ब्रज छत्र पुरन्दर कारन।
जो खग होउँ बसेरो करौं वही कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन।

मुसलमानों के लिए यह प्रेम कम साहस का काम नहीं था। ताज का यह कथन सर्वथा उचित था।—

सुनौ दिलजानी मेड़े दिल की कहानी तुम
इस्म की बिकानी बदनामी भी सहूँगी मैं।
देव पूजा ठानी मैं निवाज हू भुलानी तजे
कलमा .कुरान सारे गुनन गहूँगी मैं।
श्यामला सलोना सिरनताज सिर कुल्लेदार
तेरे नेह दाग़ मैं निदाघ ह्वै दहूँगी मैं।
नन्द के कुमार कुरबान ताणी सूरत पै
तांण नाल प्यारे हिन्दुवानी वै रहूँगी मैं।

इसी प्रेम से प्रेरित हो कितने ही मुसलमान कवियों ने

हिन्दी-साहित्य को अपनी रचनाओं से अलंकृत किया है।

राजनीति के क्षेत्र में हिन्दू और मुसलमान जाति का विरोध दूर नहीं हुआ। समाज के क्षेत्र में भी दोनों का संघर्षण बना रहा। तो भी साहित्य के क्षेत्र में दोनों ने सत्य को ग्रहण करने में सङ्कोच नहीं किया। इसी चिरन्तन सत्य के आधार पर—इसी ऐक्य-मूलक आध्यात्मिक आदर्श की भित्ति पर—भारत ने अपनी जातीयता की स्थापना की है। इसी जातीयता में सभी जातियाँ अपने अस्तित्व को स्थिर रख सकती हैं। इसमें सम्मिलित होने के लिए हिन्दू ने अपना हिन्दुत्व नहीं छोड़ा और न मुसलमानों ने अपना धार्मिक और सामाजिक संस्कार परित्याग किया। परन्तु इन दोनों का मिलन अनन्त सत्य के मंदिर में हुआ, जहाँ बाह्य आचार-व्यवहार और कृत्रिम जाति-भेद के बंधन से मनुष्य-जाति की एकता भिन्न नहीं होती। यह एकता काल्पनिक नहीं है। यह हिन्दू और मुसलमान के जीवन में अभी तक काम कर रही है। सत्य की सीमा सङ्कुचित कर देने से ही इनमें परस्पर विरोध होता है। ईश्वर में ही सभी विरोधों का मिलन होता है। इस लिए उसी को अपना लक्ष्य मानकर भारत ने अपनी जातीयता की सृष्टि की है। यहाँ एक ओर समाज में आचार-विचार की रचना होती आई है और दूसरी ओर मनुष्य की एकता को लोग स्वीकार करते आए हैं। एक ओर भिन्न-भिन्न वर्णों में एक ही

पंक्ति में बैठ कर खाने-पीने तक का निषेध किया गया है और दूसरी ओर आत्मवत् सर्वभूतेषु की शिक्षा दी गई है। आधुनिक युग में जाति-भेद की जो समस्या उपस्थित हो गई है उसके संम्बन्ध में रवीन्द्र बाबू ने बिलकुल ठीक लिखा है कि आजकल जाति-विद्वेष खूब बढ़ गया है। सभ्य जाति अपनी शक्ति के मद से उन्मत्त हो निर्बल जातियों पर अत्याचार करने पर सङ्कोच नहीं करती। अभी मनुष्यत्व का विचार उनके लिए उपहासास्पद है। परन्तु जब जातीय स्वातन्त्र्य, परजाति-विद्वेष और स्वार्थ-सिद्धि का बीभत्स रूप दृष्टिगोचर होने लगेगा, तब मनुष्य यह समझेगा कि मनुष्य की यथार्थ मुक्ति किसमें है। नर में नारायण को उपलब्ध करने में ही उसकी मुक्ति है, इसी में उसका कल्याण है। इसके लिए अधिक तर्क करने की आवश्यकता नहीं।

बिन्दु मों सिंधु समान, को अचरज का सों कहै।
हेरनहार हेरान, रहिमन अपने आपतें॥

—हरिवल्लभ जोशी

४३

महाभारत *

लेखक—श्रीयुत सूर्य कुमार वर्मा

अँधेरी रात है। पृथ्वी से लेकर आकाश तक अँधेरा ही अँधेरा छाया है। एक शिविर में एक चिराग़ टिमटिमा रहा है। वहाँ एक स्त्री बैठी हुई है। उसकी आँखें रोते रोते सूज गई हैं। गालों पर सूखे हुए आँसुओं के चिन्ह दिखाई पड़ते हैं। वह अपना बायाँ हाथ गाल पर रक्खे बैठी है। उस के केश धूल के कारण मलिन हो

---

* यह निबन्ध बंगाल के सुप्रसिद्ध लेखक श्रीयुत नवीन चन्द्र सेन के कुरुक्षेत्र नामक काव्य के सत्रहवें सर्ग के आधार पर लिखा गया है।

रहे हैं और लटें छूट रही हैं। वह बैठी बैठी मन ही मन कुछ सोच रही है। उसकी गोद में मूर्च्छित हुई एक तरुण स्त्री पड़ी है। दुःख के कारण उस के सिर के आधे बाल सफ़ेद हो गए हैं। उसकी आँखें भीतर बैठ गई हैं और उसका शरीर सूख गया है। बहुत देर तक वह तरुण स्त्री यों ही उसकी गोद में पड़ी रही। पश्चात् उसने अपनी आँखें खोलीं। पागल मनुष्य के समान उसने उस दूसरी स्त्री की ओर देख कर उससे पूछा—'मैं कौन हूँ ?'

'बेटा, तुम उत्तरा।'

'उत्तरा कौन ?'

'उत्तरा विराट् राजा की कन्या।'

'उत्तरा ! मैं उत्तरा ? विराट् राजा की कन्या ?' विस्मयपूर्वक उसने यह कहा। पास ही रक्खे हुए आयने की ओर देखकर उस ने फिर पूछा—'यह यहाँ पर कौन बैठा है ?'

उसके पागलों के समान किए हुए प्रश्नों को सुन कर उस दूसरी स्त्री का हृदय भर आया। उसने कहा, "बेटा ! कोई नहीं। उस आयने में अपना ही प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है।'

'उत्तरा ! मैं उत्तरा ? यह उत्तरा का प्रतिबिम्ब ? उत्तरा के बाल इतने सफ़ेद ? यह मुँह, यह आँखें उत्तरा की ?'

उस तापसी स्त्री की आँखों में आँसू भर आए। छः दिन के दारुण शोक से उत्तरा के बाल सफ़ेद हो गये थे।

'तुम कौन ?'

'मैं वनबाला शैलजा।'

'हिं, हिं, तू स्वप्न की देवी है। मैंने स्वप्न में देखा कि मैं पूर्णचन्द्र के वक्षस्थल पर से अन्धकारमय पाताल के कठिन पत्थरों पर जा पड़ी हूँ। मेरा शरीर चूर चूर हो गया है। हृदय छिन्न भिन्न हो गया है। वहाँ पर नारायण की करुणामय मूर्ति आविर्भूत हुई। पाताल निर्मल तेज से प्रकाशित हो गया। उन्होंने मुझे संजीवनी सुधा देकर एक देवी की गोद में बैठा दिया। क्या तू उसी स्वप्न की देवी है? यह पुण्यभूमि कौन सी है? यह स्वप्न-राज्य है अथवा देव-राज्य ?'

शैलजा ने कहा—"बेटा! तुम शिविर में हो?"

"शिविर में? कहाँ के शिविर में?"

'कुरुक्षेत्र के शिविर में।'

यह सुन कर उत्तरा क्षण भर टकटकी लगाए देखती रही। कृष्ण पक्ष के अन्धकार में जिस तरह क्षीण हुए चन्द्रमा की कोर दिखाई देती है उसी प्रकार उत्तरा के मन में धीरे धीरे पीछे की बातों का स्मरण होने लगा। पितृगृह, नाट्यालय, बृहन्नला, उत्तर-गोग्रहण समय की जय, विवाह, छः महीने तक भोग किया हुआ सुख-स्वप्न, कुरुक्षेत्र का महा रण, वहाँ का शिविर, चक्र-व्यूह, मृत-पति के दर्शन और पश्चात् अन्धकार—इन सब बातों

का उसे फिर एक बारगी स्मरण हो आया। उसका शोकानल पुनः प्रदीप्त हो गया। परन्तु शोक के तीव्र सन्ताप के कारण उसकी आँखों का पानी—आँसू—बिलकुल सूख गया था। उसने शैलजा के वक्षस्थल पर अपना मुख रख दिया। सूखे हुए कमल के पत्ते पर जिस प्रकार पानी की बूँदें पड़ जाती हैं उसी प्रकार शैलजा की आँखों से दो गरम गरम आँसुओं की बूँदें उसके मुख पर जा पड़ीं। उत्तरा ने पूछा—'तुम रोती क्यों हो? अभिमन्यु की वनमाता क्या तुम्हीं हो?'

शैलजा ने कहा:—'हाँ, मैं ही उसकी वन-माता हूँ।'

'कल रात को उन्होंने तुम्हारी बाबत मुझ से बातें की थीं। उनकी इच्छा थी कि युद्ध समाप्त होने के पश्चात् मुझे साथ लेकर वन में तुम्हारे स्नेहमय निवास-स्थान में जाकर तुम्हारे दर्शन करें। कल हम दोनों कल्पना का मनोराज्य कर रहे थे। परन्तु मुझे क्या मालूम था कि मुझ हतभागिनी को इस दशा में तुम्हारी ही गोद में स्थान मिलेगा।'

शैलजा ने शोक से दुखित होकर कहा—'अभिमन्यु ने अपनी प्रतिमूर्ति तुम्हारे पुण्य गर्भ में स्थापन करदी है। तुम बालक को हृदय में लगाकर मेरे आश्रम पर वन में आओगी। उस छोटे से बालक—अभिमन्यु—के वन में खेल तमाशे हम तुम दोनों देखेंगे। गृह-भूमि और वन-भूमि दोनों को प्रेम-बन्धन

से बाँध कर स्वधर्म राज्य की स्थापना करेंगे। तुम्हारे बालक को सिंहासन पर बिठाऊँगी और तुम मेरी राज्य-लक्ष्मी होगी। बालक का मुख देख कर, प्रजा को सुखी जान कर तुम्हारा दुःख दूर होगा।'

उत्तरा ने एक लम्बी साँस ली और कहा:—'सूर्य अस्त होने पश्चात क्या दिन बाक़ी रहेगा ? चन्द्रमा के चले जाने पर क्या चाँदनी रह सकती है ? वृक्ष के भस्म होने पर उसकी छाया बनी रह सकती है ? जलाशय के सूख जाने पर क्या नलिनी वहाँ बनी रह सकती है ? कुरुक्षेत्र रूपी बादल में उत्तरा का आश्रयभूत वृक्ष उखड़ गया है—फिर इस लता की पीछे क्या दशा होगी ? मुझे इस समय तुम इतना ही आशीर्वाद दो कि उसका फल माता सुभद्रा, सुलोचना और शैलजा इन को स्वाधीन करके मैं अपने वृक्ष के पाद-मूल के समीप अपना प्राण समर्पण करूँ।'

कुछ देर तक स्तब्ध रह कर उत्तरा ने फिर कहा—'इस कुरुक्षेत्र में मुझ सरीखी कितनी ही उत्तराओं का भाग्य फूटेगा यह कहा नहीं जा सकता।'

'युद्ध समाप्त होगया है।'

'समाप्त !' उत्तरा आश्चर्य-पूर्वक पूछने लगी।

शैलजा ने कहा:—'हाँ, समाप्त हो गया। जगत् की महाज्वाला शान्त होगई। क्षत्रिय-वन को भस्म करके अधर्मरूपी अग्नि

ठण्डी होगई ! अर्जुन का वीर्यानल करुणाजल से सिंचित होने के कारण कुछ काम नहीं देता था; परन्तु कौरवों के अभिमन्यु का वध करने के पश्चात् उन्होंने ज्वालामुखी पर्वत के समान अपना उग्र रूप धारण किया। द्रोणाचार्य मारे गए। उनके दो दिन बाद कर्ण का भी अन्त हुआ। कर्ण ने युद्ध नहीं किया, परन्तु शिशुहत्या के पाप के कारण उन्होंने अपना प्राण विसर्जन किया। एक ही दिन के युद्ध में शल्य और दुर्योधन मारे गए। भारत-भूमि को श्मशान करके कल के दिन अधर्म का दिया गुल हो गया। कौरवों में से कृप, कृतवर्मा और द्रोण-पुत्र—इतने ही बाक़ी बचे।'

'पाण्डव और नारायण ?'

'सब प्रसन्न हैं। अन्त को धर्म की ही जय हुई।'

'माता सुभद्रा ?'

'वे तो साक्षात् देवी हैं। उनका अमंगल कैसे होगा ?'

'और सुलोचना ?'

शैलजा चुप हो रही। उत्तरा ने शोक से व्याकुल होकर फिर पूछा—'माता ! क्या तू भी उत्तरा को छोड़ गई ? ख़ैर, मेरे पिता और भ्राता तो कुशलपूर्वक हैं न ?'

शैलजा फिर ज्यों की त्यों चुप चाप बैठी रही। उत्तरा की आँखों में आँसुओं की एक भी बूँद नहीं निकली, न उसके मुख का कुछ रंग बिगड़ा। भयंकर विष यदि एक बार खाकर पचा

लिया तो फिर छोटे मोटे विषों की क्या गणना ? फिर उत्तरा ने पूछा—'तो क्या उत्तरा के मैके के सब लोग नष्ट हो गए ? क्या हमारे बाबा, दादा सब मुझ अभागिनी को अकेला छोड़ कर चले गए ? सब लोग चले गए परन्तु मेरा हृदय विदीर्ण न हुआ ! छः दिन तक मैं मूर्च्छित—बेहोश—पड़ी रही, परन्तु तो भी मेरे प्राण न निकले !'

शैलजा ने कहा—'वत्स ! तुम्हारे जीने की किसको आशा थी ? परन्तु कृष्ण ने योगस्थ होकर तुम्हें पुनर्जन्म दिया।'

'दयामय कृष्ण ने इस अनाथ—सूखी हुई लता को—क्यों बचाया ? अग्नि में क्यों न झोंक दिया ?'

'वत्स ! तू कुरुकुल की लक्ष्मी है। कुरुकुल का आधार होने वाला एकमात्र अंकुर तेरे गर्भ में है। तेरा पुत्र मनुष्य मात्र का आशावृक्ष और धर्मराज्य का आधार-स्तम्भ होगा और तू स्वयं धर्मराज्य-लक्ष्मी होगी।'

'क्या मेरे पाँचों देवर कुशलपूर्वक हैं ?'

शैलजा ने उत्तर दिया—'पाण्डव, सात्यकी और कृष्ण इनके सिवाय और कोई नहीं बचा। द्रोण-पुत्र ने रात्रि-समय शिविर में प्रवेश करके सोते हुए पाँचों बालकों का वध किया। अधर्म का अन्तिम अंक कल रात्रि को पूर्ण हुआ। अब खेल समाप्त हो गया। इस अधर्म-राक्षसी से लोगों की रक्षा हो, इस कारण देवता

के समान तुम्हें पुत्र दिया है। उत्तरा! अब तू पति-प्रेम को भुला कर पुत्र-प्रेम से अपने हृदय को प्रसन्न कर!' उत्तरा विस्मित होकर कुछ देर तक चुप रही। कुछ देर बाद वह धीरे धीरे उठ बैठी और कहने लगी—'चलो, अच्छा, अब मैं जाती हूँ।'

'कहाँ?'

'उत्तरा को अब कहीं दूसरा स्थान नहीं—वही स्थान, पति की चिता!'

शैलजा काँपने लगी। आँखों में आँसू भर कर उसने कहा—'पति की चिता पर प्राण समर्पण करने की अपेक्षा क्या स्त्री के लिए दूसरा श्रेष्ठ धर्म नहीं है?'

'है' यह स्थिर कंठ से उत्तर देकर उत्तरा चुप हो रही।

'पति-पद की भस्म सिर में लगा कर अपने उस व्रत का पालन करना चाहिए।'

वे दोनों और कुछ न बोलीं। चुप चाप शिविर से बाहर चली गईं। वहाँ उनको भयङ्कर दृश्य दिखाई पड़ा। कुरुक्षेत्र में अगणित चिताएँ जल रही हैं। नदी के किनारे जलने वाली चिताओं का नदी के जल में प्रतिबिम्ब पड़ने से पानी में असंख्य चितायें जलती हुई दिखाई पड़ती थीं। एक भयंकर महा-चिता में अनाथ सैनिकों का दहन होता था। महा नरमेध यज्ञ समाप्त हुआ। जैसी जैसी रात्रि कम होती गई वैसी वैसी ही चिताओं की अग्नि

भी शान्त होती गई। इस भयानक स्मशान के धुएँ से आकाश आच्छादित हो गया। एक भी नक्षत्र आकाश में दिखाई नहीं पड़ता था। न मालूम सारे नक्षत्र, शोक से व्याकुल हो कर, पृथ्वी पर गिर पड़े, अथवा कहीं ग़ायब हो गए। सिर के बाल खुले हुए, शोक से व्याकुल, वीर नारी मृत पति, पुत्र, पिता अथवा बन्धुओं को वहाँ ढूँढ़ रही थीं। शकुनी और शृगाल रात्रि के समय उस स्मशान में इधर उधर धीरे धीरे घूमते और अपने कर्कश शब्द द्वारा रात्रि की शांति का नाश करते थे। उस समय उत्तरा का हृदय काँप उठा। शोक से व्याकुल हो कर वह शैलजा के गले में लिपट गई, और उसके वक्षःस्थल पर मुख रख कर बोली—'जिस प्रकार ये चिताएँ धीरे धीरे जल कर शान्त हो रही हैं क्या उसी प्रकार मेरे हृदय में जलने वाली चिता भी शान्त हो जायगी? क्या इसी प्रकार कभी मेरे शोक की रात्रि भी समाप्त होगी?'

शैलजा ने कहा—'देखो, भारत-माता के वक्षस्थल पर, असंख्य चिताएँ जल रही हैं। इस चितानल में, अधर्म जल कर भस्म हुआ जाता है और नवीन धर्म की बाल-किरणों का प्रकाश धीरे धीरे हो रहा है। जगत् के प्राणियों, तुम्हारे और मेरे प्राणों को आनन्दित करने के लिए कृष्ण नाम ध्वनि हुआ ही चाहती है।'

शैलजा उत्तरा को धीरे धीरे पति की चिता के समीप ले गई। यह चिता हिरण्यवती नदी के किनारे एक अशोक वृक्ष की जड़ के

पास थी। उत्तरा ने भक्तिपूर्वक उस चिता को प्रणाम किया। प्रिय-पुत्र के साथ पुण्यवती सुलोचना को एक ही चिता पर जलाया गया था। चिता क़रीब क़रीब बुझ चुकी थी। अशोक वृक्ष की जड़ के पास खड़े होकर कृष्ण ने उत्तरा की शोकाकुल मूर्ति को देखा। उसको देख कर कृष्ण का हृदय विदीर्ण हो गया। उत्तरा ने कृष्ण को नहीं देखा। उसने व्याकुल होकर कहा:—"हे कमलनयन कृष्ण! तुम कहाँ हो? मैं शोकसागर में डूबी जाती हूँ; तुम अपने पाँव की नौका मुझे दो। जिसकी आँखें तुम्हारी आँखों के समान शोभायमान थीं, जिसका रूप तुम्हारे रूप के समान माधुर्यमय था, जिसका सुन्दर मनोहर मुख सुभद्रा माता की आकृति के समान था, जिस में तुम्हारा देवत्व और पार्थ का शौर्य वर्तमान था, जो उत्तरा का स्वप्न-स्वर्ग था; वह क्या इस प्रकार भस्म हो जाय? उस का चिह्न भी न रहे—क्या ऐसा हो सकता है? जो अर्जुन और सुभद्रा का प्राण-प्रिय पुत्र और कृष्ण का प्रिय शिष्य उसके लिए मृत्यु? प्राणेश्वर! सिर पर सुन्दर मुकुट धारण करके तुम चन्द्रलोक में कितनी शोभा देते होगे? तुम्हारा वीर वेष कितना सुन्दर है! देखो देखो, अप्सरा तुम्हारे ऊपर सुगन्धित फूलों की वर्षा कर रही है! कोमल और मधुर सङ्गीत-ध्वनि सुनाई पड़ती है। नाथ! क्या तुम अब फिर कभी उत्तरा की ओर आँख भर कर देखोगे? क्या तुम उसे पहचान भी सकोगे? उत्तरा की दशा तुम्हारे दर्शनों बिना कैसी हो रही

है, क्या इसकी तुम्हें कुछ खबर है? एक बार उसे अपने हृदय से लगा लो और एक शब्द बोल कर उसे सुखी करो। तुम ने पृथ्वी पर उत्तरा के साथ छः महीने रह कर जो उसे स्वर्ग के समान सुख पहुँचाया और अब उसका हृदय विदीर्ण करके इस प्रकार चलते हुए! तुम अपने प्रेम की कली इस लता में संचारित करके किस प्रकार चले गए? खैर! छः महीने के लिए मुझे क्षमा करो। छः महीने बाद उस फल को प्रसव कर, पृथ्वी पर तुम्हारा प्रतिबिम्ब स्थापित करके, यह उत्तरा, जिसे यह छः महीने छः युग के समान व्यतीत होंगे, तुम्हारे समीप आयेगी। पति की चिता पर मृत प्राण समर्पण करना, यह मृत्यु नहीं है। नाथ! मुझे आशीर्वाद दो कि यह मृत्यु-व्रत मैं अच्छी तरह पूरा कर सकूँ!"

शैलजा ने चिता-भस्म अपने और उत्तरा दोनों के माथे पर लगा कर कहा—'वत्स! वन-माता का व्रत मुझ से पूर्ण हो ऐसा मुझे आशीर्वाद दो।' इसके बाद दोनों ने उस चिता के चारों ओर प्रदक्षिणा की और अपना कलेजा पत्थर का करके शिविर को वापस गईं। कृष्ण अब तक पाषाणमूर्ति के समान उसी अशोक वृक्ष के नीचे ज्यों के त्यों खड़े रहे। तब तक अर्जुन सुभद्रा को लेकर चिता के पास आए। उस समय अर्जुन शोक से व्याकुल थे। परन्तु सुभद्रा के मुख पर शान्ति की छाया झलकती थी। शोक का अपार सागर उस समय बिलकुल स्थिर था। धनंजय ने

एक लम्बी साँस ली और कहा, 'इस प्रकार हमारा हृदय भस्म हुआ !'

सुभद्रा ने शान्ति के साथ उत्तर दिया—'प्राणनाथ ! ऐसा मत कहो। जगत् के प्राणों का कल्याण होने के लिए कृष्ण नाम का आप के द्वारा प्रचार होगा। सुलोचना का मातृ-प्रेम अभिमन्यु का आत्म-ज्ञान, यह नवीन धर्म-राज्य की नीव है। कृष्ण नाम उसका मुकुट है। तुम्हारा वीर-व्रत समाप्त हुआ। अब श्रेष्ठतर धर्म-व्रत को स्वीकार करो, और पुत्र-भस्म को हृदय से लगा कर कर्मक्षेत्र में अग्रसर हो। जिस समय इस नवीन धर्मामृत से पृथ्वी सिंचित होगी उस समय हम तुम अभिमन्यु के योग्य माता-पिता कहलाए जा सकेंगे। उस समय संसार में दुःख नहीं रहेगा। चारों ओर सुख और शान्ति का सागर दिखाई पड़ेगा। विश्वकंठ से निकलने वाले कृष्ण नाम की ध्वनि सुन सुन कर हम तुम दोनों एक ही चिता पर निर्वाण-पद को प्राप्त होंगे।"

पुत्र की चिता की भस्म हृदय में लगा कर योगी और योगिनी के वेष में दोनों शिविराभिमुख चलते हुए। अब कृष्ण ने उस वृक्ष के नीचे से चिता के पास आकर अपने हृदय में चिता की भस्म लगाई और आकाश की ओर देख कर कहने लगे—'मनुष्य के उष्ण रक्त के सिवाय मनुष्य के पाप और मनुष्य के शोक के बिना मनुष्य के दुःखों का कभी नाश न होगा। यदि मनुष्य की

मुक्ति का मार्ग रक्त के सागर से है तो हे देव, एक घाव से एक निमिष काल में कृष्ण के रक्त से पृथ्वी का स्नान क्यों न कराया? एक श्मशान प्रज्वलित करके कृष्ण के हृदय को वहाँ क्यों न समर्पण किया? आज अठारह दिन तक जो रक्त का प्रवाह बहा, उसमें का प्रत्येक बिन्दु कृष्ण के तप्त रक्त से निकला हुआ था। इन हर एक चिताओं में कृष्ण का प्राण भस्म हुआ है! प्रत्येक अनाथ स्त्री का हाहाकार का शब्द, गांधारी का शोक, उत्तरा की शोकमय मूर्ति, अर्जुन का दुःखवेग, सुभद्रा का वैराग्य इत्यादि बातों ने मेरे हृदय पर वज्रपात किया है। राज-सूय-यज्ञ द्वारा निर्माण किया हुआ धर्मराज्य, बालू की भीत के समान जब नष्ट होने लगा तभी मैंने यह समझ लिया था कि, रक्तस्राव हुए बिना, अग्नि में परीक्षा हुए बिना, पृथ्वी पर धर्म-राज्य की स्थापना नहीं हो सकती। नारायण! तुम्हारी यह इच्छा जान कर, मैंने अपना हृदय विदीर्ण करके अठारह दिन तक पृथ्वी पर रक्त की नदी बहाई! इतना करने पर भी प्राणों से भी अधिक प्रिय कुमार की आहुति देनी पड़ी! निष्पाप मानव-पुत्र को अपने प्राणों की बलि देने के सिवाय क्या मानव-जाति का उद्धार नहीं हो सकता? यदि आप की यही इच्छा है, तो मैं शोक को परित्याग करता हूँ। आप के इच्छानुसार सब कार्य्य होना चाहिए। अब आप पृथ्वी पर धर्म-राज्य की स्थापना कीजिए।'

कुमार की चिता पुनः प्रज्वलित हो उठी। अग्नि की शिखा नभोमण्डल को स्पर्श करने लगी। चितानल समरक्षेत्र में व्याप्त हो गई! उस अग्नि से त्रिभुवन को प्रकाशित करने वाली महाभारत की मूर्ति राज-राजेश्वरी माता दिखाई पड़ी। वेदी के आरम्भ में आर्यों और अनार्यों का सम्मेलन करने और नवीन धर्म की स्थापना करने के लिए वह विशाल मूर्ति ध्यानमग्न दिखाई पड़ी। वेदी के वक्षस्थल पर निष्काम की महामूर्ति विराजमान थी। उस के ऊपर प्रतिभान्वित आनन्दमय जननी शोभा दे रही थी। उस के शिर पर अर्धेन्दु किरीट रक्खा हुआ था। चारों हाथों में पाशांकुश, धनुष और बाण था। तीनों नेत्रों में त्रिकाल का ज्ञान था। बालसूर्य की किरणों के प्रकाश के समान धर्म-सम्राज्ञी का मुख प्रकाशमान था। उसकी आँखों से आनन्दाश्रु बह रहे थे। वह कृष्ण नाम का जाप कर रही थी। कृष्ण का जीवनव्रत पूर्ण हुआ। उद्वेगित मन से 'माँ माँ' कह कर कुमार की चिता के समीप वे मूर्च्छित होकर गिर पड़े। प्रातःकल के प्रकाश से पूर्व की ओर आकाश सुशोभित हुआ। अनन्त मंगल बाजे बजने लगे। कुरुक्षेत्र आनन्द-मंगल के गीतों की ध्वनि उच्च स्वर से हो कर धर्मराज्य की घोषणा हुई। सुभद्रा और अर्जुन शैलजा और द्वैपायन ये धीरे धीरे वहाँ पहुँचे। कृष्ण उठ कर खड़े हो गए। कुमार की चिता के सामने, पूर्व गगनाभिमुख हो कर योग ध्यान में मग्न हुए।

उन के पास एक किनारे धनंजय खड़े थे। और दोनों के बीच में सुभद्रा देवी। प्रेमानन्द में मग्न होकर, अपनी देह की सुध-बुध भुला कर, व्यास ने कहा:—'हे देवगण! ऋषिगण! एक बार यहाँ आकर इस पार्थिव त्रिमूर्ति के दर्शन करो। ज्ञानदेव कृष्ण, धनंजय बलदेव, और उनके मध्य में भक्ति देवी सुभद्रा शोभायमान हैं। उनके सामने चिता-रूपी आत्म-विसर्जन हो रहा है। ज्ञान, बल, आत्मविसर्जन ये भक्ति के निष्काम सूत्र द्वारा एकत्रित हुए हैं। यही मानव-जाति के लिए मोक्षधाम है। यही द्वापर का अवतार है। यह महातीर्थ, आँख भर कर आज मैंने देखा। मेरा मनोरथ पूर्ण हुआ। नारायण! आप महाभारत का गीत गाने की मुझे शक्ति दें! जिससे मनुष्य उस गीत को सुन कर और कृष्ण नामामृत का पान करके, मुक्ति लाभ करें, और जिसको पढ़ कर, पृथ्वी स्वर्गधाम बने।'

शैलजा ने गुरुदेव की पदरज अपने सिर पर धारण की और कहा—'हे गुरुदेव! तुम्हारी कृपा से, हे पुत्र! तुम्हारे स्नेह से, इस तेरी अनाथ माता का आज जन्म सफल हुआ! हे नारायण, आर्य और अनार्य दोनों के रक्षक, पतित अनार्यों को अपने पद-कमल में शरण दो! तुम्हारे धर्म-राज्य में उनको भी स्थान प्राप्त हो! हे भगवान, भारत-वासियों को ज्ञान, भक्ति, बल और आत्म-विसर्जन करने की शिक्षा दो, जिस के कारण वे पशु से मनुष्य कहलाने योग्य बनें।'

—'श्रीकृष्ण चरित' से।

४४

जर्मन देश पर एक ऐतिहासिक दृष्टि

लेखक—डाक्टर लक्ष्मण स्वरूप, एम० ए०, डि० फिल०

[आप का जन्म केराना ज़िला मुज़फ़्फर नगर में जनवरी सन् १८९४ में हुआ था। आजकल आप लाहौर के ओरियण्टल कालेज में संस्कृत-विभाग के प्रधान अध्यापक हैं। आप संस्कृत, हिन्दी तथा अँग्रेज़ी के अतिरिक्त जर्मन और फ्रेंच भाषाओं के भी अच्छे ज्ञाता हैं। आपने फ्रेंच नाटककार मोलियर के दो हास्यरस-पूर्ण नाटकों का "बनिया चला नवाब की चाल" और "वहमी रोगी" नाम से हिन्दी में अनुवाद किया है। आपने निरुक्त का संपादन तथा अँगरेज़ी में अनुवाद भी किया है।]

संसार में कौन ऐसा शिक्षित नर-नारी होगा जो जर्मनी को न जानता हो। सभ्य संसार में आज जर्मनी मान-प्रतिष्ठा के अत्युच्च

शिखर पर विराजमान है। ज्ञान-विज्ञान तथा कला-कौशल में जो उन्नति इस देश ने की है वह केवल विस्मयोत्पादक है। पदार्थ-विद्या में यदि कहीं नित्य नए आविष्कार होते हैं तो वह इसी देश में। साहित्यिक अनुसंधान तथा दर्शनानुशीलन के लिए जर्मनी का विद्वज्जन-समुदाय सकल संसार में प्रसिद्ध है। निपुणता और कार्यदक्षता उन का आदर्श-वाक्य है। जिस काम को भी वे हाथ में लेते हैं पूर्ण किए बिना नहीं छोड़ते। सारांश यह कि आज इस देश की अवस्था को देख कर मनु भगवान् का यह कथन याद आता है—

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवः॥

किन्तु यही देश जो आज सूर्य के समान चमक रहा है आज से प्रायः दो सौ वर्ष पूर्व कुछ भी न था। वह बल, पराक्रम और तेज जिस के कारण आज बड़े बड़े राष्ट्र इस से भयभीत रहते हैं, पारस्परिक मेल के न रहने के कारण, मिट्टी में मिला हुआ था। शास्त्र-विवेचन का तो कहना ही क्या, दो सौ वर्ष पूर्व जर्मन देश की एक भाषा भी न थी। अथवा यों कहिए कि कोई भाषा थी ही नहीं। फ्रेञ्च भाषा का सीखना ही गौरवास्पद समझा जाता था। वरन् सभ्य समाज में तो फ्राँसीसी भाषा का ही व्यवहार होता था। फ्रेञ्च कवियों की कविताओं का ही जर्मनी में प्रचार होता था। सच

पूछिए तो उस समय जर्मन जाति विद्यमान ही न थी। आज हम यही बताएँगे कि किस प्रकार यह जाति बनी, इस के आदि प्रवर्तक किस प्रकार के मनुष्य थे, उन को क्या क्या क्लेश तथा विपत्तियाँ सहन करनी पड़ीं, और किस प्रकार उन्हों ने घोर भयानक विरोधियों से आत्म-रक्षा की। इस देश के इतिहास का पाठ हमें बताता है कि जातियाँ किस प्रकार उन्नति किया करती हैं। मानव-प्रकृति प्रायः सर्वत्र एक सी है। इस लिए अवस्थाओं के कई अंशों में भिन्न होते हुए भी कोई न कोई शिक्षा हमें मिल ही जाती है। इस से इतिहास का अध्ययन बहुत ही रोचक तथा संशय-मोचक हो जाता है।

सन् १६११ में दो छोटे छोटे राज्यों का मेल हुआ। ये राज्य इतने छोटे थे कि उन के अधिपति राजा भी नहीं कहलाते थे। एक राज्य का नाम ब्रेण्डनबर्ग (Brandenberg) था और दूसरे का प्रशिया। ये विस्चुला नदी के तट पर हैं। इन दोनों के मिलाप से प्रशिया राज्य की स्थापना हुई। इस राज्य का अधिपति होहनज़ोलर्न कुल का कुमार था। यह वही प्रशिया राज्य है जिस का राजा अन्त में जाकर जर्मन देश का सम्राट बना। इसी प्रशिया ने जर्मनी के छोटे छोटे रजवाड़ों (States) को सङ्गठित कर जर्मनी को एक राष्ट्र बनाया।

सन् १६८८ में फ्रेडरिक तृतीय प्रशिया के सिंहासन पर बैठा।

इस के मन में राजा कहलाने की उत्कट लालसा उत्पन्न हुई। और इसी उत्कण्ठा से वह प्रयत्न भी करने लगा। किन्तु 'राजा' पद की उपलब्धि केवल सम्राट से ही हो सकती थी, और सम्राट पोप का अनुयायी तथा फ्रेडरिक का धर्म्म-विरोधी था। इस लिए यह काम कुछ कठिन था। दैव-योग से सम्राट को एक घोर संग्राम के लिए सहायता की आवश्यकता पड़ी और उसने फ्रेडरिक को प्रसन्न करना जरूरी समझा। अतएव सन् १७०१ में फ्रेडरिक की मनोकामना पूर्ण हुई और एक महोत्सव में 'राजा' की उपाधि फ्रेडरिक को प्रदान की गई।

सन् १७१३ में महाराज फ्रेडरिक का पुत्र पहला विलियम गद्दी पर बैठा। इसकी प्रकृति बड़ी ही विचित्र थी। आज हम उसी के विषय में कुछ वर्णन करेंगे।

विलियम एक विचित्र पुरुष था। शरीर में बहुत ही बलवान् परन्तु बुद्धि में अक्खड़ जाट। धीरता तथा गम्भीरता की तो उसमें गंध-मात्र भी न थी। सभ्यता, कविता, सौन्दर्य, शिल्प और शिक्षा का वह कट्टर विरोधी था। उसका कथन था कि थोड़ी सी भी सामान्य-बुद्धि महाविद्यालयों से कहीं बढ़ कर है। इस पर भी वह ऐसे समय में सिंहासन पर बैठा जब कि देश को उसकी बड़ी आवश्यकता थी।

उसका पिता विद्यालय बनाता, प्रजा को शिक्षा देने का प्रबंध

करता और विद्वानों को उत्साहित करता था। परन्तु पुत्र विद्वान् पुरुषों को घृणा की दृष्टि से देखता और उनके प्रति उदासीनता प्रकट करता था। यहाँ तक कि वह जर्मनी के महापुरुषों और विद्वानों के प्रसिद्ध शिरोमणि लेबनिटस (Leibnitz) को भी इस लिए अच्छा नहीं समझता था कि उसका क़द छोटा था और वह एक अच्छा पहरेदार नहीं बन सकता था। विलियम की आवाज़ गरजती और थर्राती थी। उसकी भाषा सदा ही अशुद्ध होती थी और उसके अक्षर ऐसे बुरे होते थे कि कोई पढ़ भी नहीं सकता था।

अपने पिता से वह नितान्त ही भिन्न प्रकृति का मनुष्य था। उसका पिता दिखावे का अधिक प्यारा था और सजावट तथा शृङ्गार-रस का प्रेमी था, परन्तु विलियम इन सब का विरोधी था। इसने बहुत ही संकोच से ख़र्च करना आरम्भ किया और राज्य के प्रत्येक विभाग में बहुत ही किफ़ायत से काम लेने लगा। अपने पुत्र तथा कन्याओं से भी वह उसी प्रकार बर्ताव करता था। वरन् यहाँ तक कि किसी समय तो उनको पेट भर कर भोजन भी नहीं मिलता था। प्रेम तथा प्रीति को तो वह निर्बल अबलाओं के लिए ही समझता था। इसी प्रकार वह कविता का पढ़ना समय का व्यर्थ खोना ख़याल करता था। एक समय उसका पुत्र फ्रेडरिक एक कवि की पुस्तक पढ़ रहा था कि विलियम ने देख लिया।

उसके हाथ में एक लंबी सी छड़ी थी। उसी छड़ी से उसने पुत्र की खूब खबर ली। इसी छड़ी को लेकर वह नगर में भ्रमण किया करता था। यदि कोई पुरुष या स्त्री बिना कुछ काम करते हुए उसके दृष्टिगोचर होते तो वह तीन चार छड़ी लगा देता और कहता—'काम पर जाओ'।

उसने एक सभा बनाई थी जिस का नाम पीछे से 'तमाकू सभा' पड़ गया। इस सभा में राज्य-विषयक बहुत गम्भीर विचार होते थे। किन्तु इसमें किसी ऐसे पुरुष को बैठने का अधिकार न था जो तमाकू न पीता हो। इस लिए वज़ीर आदि सब राजपुरुषों को अवश्य ही चुरुट पीना पड़ता था! पाठको, ज़रा सोचिए तो सही। धुएँ की लपेटों के बीच राजनीति तथा प्रजा-सम्बन्धी गूढ़ विषयों पर विचार करने का इस से सुन्दर दृश्य क्या और कहीं दृष्टिगोचर होगा।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, तमाकू-सभा में प्रत्येक अमीर-वज़ीर को तमाकू पीना पड़ता था। इस प्रकार तमाकू के साथ बीयर (Beer) भी उन्हें पीनी होती थी। इन बातों से पाठक जान सकते हैं कि विलियम कैसा विचित्र मनुष्य था। यद्यपि उसका स्वभाव विलक्षण तथा लोकाचार के विरुद्ध था तथापि वही मनुष्य प्रशिया के एवं जर्मनी के महत्व और गौरव का सच्चा संस्थापक था। ऐसा क्योंकर हुआ, यह नीचे वर्णन किया जाता है।

विलियम जहाँ मानसिक और आत्मिक उन्नति की ओर कुछ ध्यान न देता था वहाँ शारीरिक उन्नति को ही सर्वोत्तम समझता था। जिस प्रकार उसका अपना शरीर हृष्ट पुष्ट और क़द लम्बा था उसी प्रकार वह लम्बे क़द वाले सिपाहियों को ही सेना में भरती करने का शौक़ीन था। जहाँ कहीं से भी उसे लम्बे पुरुष का पता मिलता, झट किसी न किसी उपाय से उसे नौकर रख लेता। कितनी ही बार योरप देश के अन्य राजाओं ने अपनी प्रजा को इस प्रकार भगा ले जाने के कारण विलियम पर आक्षेप भी किये परन्तु वह किसी की परवा नहीं करता था और लम्बे मनुष्य को प्राप्त करने के लिए प्रत्येक वस्तु देने को तैयार हो जाता था। आयरलेंड में एक मनुष्य का क़द ६ फुट ६ इंच था। उस ने लगभग १३५०० रुपये ख़र्च कर के उसे अपने यहाँ बुलाया था। यद्यपि राज्य के प्रत्येक विभाग में वह अत्यन्त संकोच से रुपया ख़र्च करता था तो भी लम्बे मनुष्यों के लिए उसका ख़ज़ाना हर वक्त खुला रहता था। एक लम्बा मनुष्य उसके लिए सब से उत्तम उपहार था। यदि किसी को विलियम से याचना करनी होती थी तो वह अपनी मनोरथ-सिद्धि के लिए किसी लम्बे मनुष्य को उपहार में देने का यत्न करता था. क्योंकि उसकी कृपा-दृष्टि का केवल यही एक साधन था।

एक समय हालेंड देश के नरेश ने विलियम के दो मनुष्यों

को, जो लम्बे आदमियों की तलाश में उस देश में गये थे, फाँसी दे दी। इस के कुछ दिन बाद उस ने विलियम को लिखा कि आपके विद्यालय में एक विद्वान् आचार्य है। कुछ काल के लिए उस की हमें आवश्यकता है। आप कृपा कर उन्हें भेज दीजिए। विलियम ने उत्तर दिया—नो टॉल मैन, नो प्रोफ़ेसर, अर्थात् न कोई लम्बा मनुष्य आप के यहाँ से मिला, न कोई अध्यापक यहाँ से जावेगा। इस प्रकार चौबीस सौ लम्बे मनुष्यों की एक बड़ी सेना उसने तैयार की। उस सेना की रक्षा वह पितावत करता था। इस सेना को Potsdam giants अर्थात् रावण की सेना कहते थे। यही शारीरिक बल था जिस को विलियम के पुत्र फ़्रेडरिक ने लेकर सारे योरुप के मुक़ाबले में विजय प्राप्त की और अपना तथा अपनी जाति का नाम उज्ज्वल किया।

विलियम में, यदि वर्तमान समय के आचार-शास्त्र के अनुसार, बहुत से दोष थे तो साथ ही दो बड़े गुण भी थे। एक तो वह आलस्य का द्वेषी था। प्रत्येक को काम करता हुआ देख कर ही वह प्रसन्न होता था और इसी प्रकार जिस काम को करता था उसको बड़ी दृढ़ता से पूर्ण करके ही छोड़ता था। संसार की निन्दा तथा प्रशंसा की उसे कुछ भी परवा न थी। उसने राज्य के प्रत्येक भाग से सकल शिथिल भावों को निकाल कर दृढ़ता स्थापित की थी। सेना को तो उसने बहुत ही मज़बूत और वीर बना दिया था।

उस की प्रजा ने उसके गुणों का अनुकरण किया, जैसाकि प्रत्येक सज्जन को करना चाहिए।

—'उषा', एप्रिल १६१४

४५

त्रिमूर्ति

लेखक —श्रीयुत-पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

[इस लेख के लेखक श्रीयुत पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी बी०ए० अपने कृत्रिम नवीनचन्द्र नाम से भी लिखते रहे हैं। आप मध्यप्रदेश के रायपुर ज़िले के अन्तर्गत खैरपुर रजवाड़े के निवासी हैं। आप बहुत अच्छे लेखक, समालोचक तथा कवि हैं। श्रीयुत द्विवेदी जी के बाद आप कई वर्ष तक प्रयाग की 'सरस्वती' का सफलता-पूर्वक संपादन करते रहे हैं। आज कल आप राजनाँदगाँव के स्टेट स्कूल में अध्यापन का कार्य करते हैं। आपकी प्रसिद्ध पुस्तकें ये हैं—हिन्दी साहित्य विमर्श, साहित्य और पंच पात्र।]

त्रिमूर्ति

मनुष्य-मात्र का यह स्वभाव है कि वह अपने ज्ञान के रूप को परिमित देखना नहीं चाहता। जब वह देखता है कि उसकी बुद्धि काम नहीं देती, तब वह कल्पना का आश्रय लेता है। तब काव्य की सृष्टि होती है। बाह्य जगत् मनुष्यों के अन्तर्जगत् में प्रविष्ट हो कर एक दूसरा ही रूप धारण कर लेता है। जड़ के साथ चेतन का सम्मिलन होता है। जो बुद्धि का अवलम्बन करते हैं, उन के लिए सूर्योदय एक साधारण घटना है, हिमालय एक पर्वत है और मन्दाकिनी एक नदी है। परन्तु कल्पना के द्वारा कवि सूर्योदय में उषा देवी का दर्शन करते, हिमालय में भगवान शिव का विराट रूप देखते और मन्दाकिनी में मातृ-मूर्ति देख कर गद्गद हो जाते हैं। अगरेज़ी के प्रसिद्ध लेखक मेकाले की राय है कि ज्यों ज्यों सभ्यता की वृद्धि होती है, त्यों त्यों कवित्व का ह्रास होता है। उनके इस कथन का अभिप्राय यही है कि ज्यो ज्यों मनुष्य में प्राकृतिक भाव नष्ट होता जाता है और कृत्रिमता आती जाती है, ज्यों ज्यों मनुष्य प्रकृति का संसर्ग छोड़ कर संसार में प्रवेश करता जाता है, त्यों त्यों उसका जीवन-रस सूखता जाता है। जीवन के प्रभात काल में किसको यह जगत् सुन्दर नहीं मालूम होता? उस समय हम पवन से क्रीड़ा करते हैं, फूलों से मैत्री रखते हैं और पृथ्वी की गोद में निश्चिन्त हो विश्राम करते हैं। उदीयमान सूर्य की प्रभा के समान हमारा जीवन निर्मल, सौम्य और मधुर रहता है। परन्तु

जीवन के मध्याह्न काल में हमारे लिए प्रकृति का सौंदर्य नष्ट हो जाता है। संसार के अनन्त कार्यों में निरत होकर हम केवल विश्व के विषम संताप का अनुभव करते हैं। सब कुछ वही रहता है, हमीं दूसरे हो जाते हैं। पहले वर्षा-काल में कीचड़ का कुछ भी ख़याल न कर हम आकाश के नीचे पृथिवी के वक्षःस्थल पर विहार करते थे। जब जल के छोटे छोटे स्रोत कल कल करते, हँसते, नाचते, थिरकते, बहते जाते थे, तब हम भी उन्हीं के साथ खेलते, कूदते, दौड़ते थे। परन्तु सभ्य होने पर हमें वर्षा में कीचड़ और गँदलेपन का दृश्य दिखाई देता है और हम अपने संसार को नहीं भूलते। वाल्मीकि और तुलसीदास के वर्षा-वर्णन में हम यह बात स्पष्ट देख सकते हैं। दोनों विख्यात कवि हैं, दोनों ने एक ही विषय का वर्णन किया है। परन्तु जहाँ वाल्मीकि के वर्णन में हम प्रकृति का यथार्थ रूप देखते हैं, वहाँ तुलसीदास के वर्णन में हम संसार की कुटिलता का परिचय पाते हैं। इसका कारण यही है कि वाल्मीकि ने तपोवन में कविता लिखी थी और तुलसीदास ने काशी में अथवा अन्य किसी नगर में।

कवि पर देश-काल का यही प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव कवि की कल्पना-गति में बाधक नहीं होता। तो भी इस में सन्देह नहीं कि उसके कारण कवि की कल्पना एक निर्दिष्ट पथ पर विचरण करती है। होमर सीता की कल्पना नहीं

कर सकता था और न वाल्मीकि हेलेन की सृष्टि कर सकते थे। भिन्न भिन्न युगों में भिन्न भिन्न भावों की प्रधानता होती है। एक ही देश में भिन्न भिन्न युगों के कवियों की रचनाओं में हम विभिन्न भावों की जो प्रधानता पाते हैं, उस का कारण यही है। सभ्यता के आदिकाल में जो कवि होंगे, उनकी रचनाओं में हम भाषा का आडम्बर नहीं देखेंगे। निर्मल जल-धारा के समान उनकी कविता सदैव प्रासादिक और विशद रहेगी। परन्तु धन और वैभव से सम्पन्न देश में कवियों की रुचि भाषा की सजावट की ओर अधिक रहेगी। इतना ही नहीं उनकी कविता का विषय भी वाह्य जगत् होगा।

साहित्यज्ञों ने ऐसे ही प्रधान प्रधान लक्षणों के अनुसार साहित्य के युग को तीन कालों में विभक्त किया है—प्राचीन काल, मध्यकाल और नवकाल। साहित्य का यह काल-विभाग सभी देशों के साहित्य में पाया जाता है। साहित्य के मुख्य विषय दो ही हैं—अन्तर्जगत और वाह्यजगत्। भिन्न भिन्न युगों में इन दोनों का सम्बन्ध भी भिन्न भिन्न होता है। कोई एक युग लीजिए। उस काल की सभी रचनाओं में कुछ न कुछ सादृश्य अवश्य रहता है। प्राचीन काल में कवि वाह्यजगत् को अन्तर्जगत् में मिला कर एक अभिनव जगत् की सृष्टि करते हैं, जिसमें देवताओं और मनुष्यों का सम्मिलन होता है। उस समय अन्तर्जगत् और

बहिर्जगत् में भेद नहीं रहता। पृथ्वी मधुपूर्ण हो जाती है। उस समय हमें जान लेना चाहिए कि हम वाल्मीकि, व्यास और होमर के सत्ययुग में पहुँच गये हैं।

काव्य दो भागों में विभक्त किये जा सकते हैं। कुछ काव्य ऐसे होते हैं जो कवि के व्यक्तित्व से पृथक् नहीं किये जा सकते। उन में कवि ही की आत्मा छिपी रहती है। ऐसे काव्यों में कवि अपनी प्रतिभा के बल से अपने जीवन के अनुभवों ही के द्वारा समस्त मानव-जाति के चिरन्तन गूढ़ भावों को व्यक्त कर देता है। परन्तु कुछ काव्य ऐसे होते हैं जिन में विश्वात्मा संचरण करती है। वे देश और काल से अनवच्छिन्न रहते हैं। ऐसे ही काव्यों को महाकाव्य कहते हैं; और उनकी रचना वही कवि करते हैं जो विश्व-कवि कहलाते हैं, जो समग्र देश और समग्र युग के भावों को प्रकट कर अपनी कृति को मानव-जाति का जीवन-धन बना जाते हैं। गिरिराज हिमालय के सदृश वे पृथ्वी को भेद कर आकाश-मण्डल को छूते हैं। उन पर काल का प्रभाव नहीं पड़ता। वे सदा अटल बने रहते हैं और उनकी कविता-जाह्नवी अनिश्चित काल तक लोगों को पुनीत करती रहती है। भारतवर्ष में रामायण और महाभारत इसी प्रकार के महाकाव्य हैं। प्राचीन ग्रीस के ईलियड और ओडेसी उसी के समकक्ष महाकाव्य हैं। भारतवर्ष में जो स्थान वाल्मीकि और व्यास का है, योरप में

वही स्थान होमर का है।

वाल्मीकि, व्यास और होमर के जीवन-चरित लिखने की विफल चेष्टा करने की अपेक्षा उनके काव्यों पर विचार करना अधिक समुचित होगा। इस में संदेह नहीं कि इन कवियों के विषय में अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। होमर के कई जीवन-चरित बहुत प्रसिद्ध हैं। उन्हीं में से एक का लेखक हेरोटोटस माना जाता है। इन दंत-कथाओं में कवियों की असाधारण बातों का ही उल्लेख किया गया है। वाल्मीकि, व्यास और होमर के काव्य अलौकिक हैं। उनकी कृतियों से यह साफ़ प्रकट होता है कि वे दिव्य-शक्ति-सम्पन्न थे। अतएव यदि मनुष्य उनके जीवन में भी अलौकिकता देखें, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है! कहा जाता है कि वाल्मीकि पहले अत्यन्त क्रूर और नृशंस थे। पीछे राम का नाम लेकर वे तपस्वी हो गये। जिस के काव्य में करुण-रस का अपूर्व स्रोत बह गया है, उसकी क्रूरता भी देखने योग्य होगी। बात यह है कि रामायण के पाठ से भक्ति का उन्मेष होता है और उससे पाषाण-हृदय भी द्रवित हो जाता है। यही बात इस किंवदन्ती में बतलाने की चेष्टा की गई है। वाल्मीकि के विषय में यह भी प्रसिद्ध है कि क्रौञ्च पक्षी के वध से व्यथित होकर उन्होंने श्लोक की रचना की। ऐसी घटनाएँ असाधारण होने पर भी असम्भव नहीं हैं। तो भी ऐसा प्रतीत

होता है कि वे किंवदन्तियाँ कवियों की कृतियों पर सर्व-साधारण की आलोचनाएँ हैं। कविता की उत्पत्ति कैसे होती है, यह इस घटना के द्वारा बतलाया गया है। इस मर्त्यलोक में जीवन और मृत्यु की जो लीला हो रही है, मनुष्यों के हास्य में भी करुण-वेदना की जो ध्वनि उठ रही है, क्षणिक संयोग के बाद अनन्त वियोग की जो निदारुण निशा आती है, उसी से मर्माहत होकर कवि के हृदय से सहसा जो उद्‌गार निकल पड़ता है, वही कविता है। जिस कविता में वेदना का स्वर नहीं, वह कविता माधुर्य से हीन है। शेली ने इसी भाव को निम्नलिखित पद्य में व्यक्त किया है—

Our sweetest songs are those,
That tell of saddest thoughts.

व्यासदेव ने हिन्दू-समाज को धर्म और नीति की शिक्षा दी है। उनके महाभारत से ही हिन्दू-सदाचार की सृष्टि हुई है। इसी लिए उसको पञ्चम वेद कहते हैं। परन्तु धर्म और ज्ञान की सूक्ष्म विवेचना करने वाले व्यास जी का जन्म-वृत्तान्त ऐसा नहीं है कि उसे प्रकट करने के लिए लोग लालायित हों। क्या उनके जीवन से यह सिद्ध नहीं होता कि जन्म किसी मनुष्य का भी भविष्य निश्चित नहीं कर देता? होमर अन्धा था। 'होमर' शब्द का अर्थ ही अन्धा है। इसी प्रकार हमारे सूरदास भी अन्धे थे। जो जगत् के वाह्यरूप की अवहेलना करके अन्तर्गत सत्य की खोज करता

है, उसके लिये ये चर्मचक्षु सर्वथा व्यर्थ हैं। आँख से तो हम पृथ्वी पर पृथ्वी ही देखते हैं। पर होमर ने नेत्र-हीन होकर पृथ्वी पर स्वर्ग के दर्शन किये थे।

वाल्मीकि भारतवर्ष के आदि-कवि माने जाते हैं। उनकी गणना महर्षियों में की जाती है। हिन्दू-समाज में ऋषि का स्थान बहुत ऊँचा है। उनकी देव-तुल्य पूजा होती है। उनके कथन का खण्डन करने का कोई साहस नहीं कर सकता। उनके वचन कभी मिथ्या नहीं होते। आदि-कवि का महर्षि होना यह सूचित करता है कि कवि को वही स्थान प्राप्त है जो ऋषि को है। उपनिषदों में भी कहा गया है—'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभू'। अतएव जिस कवि की रचना में वह गुण नहीं जो एक ऋषि के वचन में होना चाहिए, उसे हम कवि नहीं कहेंगे। अलंकार, भाषा का सौष्टव, माधुर्य आदि काव्य के गुण कहे जाते हैं। परन्तु ऋषि की कृति में हम इतने से ही सन्तुष्ट नहीं होंगे। हम तो उससे यही आशा करेंगे कि वह हम में स्वर्गीय भाव भर दे। ऋषि का वचन काम-धेनु के समान हमारी सब वासनाओं का अन्त कर सकता है और रामायण का पाठ करने से फिर कोई वासना नहीं रह जाती। तभी तो वह स्वर्ग का सोपान कहा जाता है।

रामायण में एक आदर्श समाज का चित्र है। इसी लिए कुछ लोगों को उसकी कथा अस्वाभाविक प्रतीत होती है। परन्तु यह

उन का भ्रम है। रामायण से यही सिद्ध होता है कि मानव-समाज किस प्रकार आदर्श रूप में परिणत हो सकता है, पृथ्वी स्वर्ग कैसे हो सकती है। अरविन्द बाबू की राय है कि रामायण में एक विशुद्ध नैतिक अवस्था का चित्र पाया जाता है। उसमें शारीरिक और मानसिक दोनों शक्तियों का पूर्ण विकास दिखाया गया है। साथ ही साथ इन शक्तियों को स्वभाव की शुद्धता और श्रेष्ठ धार्मिक-जीवन के कार्यों को सहायक बनाने की भी आवश्यकता बतलाई गई है।

व्यास जी ने महाभारत में पार्थिव शक्ति की पराकाष्ठा दिखला कर उसकी निस्सारता दिखलाई है। उन्होंने कर्तव्याकर्तव्य और धर्माधर्म का बड़ा ही सूक्ष्म निर्णय किया है। स्वर्ग में युधिष्ठिर को यह देख कर बड़ा आश्चर्य हुआ कि उनके धर्मात्मा भाइयों का तो वहाँ पता नहीं, पर अधार्मिक दुर्योधन स्वर्ग की विभूति का उपभोग कर रहा है! बात यह है कि अपने कर्तव्य-क्षेत्र में बलि हो जाना, यही धर्म की पराकाष्ठा है।

होमर के दो काव्य प्रसिद्ध हैं। एक का नाम ईलियड है और दूसरे का नाम ओडेसी। ईलियड में प्राचीन ग्रीस के इतिहास में प्रसिद्ध 'ट्रोजन वार' नामक युद्ध का सविस्तर वर्णन है। प्राचीन काल में एशिया में एक समृद्धिशाली राज्य था। उसकी राजधानी थी ट्राय। उस राज्य के अधीश्वर का नाम प्रायम था। उसका

एक पुत्र था पेरिस। स्पार्टा-नरेश मेनीलास की स्त्री हेलेन को पेरिस भगा लाया था। इस अपमान से क्षुब्ध होकर मेनीलास ने सब ग्रीक राजाओं को एकत्र कर ट्राय पर आक्रमण किया। बड़ा भीषण युद्ध हुआ। दोनों ओर के बड़े बड़े वीर धराशायी हुए। अन्त में ग्रीक वीरों ने ट्राय को हस्तगत कर लिया। यही ईलियड की कथा है। ओडेसी में यूलीसेस नामक एक ग्रीक नरेश की यात्रा वर्णित है।

होमर की कल्पना-शक्ति बड़ी प्रचण्ड थी। उस के काव्यों में एक विलक्षण शक्ति है। महाकाव्यों में कथा ही पर ज़ोर दिया जाता है। पर होमर ने भिन्न भिन्न चरित्रों का अवतरण कर और उनके मानसिक भावों का विश्लेषण कर अपने काव्य को नाटक का रूप दे दिया है। एक विद्वान समलोचक की राय है कि यदि हम नाटककारों में होमर को स्थान देना चाहें, तो हमें उसे शेक्स-पियर का समकक्ष मानना पड़ेगा। इस दृष्टि से उसके काव्यों की तुलना रामायण और महाभारत से नहीं की जा सकती। परन्तु रामायण और महाभारत की तरह होमर के काव्यों ने यूरोप में एक विचारधारा प्रवर्तित कर दी। मनुष्यों के जीवन में जिस अदृष्ट शक्ति का प्राबल्य है, उस से पृथक् कर उस ने मानव-जाति के अध्यात्म-शक्ति-विहीन जीवन के दर्शन करा दिए। हेलेन पार्थिव श्री की प्रतिमा है, जिस प्रकार द्रौपदी क्रिया-शक्ति की और सीता

विशुद्धि की। उसी के प्रभाव से ट्राय जर्जर हो गया। अब हम कविता के नैपुण्य पर कुछ विचार करना चाहते हैं।

कविता के लिए अलङ्कार भी आवश्यक माने गये हैं। होमर की उपमाओं के विषय में एक समालोचक का कथन है कि होमर ने भाषा की सौन्दर्य-वृद्धि के लिए उपमा का प्रयोग नहीं किया है। वह जिससे किसी बात को विशेष प्रभावोत्पादक बनाना चाहता था, उसी का उल्लेख उपमा द्वारा कर देता था। उपमाओं से कवित्व-शक्ति का उच्छ्‌वास प्रकट होता है; इस लिए उनका प्रयोग उतना ही स्वाभाविक जान पड़ता है जितना उनका प्रभाव। वाल्मीकि की उपमाएँ बड़ी सरल होती हैं; परन्तु व्यास जी की उपमाओं में एक प्रकार की निरंकुशता है।

होमर की कविता के विषय में मैथ्यू आर्नल्ड साहब का कथन है कि उसके तीन प्रधान गुण हैं। पहला गुण है उसका वेग। गिरि-निर्झर की तरह होमर का कविता-स्रोत बड़े ही वेग से बहता है। उसकी गति कभी शिथिल नहीं होती। उसकी छन्दोयोजना भी ऐसी है कि उस से कविता की गति तीव्रतर हो जाती है। दूसरा गुण है भावों की विशदता। होमर की लोकप्रियता का सब से बड़ा कारण उसकी प्रासादिक कविता है। तीसरा गुण है भावों की उच्चता, जिस से मनुष्य अपना पशुत्व दूर कर देवोपम हो जाते हैं। मैथ्यू आर्नल्ड साहब का यह कथन रामायण और महाभारत

के लिए भी उपयुक्त है। उन में भी कविता की निर्बाध धारा, प्रसादगुण और स्वर्गीय भाव है।

कवि का प्रधान गुण है आदर्श चरित्रों की सृष्टि। होमर ने भी आदर्श नर-नारियों के चरित्र अङ्कित किये हैं और व्यास तथा वाल्मीकि ने भी। परन्तु इनके चरित्रों की परस्पर तुलना नहीं हो सकती। होमर की हेलेन वाल्मीकि की सीता और व्यास की द्रौपदी तीनों अद्वितीय हैं। जैसी सफलता हेलेन के चरिताङ्कण में होमर को हुई है, वैसी ही सफलता व्यास और वाल्मीकि को द्रौपदी और सीता के चरित्र-चित्रण में भी हुई है। परन्तु कला की कुशलता का विचार न कर यदि चरित्र की दिव्यता का विचार किया जाय, तो राम और सीता के चरित्र अद्वितीय हैं।

रामायण में रामचन्द्र और सीता का ही चरित्र प्रधान है। अन्य चरित्रों की अवतारणा इन्हीं दो के चरित्रों को विशद करने के लिए हुई है। रामचन्द्र पुरुषोत्तम हैं। वे लोक-मर्यादा के संरक्षक हैं। वे सत्यव्रत हैं। वे शूर हैं। उन में देव-दुर्लभ गुण हैं। परन्तु यदि राम में सिर्फ यही गुण रहते तो कदाचित् आज मनुष्यों के हृदय-मंदिर में उनका यह स्थान न रहता। उनके चरित्र की विशालता और भव्यता देख कर लोग विस्मय-विमुग्ध हो जाते पर उन्हें अपनाते नहीं। आज रामचद्र को ईश्वर-पद प्राप्त है। उन का नाम मात्र स्मरण करके नीच मनुष्य भी भव-सागर को

पार कर जाता है। मनुष्यों की यह भक्ति-भावना उनके अलौकिक चरित्र के कारण नहीं है, किन्तु उनके लौकिक चरित्र के कारण है। उनकी बिशाल महिमा से आतङ्क उत्पन्न हो सकता है, प्रेम की उत्पत्ति नहीं हो सकती। रामचन्द्र ईश्वर थे, पर आये थे वे मनुष्य ही के रूप में। उनमें मनुष्योचित गुण थे। वे पुत्र थे, भ्राता थे, स्वामी थे। उन्हों ने मनुष्यों के सुख-दुःख और आशा-निराशा का अनुभव किया था। जो राज राजेश्वर है, वह दरिद्रों की कुटी का अनुभव नहीं कर सकता। परन्तु रामचन्द्र ने दारिद्र्यव्रत भी धारण किया था, राज-सिंहासन से नीचे उतर कर दरिद्रता को आलिङ्गन किया था, वल्कल-वस्त्र पहन कर जङ्गल जङ्गल घूमे थे। तभी तो अधर्मियों को उनके पास जाने का साहस होता है। तुलसीदास जी ने रामचन्द्र के चरित्र में उनकी ईश्वरीय शक्ति का बार बार स्मरण कराया है। इसकी कोई आवश्यकता नहीं थी। सच पूछो तो इस से राम-चरित-मानस में बड़ा दोष आ गया है। सीता की वियोग-व्यथा से पीड़ित होकर रामचन्द्र जी ने जो विलापोद्गार किये हैं, उन्हें पढ़ कर हृदय द्रवीभूत हो जाता है। सम्भव नहीं कि कोई पाठक उन स्थलों को पढ़ कर—जहाँ तुलसी दास जी ने करुण-रस का स्रोत बहा दिया है—आँसू न बहावे। परन्तु ऐसे स्थानों में तुलसी दास जी हठात् कह देते हैं—ये तो ईश्वर हैं, नर-लीला कर रहे

हैं, इन्हें कहाँ दुख-सुख ! उस समय हृदय हताश हो जाता है; क्योंकि तब वे हम से बहुत दूर हट जाते हैं। कौशल्या की भाँति हम भी हाथ जोड़ कर कहते हैं—'भगवन्, आप अपना विश्वरूप मत दिखलाइये। ईश्वर के रूप में मत आइये। हमें आप तपस्वी-रूप में ही दर्शन दीजिये।' इसी प्रकार धनुष-भङ्ग में सीता के हृदय में आशा और निराशा का जो द्वन्द्व-युद्ध चला है, उस से क्षण भर के लिये हृदय-स्पन्दन रुक जाता है। परन्तु ज्यों ही तुलसीदास जी हमें इसका स्मरण कराते हैं कि सीता जी जगज्जननी हैं, त्यों ही हमारा औत्सुक्य नष्ट हो जाता है। क्योंकि तब वे हम से बहुत दूर हट जाती हैं—वहाँ जहाँ क्षुद्र मनुष्य के क्षुद्र भाव नहीं पहुँच सकते। वाल्मीकि जी ने रामचन्द्र जी की ईश्वरता पर ज़ोर नहीं दिया है। उन्हें मनुष्य के रूप में ला कर मनुष्यों के लिये उनका चरित्र सुगम कर दिया है। सीता जी के चरित्र-चित्रण में तो उन्हें बड़ी सफलता हुई है। ऐसा दिव्य चरित्र अन्य किसी कवि ने नहीं अङ्कित किया है। यही कारण है कि हज़ारों वर्ष बीत गये तो भी वाल्मीकि का मधुर गान भारतीय नर-नारियों के कान में आज भी ध्वनित हो रहा है। प्राचीन अयोध्या ध्वंस हो गई, किन्तु हिन्दू-समाज के हृदय में रामायण की अयोध्या आज भी प्रतिष्ठित है। संसार में हिन्दू-जाति का जब तक अस्तित्व रहेगा तब तक उसके हृदय से रामायण का

प्रभाव दूर न हो सकेगा।

मानव-जाति एक ही है तो भी देश और काल के व्यवधान से वह अनेक खण्डों में विभक्त हो गई है। धर्म के समान साहित्य का भी यही एक उद्देश्य है कि वह मनुष्यों को एक दूसरे से पृथक् रखने वाले इस व्यवधान को उठा दे। यदि यह कभी सम्भव हो जाय, तो हम पृथ्वी पर सौन्दर्य का यथार्थ रूप देखलें। परन्तु भिन्नता दूर होने के स्थान में बढ़ ही रही है। धार्मिक क्षेत्र में जब कभी किसी महात्मा ने मानव-जाति को एक करने की चेष्टा की, तब न केवल उसकी चेष्टा व्यर्थ हुई, बल्कि उस से संसार में भेद-भाव की संख्या बढ़ाने वाले एक और नए पन्थ की सृष्टि हो गई। संसार में जितने मत प्रचलित हैं, उन सब का प्रारम्भ इसी उद्देश्य से हुआ था। तो भी हम देखते हैं कि उन्हीं से संसार में पारस्परिक विद्वेष और घृणा के भाव फैले हैं। परन्तु साहित्य के क्षेत्र में यह हाल नहीं है। यहाँ किसी महान आत्मा का अभ्युदय होने पर विद्वेष और घृणा के स्थान में प्रेम और सहानुभूति के भाव जाग्रत होते हैं। सभी लोग परस्पर मिलते-जुलते, देते-लेते, हैं और इस प्रकार अपना जातित्व छोड़ कर मनुष्यत्व ग्रहण करते हैं। साहित्य में आदान-प्रदान का यह कार्य बड़ी शान्ति से होता है। किसी की दृष्टि भी उस पर नहीं जाती। भारत ने योरुप को कितना दिया और उस से कितना लिया, इस विषय का अनुसं-

धान करना पुरातत्व-वेत्ताओं का काम है। हम तो यही कहेंगे कि यह समग्र साहित्य विश्व-साहित्य है और वह समस्त मानव-जाति के कल्याण के लिए निर्मित हुआ है। टेम्स, गङ्गा, मिसीसिपी आदि नदियों का उद्भव कहीं हुआ हो, परन्तु अन्त में वे सभी आकर अनन्त समुद्र में गिरती हैं। इसी प्रकार वाल्मीकि, व्यास और होमर का जन्म कहीं हुआ हो, उनकी काव्य-धाराएँ एक अनन्त विश्व में गिर कर पूर्णता लाभ करती हैं।

४३

हेनरी फेत्रर

प्रकृति का राज्य रहस्यपूर्ण है। जो उसमें विचरण करता है, वह प्रकृति की विलक्षणता से मुग्ध हो जाता है। कहीं पहाड़ों की शृङ्गमाला है, तो कहीं विस्तृत वन-भूमि है। कहीं अनन्त जल-सागर है, तो कहीं तप्त बालुकामय रेगिस्तान है। प्रकृति के कौतुक, उसकी क्षुद्रातिक्षुद्र लीलाएँ हमें आश्चर्य-सागर में डाल देती हैं। सच तो यह है कि उसकी सभी बातें विस्मयोत्पादक हैं, सभी आह्लाददायिनी हैं।

प्रकृति के इसी राज्य में हमारे चरितनायक हेनरी फेत्रर के जीवन का अधिकांश व्यतीत हुआ है। प्राणि-शास्त्र के विद्वानों में

उनका स्थान बहुत ऊँचा है। यद्यपि वे अब इस संसार में नहीं हैं, तथापि उनकी कीर्ति अभी तक विद्यमान है। उनका जन्म उस समय हुआ था, जब फ्रॉंस में घोर अशान्ति फैली हुई थी; और आश्चर्य तो यह है कि उनकी मृत्यु भी उसी समय हुई जब फ्रॉंस शत्रुओं से पीड़ित था। यद्यपि उन्हें नाना प्रकार के सांसारिक दुःखों से सामना करना पड़ा, दरिद्रता की बेड़ी से बहुत काल तक वे जकड़े रहे, तो भी मधु-मक्खियों, पतङ्गों, मकड़ियों आदि की संगति में रह कर ही उन्हों ने अपने को कृतार्थ समझा।

प्राणि-शास्त्र को इतना समुन्नत करने वाले विद्वान फेवर एक दरिद्र पिता के पुत्र थे। जीवन भर कठिन परिश्रम करने पर भी वे दरिद्रता के चंगुल से मुक्त न हो सके। यदि वे चाहते तो किसी विश्वविद्यालय के अध्यापक अवश्य हो जाते, परन्तु उन्होंने अपने गाँव में गरीबी से जीवन बिताना ही पसन्द किया। यहीं उनका समय मकड़ियों के जालों और भौंरों के घरों के निरीक्षण में बीता।

फेवर महाशय का जन्म दक्षिण फ्रॉंस के सेंट लिवोन्स नामक ग्राम में, सन् १८२३ ईसवी में हुआ था। उनके पिता वहाँ एक छोटे से होटल में दरबान थे। घर में दरिद्रता का अखण्ड राज्य रहते हुए भी बालक फेवर को जरा भी कष्ट नहीं था। घर के सामने

का उद्यान उनके खेलने का चौगान था। छोटे छोटे कीड़े-मकोड़े तथा फूल-पत्ते उनके साथी थे। खेल की ऐसी आनन्ददायिनी सामग्री के कारण उनको बाल्यावस्था में दुःख का किञ्चिन्मात्र भी अनुभव नहीं हुआ।

सात वर्ष की अवस्था में वे पाठशाला में पढ़ने के लिए भेजे गये। उनका शिक्षक एक नाई था। वह अपने व्यवसाय के अतिरिक्त गिरजा घर में घण्टा बजाने का भी काम करता था। फिर भी वह लड़कों को पढ़ाने के लिए समय बचा लेता था। अपने परिवार के साथ वह स्कूल में ही रहता था। उसके जानवरों के कारण विद्यार्थियों को अपनी पढ़ाई में बहुधा बाधा पहुँचती थी। जाड़े के दिनों में प्रत्येक विद्यार्थी को खुद आग जलाने के लिए जङ्गल से लकड़ियाँ चुन लानी पड़ती थीं। यद्यपि स्कूल की ऐसी दीन दशा थी, तो भी उसके शिक्षक ने अपने भरसक ऐसा प्रयत्न किया कि उसके विद्यार्थियों में विद्या के प्रति अनुराग जाग्रत हो गया। उसका उपकार हेनरी अपने जीवन भर मानते रहे।

अकाल के कारण हेनरी के पिता को रोडेज़ नगर में नौकरी करनी पड़ी। वहाँ हेनरी को पाठशाला में पढ़ने का फिर अवसर मिला। इतने दिनों की ही पढ़ाई में उन्हें महाकवि वर्जिल के ग्रन्थ समझने की योग्यता हो गई। परन्तु इसी बीच में उन्हें अपनी जीविका के निर्वाह की चिन्ता हुई। वे उस समय सिर्फ सोलह

वर्ष के थे। काम सीखने के लिए समय न था। पशु, पत्ती, कीड़े, मकोड़े तथा फूल-पत्तों का ज्ञान तो धनोपार्जन का साधन नहीं। अतएव वे देहाती बाज़ारों में घूम फिर कर नींबू बेचने लगे। उस समय उनको बहुत कष्ट हुआ; परन्तु प्रकृति-प्रेम और विद्याभिरुचि के कारण उन्हें वह कष्ट कष्ट न जान पड़ा।

इस प्रकार विद्याभ्यास में निरत रहने के कारण फेबर साहब को एक छात्रवृत्ति मिली। गणित और भूमितिशास्त्र में उन की विशेष रुचि न थी। फलतः वे आलसी और मन्द-बुद्धि विद्यार्थियों की श्रेणी में गिने गये। इससे उनको ग्लानि हुई और उन्हों ने अपनी असाधारण बुद्धि का परिचय देने के अभिप्राय से ३ साल की पढ़ाई केवल डेढ़ साल में समाप्त कर दी। परीक्षा में प्रथम श्रेणी में पास हुए। इसी समय वे कारपेन्ट्रास ग्राम की प्रारम्भिक पाठशाला में ३०) मासिक वेतन पर अध्यापक नियुक्त हुए। वहाँ भी उन्हों ने अपने प्रकृति-निरीक्षण का काम जारी रक्खा।

२१ वर्ष की अवस्था में फेबर साहब ने विवाह किया। तब उन्हें अधिक धन उपार्जन करने की चिन्ता हुई। भाग्य ने भी उनका साथ दिया और वे गणित तथा विज्ञान-शास्त्र की उच्च परीक्षा पास करते ही कार्सिका द्वीप के एजीकियो कालेज में अध्यापक हो गये। अब जाकर वे दरिद्रता के बन्धन से थोड़े बहुत मुक्त हुए। इस स्थान के प्राकृतिक दृश्यों से उन के मन में नई नई बातें

उत्पन्न होने लगीं। उन का अवकाश का समय फूल, घोंघे और कीट-पतङ्ग एकत्र करने में बीता करता था। वहाँ एक प्रोफेसर से उनकी मित्रता हो गई। वे भी गणित शास्त्र और प्राणिशास्त्र के प्रेमी थे। एक दिन भोजन करते समय उन्हों ने फेब्र को घोंघे के सम्बन्ध की कुछ अनोखी बातें बताईं। वे बातें उन्हों ने घोंघों को चीर फाड़ करके खोज निकाली थीं। इससे फेब्र को एक नया ही तरीक़ा मालूम हुआ। भिन्न भिन्न प्रकार के प्राणियों को एकत्र करने और उन के वाह्य शरीर की रचना पर विचार करने के सिवा वे अब शस्त्र द्वारा चीर-फाड़ करके फूलों और कीड़े-मकोड़ों की जाँच करने लगे।

इस विषय में फेब्र साहब की ज्ञान लिप्सा इतनी बढ़ी कि वे दिन-रात परिश्रम करने लगे। इससे उनका स्वास्थ्य बिगड़ चला और उन्हें अपनी बदली करानी पड़ी। अब की बार वे फ्राँस के एह्विगनोन गाँव की पाठशाला में अध्यापक हुए। वहाँ भी वे अपनी शिष्य-मण्डली के साथ बाहर खेतों में घूमा फिरा करते थे।

स्कूल में कामों में फँसे रहने के कारण फेवर साहब को प्राकृतिक विज्ञान का अध्ययन करने के लिए कम अवकाश मिलता था। उनकी यह बड़ी इच्छा थी कि वे किसी विश्वविद्यालय में अध्यापक हो जायँ जिससे उन्हें पशु-पक्षियों और पौधों के सम्बन्ध में शिक्षा देने का अवसर मिले। यदि वे अपने निश्चय पर दृढ़

रहने, तो उनकी कामना फलीभूत हो जाती और विश्वविद्यालय के विद्यार्थी भी उन के ज्ञान से लाभ उठाते। परन्तु उन्होंने अपनी इच्छा को फलित होते न देख अपना विचार छोड़ दिया और अपना समय प्राकृतिक अनुसन्धान में लगाना ही उचित समझा।

एक दिन शरत्काल में सन्ध्या समय फेबर साहब को 'बरैया' के छत्ते पर एक लेख पढ़ने को मिला। उस में लेखक ने छत्ते का तो वर्णन किया ही था, कुछ रीतियाँ भी बतलाई थीं जिन से नई खोज की जा सके। इस लेख से फेबर साहब की कार्य-प्रणाली ही बदल गई। अब वे मृतप्राणियों की जाँच-पड़ताल करना छोड़ कर जीवित प्राणियों की विशेषताएँ ढूँढ़ने लगे।

उपर्युक्त लेख प्राणि-शास्त्री ड्यफोर का लिखा हुआ था। उनका कहना था कि बरैया अपने छत्ते में यहाँ वहाँ से जिन गुबरीलों को लाकर सञ्चित करती है, वे एक एक, दो दो महीने तक पड़े रह कर भी न सड़ते हैं, न गलते हैं। उनका शरीर ज्यों का त्यों बना रहता है, बिगड़ता नहीं। इस पर उन्हों ने यह अनुमान किया कि बरैये के डङ्क से निकले हुए विष में ज़रूर कोई ऐसी शक्ति है जिसका प्रयोग गुबरीलों पर होते ही उनका मृत शरीर बिगड़ने नहीं पाता। फेबर साहब ड्यफोर के इस कथन की जाँच करने को तत्पर हो गये। बहुत खोज करने पर उन्हें विदित हुआ कि लेखक की बातें ठीक नहीं; क्योंकि बरैया अपने छत्ते में जितने गुबरीले

एकत्र करती है, वे बहुत काल तक वहाँ कैद रहने पर भी मरते नहीं। हाँ उनकी चलने फिरने की शक्ति ज़रूर नष्ट हो जाती है, जिससे मादी बरैंया के अण्डों से बच्चे निकलने तक वे जीवित रहें और बच्चों को यथा समय ताज़ा भोजन मिल सके। क्या खूब, बरैंया भी बड़ी अग्रशोची निकली!

फेवर साहब ने अपनी इस खोज को पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया। उनकी यह पुस्तक इतनी रोचक, सरल और मौलिक निकली कि सब वैज्ञानिक इस ग्रामीण पाठशाला के अध्यापक की असाधारण बुद्धि पर मुग्ध हो गये। डारविन तक ने इस पुस्तक की प्रशंसा की। उन्हें इस पुस्तक के बदले में पारितोषिक तो कम मिला, परन्तु वैज्ञानिकों की उदार आलोचनाओं से वे विशेष रूप से उत्साहित हुए।

यदि फेवर साहब को अपनी जीविका की चिन्ता न होती और यदि वे केवल प्रकृति-विज्ञान के अध्ययन में ही संलग्न रहते तो सम्भव था कि वे संसार में कोई बड़ा काम कर दिखाते। दासत्व के बन्धन से मुक्त होने के लिये उन्होंने उद्योग तो किया, परन्तु अपने भोले भाले स्वभाव के कारण चूक गये। उन्होंने मजीठ की जड़ से रङ्ग बनाने का सुगम उपाय खोज निकाला। पर वे उसे गुप्त न रख सके। दूसरे लोगों ने उसे जान कर ख़ासा लाभ उठाया और वे मुँह ताकते रह गये। उनके इस आविष्कार ने उद्योग-

धन्धे में बड़ा भारी परिवर्तन कर दिया। कृत्रिम रङ्ग बनाने की युक्ति निकालने के पहले तक इसकी .खूब प्रतिष्ठा रही।

इस आपत्ति-काल में एक पुस्तक-प्रकाशक से सहायता पाने पर उन्होंने उसके लिए प्राकृतिक-विज्ञान-विषयक बहुत सी बालोपयोगी पुस्तकें लिखीं। इन पुस्तकों की ओर फ्रॉस के शिक्षा-विभाग के मन्त्री का ध्यान आकृष्ट हुआ और उस ने फेब्रर को उन की असाधारण योग्यता के बदले उपाधि प्रदान की। इन्हीं मन्त्री महाशय की सहायता से उन्हें फ्रॉस के बादशाह से साक्षात्कार करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। यदि उन में भोलापन और निर्भीकता की मात्रा न रहती, तो सम्भव था वे राजकुमारों के शिक्षक नियुक्त हो जाते। बादशाह और काश्तकार दोनों में कुछ भेद न रखने के कारण उन्हें फिर अपने कीट-संसार में वापस आना पड़ा। पेरिस की यात्रा के अनन्तर प्रसिद्ध लेखक जान स्टुअर्ट मिल से इन की भेंट हुई। इन दोनों में मित्रता हो गई। खेतों में घूमना, फूल-पौधों की विलक्षणता पर विवाद करना, भूमि पर लेटे लेटे कीट-पतङ्गों का कौतुक देखना, यही इन दोनों का नित्य-कर्म हो गया। इन्हें देख कर गाँव के किसान हँसी करते थे।

दिन के अतिरिक्त रात के समय भी पढ़ाने की नौकरी फेब्रर को मिल गई थी, परन्तु इनके हित-चिन्तक मन्त्री महोदय के पदच्युत हो जाने पर इनकी भी नौकरी छूट गई। इसके सिवा

पाठशालोपयोगी पुस्तकों की रायलटी मिलना भी बन्द हो गया। इस सङ्कट में फेवर ने जान मिल की मदद चाही। उदारचेता मिल ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और बिना दस्तावेज़ के उन्हें एक अच्छी रक़म दे दी।

फेवर को जीवन भर कठिन परिश्रम करना पड़ा। उन्होंने मिल साहब के सब रुपए अदा कर दिए, परन्तु आजन्म उनका उपकार मानते रहे। इस के बाद एकान्त में रहने की इच्छा से वे सेरिग्नान की शान्ति-कुटीर में चले आए और तीन वर्ष के बाद वहीं से उन्हों ने एक ग्रन्थ प्रकाशित किया। उसकी अच्छी क़द्र हुई। इस के बाद उन्हों ने 'निःसार भूमि-खण्ड' नामक एक पुस्तक लिखी। उसमें उन्होंने अपने बगीचे के कीट-पतङ्गों का जीवन-वृत्तान्त लिखा। उसमें कीड़ों के सम्बन्ध में ऐसी ऐसी बातें बताई गई हैं जिन्हें मनुष्य पहले न जानते थे। क्षुद्र प्राणियों के प्रति अगाध प्रेम होने के कारण उनकी छोटी छोटी और तुच्छ बातें भी उन्हें आनन्द-प्रद थीं। एक स्थान पर वे लिखते हैं कि ये तुच्छ जीव अपनी सहजबुद्धि से विलक्षण काम करते हैं। ऐसा कोई मनुष्य न होगा जो मकड़ी के जाले को देख कर उसकी कारीगरी की प्रशंसा न करे। परन्तु आश्चर्य है कि जिस मकड़ी में जाला बनाने की योग्यता है, उसमें उसको सुधारने की शक्ति नहीं। जान पड़ता है कि फेवर महाशय मकड़ी की बुद्धि और असमर्थता

का यह अद्भुत मेल देख कर चकरा गये थे। क्योंकि उन्होंने अपनी पुस्तक में इस बात का उल्लेख कई स्थानों में किया है। उनके खोज करने के साधारण ढंग थे। एक सूक्ष्म-दर्शक काँच, चीर-फाड़ करने की दो छुरियाँ, एक रकाबी, नमूने रखने के लिए दियासलाई की कुछ खाली डिब्बियाँ, टीन के डब्बे और तार के बने ढक्कन, बस यही फेबर की प्रयोग-शाला। (लेबोरेटरी) का सामान थे।

फेबर साहब की सफलता का सबसे बड़ा कारण उनका धैर्य और दृढ़ निश्चय था। अपने विचारों में खलल पहुँचाने वालों को वे सज़ा दिये बिना न रहते थे। यहाँ तक कि बुलबुल की मधुर वाणी भी उस समय उन्हें अप्रिय मालूम होती थी। धृष्टता करने वाले पक्षी उनकी बन्दूक का निशाना बनते थे। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि फेबर साहब क्रूर थे। नहीं, उनका चित्त बड़ा कोमल और दयार्द्र था।

७८ वर्ष की अवस्था में फेबर साहब को दरिद्रता का फिर सामना करना पड़ा। इस समय उनके मित्रों ने उन्हें सहायता दी और सरकार से पेन्शन मिलने लगी। उनकी बनाई हुई पुस्तकों की अधिक बिक्री होने के कारण उनके अन्तिम दिन सुख से बीते। १२ अक्तूबर १६१५ ईसवी को जिस समय उनका देश, फ्राँस, शत्रुओं से घिरा हुआ था, उन्होंने अपनी इहलीला संवरण की।

ब मिला कर प्राणि-शास्त्र-विषयक ग्यारह पुस्तकें लिखीं

हैं। महत्त्व-पूर्ण होने के कारण उनकी सभी पुस्तकें आदरणीय हुईं।

फेवर कृत 'विचित्र देश की गाथा' नामक पुस्तक अत्यन्त रोचक और शिक्षाप्रद है। उसमें जीव-जन्तुओं की लीला, उनकी कार्य-कुशलता और बुद्धिमत्ता बड़ी योग्यता से, निरीक्षण करके, लिखी गई है। उसी की एक कहानी का अनुवाद नीचे दिया जाता है।

एक बार मुझे पुराने बादाम के वृक्ष पर भूरे रङ्ग का रेशम का एक कच्चा कोया मिला। उसे मैंने घर ले जाकर मेज़ पर रख दिया। कुछ समय बाद मैं क्या देखता हूँ कि कोये में से एक मयूरपंखी कीड़ा निकल कर बाहर झाँक रहा है। इतना बड़ा पतङ्गा देखने का मौक़ा मुझे और कभी नहीं मिला था। यह कीड़ा अपने रङ्ग बिरंगे पंखों के कारण बड़ा मनोहर था। उसे मैंने तुरन्त काँच के ग्लास में कै़द किया। सन्ध्या समय जब मेरी छोटी बेटी सोने के लिए अपने कमरे में जा रही थी तब वह एकाएक चिल्ला उठी—'दादा दादा, इधर देखो, तुम्हारा पुस्तकालय तो बड़े बड़े पतङ्गों से भर गया है।' मैं तुरन्त अपनी कोठरी में गया। लगभग एक दर्जन के बड़े बड़े पतङ्गे कमरे के भीतर उड़ रहे थे। पता लगाने पर मुझे विदित हुआ कि प्रातःकाल पैदा हुई राजकुमारी पर 'टीका' चढ़ाने के लिए ये सब राजकुमार देश-देशान्तरों से आ कर एकत्र हुए हैं। परन्तु इन्हें यह मालूम कैसे हुआ? यह सच है कि रेशम का कीड़ा कोई साधारण कीड़ा नहीं है और उसकी

प्रेम-पूजा के लिये एक एक दो दो मील से दूसरे कीड़ों का आना कोई विचित्र बात नहीं। परन्तु विचित्रता यह है कि उन्हें इसके शुभ जन्म की सूचना कैसे मिली? यह तो हो ही नहीं सकता कि दृष्टि-शक्ति द्वारा मोर-पंखी के जन्म लेने की बात प्रकट हुई हो। रही श्रवण-शक्ति, वह भी असम्भव प्रतीत होती है; क्योंकि ध्यान दे कर सुनने से भी रेशम के कीड़े के मुँह से किसी प्रकार की ध्वनि सुनाई नहीं पड़ती। ऐसी दशा में उसे गूँगा कहना अनुचित न होगा। जान पड़ता है, इनके आने का कारण केवल गन्ध होगा।

'इस प्रकार तर्क-वितर्क करने के बाद मैंने परीक्षा करना आरम्भ किया। तीक्ष्ण गन्ध से साधारण गन्ध दब जाती है। यदि रेशम के कीड़े से निकलने वाली गन्ध की अपेक्षा कोई अधिक तीव्र लेवेण्डर की खुली शीशी पतङ्ग के पास रक्खें, तो यह अवश्य है कि सब प्रेमी राजकुमार लेवेण्डर की ओर चले जायँगे और मोरपंखी के पास कोई न फटकेगा। दूसरे दिन सन्ध्या समय सब तैयारियाँ की गईं। सूर्यास्त होते ही पहले दिन से भी अधिक प्रेमी एक एक कर के कमरे के भीतर आ पहुँचे और लेवेण्डर की ओर ज़रा भी ध्यान न दे कर उसी बँदीगृह के आस-पास चक्कर मारने लगे, जिसमें राजकुमारी मोरपंखी क़ैद थी। इस प्रकार पतङ्गों के शरीर से निकलने वाली गन्ध को दबाने की चेष्टा निष्फल हुई।

"यदि हम मयूरपंखी को ऐसे स्थान में बन्द करें, जहाँ वायु का आना जाना न हो सके, तो क्या परिणाम होगा ? क्या वह अपना विचार बेतार के तार-यन्त्र द्वारा अन्य स्थानों को भेज सकेगी ? क्या वह विद्युत् या चुम्बक-प्रवाह से अपना काम लेती है ? यह सोचकर पतङ्गों को काँच के औंधे प्याले के भीतर बन्द करके मैंने परीक्षा की। अब की बार कमरे में किसी प्रेमी का आगमन न हुआ। तब मैंने उस प्याले में एक बारीक सूराख बनाया। देखता क्या हूँ कि राजकुमारी के साथ प्रेमालाप करने के लिए राजकुमारों का समूह आ पहुँचा। मेरी शङ्का का समाधान होगया; और साथ ही यह भी सिद्ध होगया कि क़ैदी चाहे जिस स्थान में बन्द रहे, यदि थोड़ी भी हवा आ जा सकती हो, तो वह अपना सन्देश अपने प्रेमियों के पास बिना रुकावट भेज सकता है।

'इस बड़े रहस्य की व्याख्या समाप्त होने के पूर्व क़ैदी का अन्त हो गया और मुझे अपने प्रश्नों का पूर्णतः उत्तर पाने के लिए बहुत दिनों तक ठहरना पड़ा। सच है, सफलता उसी की दासी है जो धैर्यवान् है और साथ ही अपने कार्य में दृढ़ भी है। परीक्षा के लिए पतङ्गे खोजते खोजते लगभग तीन वर्ष व्यतीत हो गए। अन्त में मुझे मयूरपंखी तो नहीं, परन्तु उसी जाति का एक दूसरा पतङ्गा मिला। इससे मेरी पुरानी पहेली हल हो गई।

'पहले जो मैंने सोचा था कि ये पतङ्गे अपने मित्रों के पास

अपने निवास-स्थान की सूचना गन्ध द्वारा भेजते हैं, वही ठीक निकली। अन्तिम परीक्षा करते समय कैदी तार के पिंजरे में से निकाल लिया गया, जो कोठरी के पिछवाड़े टँगा हुआ था। वह घण्टाकृति काँच के प्याले के भीतर बन्द किया जा कर कमरे की खिड़की के समीप रक्खा गया। संध्या होते ही बहुत से प्रेमी पतङ्ग एक एक कर के आ पहुँचे और सब के सब क़ैदी की ओर बिना दृष्टि डाले उस पर से उड़ते हुए कोठरी में मँडराने लगे। जहाँ क़ैदी बन्द था, वहीं एक भाग कोठरी में आने वालों के लिए खुला था। एक मिनट के बाद आगन्तुक पतङ्गों का समूह उस तार के पिञ्जरे के आस-पास उड़ता हुआ पाया गया, जहाँ क़ैदी कुछ देर पहले बन्द था। इस से प्रकट होता है कि जिस वस्तु को मादी पतङ्गा छू देता है, उस में उस से निकलने वाली गन्ध बस जाती है। यह इतनी सूक्ष्म है कि मनुष्य उसे जान नहीं सकते। भला इतनी सूक्ष्म गन्ध लेवेण्डर की तीव्र गन्ध को कैसे दबा देती है? इस प्रश्न का कुछ उत्तर नहीं मिलता। मेरी समझ में उस के शरीर से निकलने वाली गन्ध के दो गुण हैं। एक में उसका प्रभाव वायु में मिले हुए परमाणुओं द्वारा होता है, और दूसरे में ईथर के प्रवाह से।'

अलाउद्दीन ने इधर चिराग़ घिसा और उधर एक महल तैयार हो गया। ऐसा ही विलक्षण हाल भूमि की गाथा का है। इस

सम्बन्ध में फेब्रर साहब ने एक चतुर प्राणी की कारीगरी का हाल लिखा है। यहाँ हम उसका केवल संक्षिप्त विवरण देते हैं।

बकायन और गुलाब के पत्तों में विचित्र प्रकार के छिद्र देख पड़ते हैं। उन में कुछ तो वृत्ताकार और कुछ अण्डाकृति रहते हैं। इन छिद्रों को देखने से यही प्रतीत होता है कि यह किसी स्तुत्य और चतुर कारीगर का काम होगा। अण्डाकृति छिद्र भिन्न भिन्न परिमाण के होते हैं; परन्तु वे शुद्धता से कटे हुए रहते हैं। भला, कहो तो इन कपड़ों को काटने-छाँटने वाला दरज़ी कौन होगा? वह दरज़ी मधु-मक्षिका है जो अपना घर बनाने के लिए काट-छाँट कर पत्ते एकत्र करती है।

पत्तों के अण्डाकृति टुकड़ों से थैली बनाई जाती है जिस में अण्डे और मधु रक्खे जाते हैं। पत्तों के छोटे वृत्ताकार टुकड़े थैलियों के ढक्कन का काम देते हैं। इन्हीं से थैलियों का मुँह बन्द किया जाता है। मधुमक्खी १०–१२ थैलियों से अपने घर का बाहरी ढाँचा बना लेती है। वह प्रायः अपना घर पृथ्वी पर रहने वाले कीड़े मकोड़ों के ख़ाली बिल में बनाती है। यदि बिल की गहराई ६–७ इञ्च से अधिक हुई, तो वह उसे पत्तों से पाट कर उस की गहराई कम कर देती है। बिल के अन्य रास्ते भी मज़बूत पत्तों के फाटक से रूँध दिए जाते हैं। बहुधा देखा गया है कि मधुमक्खी अपने बच्चों के लिए कोमल कोमल पत्तों से पालना भी बनाती है।

थैली के भीतर मुलायम पत्ते का अस्तर रहता है। उसी के ऊपर ढकना रक्खा जाता है जो उस के सिरे पर ठीक ठीक जम जाता है और उस में थैली के भीतर का मधु नहीं लगने पाता। यदि कोई मनुष्य अपना सन्दूक घर में छोड़ कर उस के मुँह की नाप लिये बिना उसका ढकन ख़रीदने को बाजार जाय और दैवात् ठीक परिणाम का ढकन ले आवे, तो उसे बहुत खुशी होगी। ऐसा संयोग पत्ते काटने वाली मधुमक्खियों को नित्य पड़ता है। इसके सिवा मधुमक्खी अपना सन्दूक अँधेरे में बनाती है और वह इस सन्दूक को बिना देखे उस में ठीक ठीक बैठने वाला ऐसा सुन्दर ढकन काट ले आती है, मानों उसने कम्पास का उपयोग किया हो।

फेबर की पुस्तकों में इसी प्रकार की विचित्र कहानियाँ वर्णित हैं। हमारे घर के पास ऐसी बातें रोज होती रहती हैं जिनका हम स्वप्न में भी ख़याल नहीं करते। इन चमत्कारों का वर्णन करके उन्होंने संसार को यह दिखा दिया है कि जिन्हें हम तुच्छ कीड़े समझते हैं, उनमें भी विलक्षण बुद्धि होती है। अतएव हमें उनसे घृणा न करनी चाहिए।

४७

आकाश-गङ्गा

स्वच्छ आकाश की ओर रात के समय देखने से एक सिरे से दूसरे सिरे तक सफ़ेद बादल के समान, अनुमान चार हाथ चौड़ा, एक प्रकाशमय पथ दिखाई देता है। उस पथ को आकाश-गङ्गा कहते हैं। कोई कोई उसे दूध-गङ्गा के नाम से भी पुकारते हैं। अँगरेज़ी भाषा में उसे 'मिल्की वे' कहते हैं। यह प्रकाशमय पथ अथवा आकाश-गङ्गा असंख्य तारों से बनी हुई एक तेजस्क मालिका है।

बड़े से बड़े दूरदर्शक यन्त्र से इस आकाश-गङ्गा का जितना भाग एक बार में दिखाई देता है, उसका एक चित्र एक विद्वान् ने

तैयार किया है। उस मूल चित्र की हज़ारों नकलें की गई हैं, पर उन में असली चित्र की ख़ूबियाँ नहीं आ सकीं। असली चित्र को सूक्ष्म-दर्शक यन्त्र द्वारा देखकर अनेक बड़े बड़े खगोलज्ञ भी आश्चर्य से चकित हो गये हैं। आकाश-गङ्गा का यह चित्र उन्नीसवीं शताब्दी का एक आश्चर्य-कारक आविष्कार है। इस चित्र में कोई चालीस हज़ार छोटे छोटे बिन्दु दिखाई देते हैं। प्रत्येक बिन्दु एक सूर्य्य का चित्र है। चन्द्रमा और पृथ्वी के पास के पाँच ग्रहों के सिवा आकाश में रात को जितने तारे देख पड़ते हैं, वे सब शुक्ल-उष्ण अथवा रक्त-उष्ण प्रकाश वाले सूर्य हैं। हम इन सभी को 'तारा' शब्द से ही पुकारते हैं। पर इन का यह नाम ठीक नहीं, क्योंकि इन का शास्त्रीय अर्थ यह नहीं हो सकता।

हमारा सूर्य इस पृथ्वी से १३, १०,००० गुना बड़ा है। यदि उस की तुलना आकाश-मण्डल के तारों से की जाय तो मालूम होगा कि सूर्य भी एक तारा ही है। आकाश-गङ्गा नभोमण्ल में हमें एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैली हुई दिखाई देती है। उस में छोटी बड़ी असंख्य तारकाएँ हैं। उन में से प्रत्येक हमारे सूर्य से बहुत बड़ी है। पृथ्वी से बहुत दूर होने के कारण हम को ये तारकाएँ ऐसी दिखाई देती है, मानों एक दूसरी के बहुत निकट हों। पर वास्तव में इन का पारस्पारिक अन्तर करोड़ों मील का है। दूर से देखने से जङ्गल के वृक्ष बहुत पास पास उगे हुए मालूम होते हैं। पर

निकट जाने से यह बात ज्ञात होती है कि वे एक दूसरे से बहुत अन्तर पर हैं। इसी तरह आकाश-गङ्गा का प्रकाशमान पथ भी हमें ऐसा दिखाई देता है मानों मोती टँके हुए वस्त्र का एक लम्बा टुकड़ा एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैला हुआ है। अत्यन्त दूर-दर्शी दूरबीन से आकाश-गङ्गा का जो अप्रतिम सौन्दर्य दृष्टिगोचर होता है, उसका वर्णन शब्दों की शक्ति से बाहर है। नीचे दिये गये दृष्टान्त द्वारा उसका कुछ आभास ध्यान में आ सकेगा।

एक बड़े कमरे में काली मखमल का फर्श बिछा दिया जाय और फिर कमरे की छत से बिजली के सैंकड़ों दीपक लटका दिये जायँ। तदनन्तर कमरे के काले फ़र्श पर दो मन हीरे, माणिक और मोती आदि रत्न बिखेर दिये जायँ। तब बिजली का बटन दबा कर सारे दीपक जला दिये जायँ। दीपक को जलाने के बाद जो दृश्य उस कमरे का हो जायगा, उस के सौन्दर्य से तेज़ दूरबीन के द्वारा देखे गये आकाश-गङ्गा के सौन्दर्य का कुछ अनुमान देखने वाले के ध्यान में आ सकेगा।

तेज़ दूरबीन से नीला आकाश कहीं कहीं ऐसा दिखाई देता है, मानो उस में बड़े बड़े सूर्यों का ढेर लगा है और कहीं कहीं ऐसा भी देख पड़ता है, मानो इन सूर्यों की दीवारें खड़ी कर दी गई हैं। कहीं कहीं बड़े बड़े मीनार और कहीं कहीं दरवाजे से भी दिखाई देते हैं। कहीं तो ये सूर्य एक दूसरे के निकट ऐसे

अव्यवस्थित रूप में पड़े हुए दिखाई देते हैं कि तेज़ से तेज़ दूरबीन भी उन्हें स्पष्टता से नहीं दिखा सकती। इस दृश्य को देख कर विद्वानों को जो आनन्द होता है, उसकी कल्पना करना कठिन है। परमात्मा की इस अनोखी सौन्दर्यमयी रचना को देखकर विद्वान् लोग भूख, प्यास और संसार के जटिल जंजालों को एक दम भूल जाते हैं। इस के सिवा इस सूर्यमय प्रदेश की बड़ी बड़ी गुफाएँ और बड़े बड़े दरवाज़े यह सूचित करते हैं कि मानों वहाँ अवकाशरूपी अनन्त अरण्यों की शोभा देखने के लिए खिड़कियाँ बना दी गई हों। सूर्य के आस पास के प्रकाशमान स्थानों के साथ इन खिड़कियों की तुलना करने से ये काजल की तरह काली काली दिखाई देती हैं। सूर्य के प्रकाशमान भाग से आगे की ओर दृष्टि ले जाने वाली इन खिड़कियों में से किसी एक की ओर अचानक दूरबीन का काँच हो जाता है, तब दर्शक को एक दम चकित हो जाना पड़ता है।

आकाश के थोड़े बहुत चमत्कार दूसरों को दिखाने में फ़ोटोग्राफी की सहायता से मनुष्यों को किसी अंश में अच्छी सफलता प्राप्त हुई है। इस अद्भुत दृश्य को दृष्टि एकटक देखती रह जाती है, पर वाणी इसे प्रकट नहीं कर सकती। आकाश-प्रदेश अगम्य है। इससे मनोदेश पर अङ्कित हुए उसके दृश्यों के चित्र शीघ्र मिट जाते हैं। नभोमण्डल के अनन्त सूर्यों के साफ़ साफ़ चित्र

प्लेटों पर लिये जा सकते हैं। यह इस शताब्दी का एक अद्भुत आविष्कार है। सम्पूर्ण नभोमण्डल के चित्र २५ हजार भिन्न भिन्न प्लेटों पर उतारे गए हैं। उनके द्वारा आकाश के जो अद्भुत चमत्कार दिखाई देते हैं उनका यथार्थ वर्णन मनुष्य की वाणी और लेखनी से परे है। खगोल शास्त्र के जानने वालों का मन तथा बुद्धि इन दृश्यों को देखकर आश्चर्य के महासागर में गोते खाने लगती है।

आकाश-गङ्गा हमसे कितनी दूर है, इसका अनुमान भी हम में से बहुतों ने न किया होगा। उसकी दूरी की कल्पना तुम्हें हो जाय, इस लिए हम उसका कुछ हाल सुनाते हैं। मान लो कि एक मिनट में एक मील चलनेवाली रेलगाड़ी पर हम सवार हुए और ड्राइवर ने उसके एञ्जिन को आकाश-गङ्गा की ओर बढ़ाया। एक घण्टे में साठ मील दौड़ने वाली हमारी गाड़ी दिन रात चलती ही रही। हम पृथ्वी, चन्द्रमा और सूर्य को भी पार करके आगे निकल जायँ। इस प्रकार एक अब्ज (शंख) वर्ष तक रात-दिन हमारी गाड़ी भागती रहे, तब कहीं, हमारे प्रवास का आधा भाग पूरा हो सकेगा। विचार करना चाहिए कि एक घण्टे में साठ मील चलने वाली गाड़ी ने एक अब्ज वर्षों में कितनी यात्रा की। हिसाब लगा कर वर्षों की संख्या जानने पर कदाचित् मनुष्य की कल्पना को भी चकित होना पड़े।

अपने प्रवास के आधे भाग पर हम थोड़ी देर के लिए ठहर जायँ और फिर आकाश-गङ्गा की ओर देखें, तो वहाँ से भी वह वैसी ही दिखाई देगी, जैसी पृथ्वी से देख पड़ती थी। इस स्थान से यदि हम उसका चित्र लें तो इन चित्रों में और पृथ्वी के ऊपर से लिए हुए चित्रों में हमें बहुत थोड़ा अन्तर देख पड़ेगा। पर यदि वहाँ से अधिक तेज़ दूरदर्शक यन्त्र से हम देखें तो कदाचित् कुछ अधिक अन्तर मालूम हो। आकाश-गङ्गा के सूर्य एक दूसरे से दूर हैं, यह बात तो यहाँ से भी दूरबीन द्वारा मालूम हो सकती है। उस स्थान से यदि हम पीछे की ओर फिर कर देखें, तो हमें मालूम होगा कि वहाँ से हमारा सूर्य भी हमें दृष्टिगोचर नहीं होता। तेज़ दूरदर्शक यन्त्र से देखने पर शायद वह हमें एक सामान्य तारे के सदृश दीख पड़े। पर आकाश में ऐसी असंख्य तारकाएँ होने से यह जानना कठिन होगा कि इनमें से हमारा सूर्य कौन सा है।

हम मार्ग में बहुत ठहर गए। यात्रा हमें अभी बहुत दूर की करनी है, इसलिए हमारी गाड़ी फिर चलाई गई। एक अब्ज वर्ष तक इसी प्रकार और चलते रहने पर आकाश-गङ्गा की बाहरी सीमा के किसी भाग में हम पहुँच जायँगे।

इस पिछले प्रवास में यदि हज़ार हज़ार वर्ष के अन्तर से हम आकाश-गङ्गा के चित्र लेते रहें तो, पिछले चित्रों से नए

चित्रों में थोड़ा थोड़ा भेद मालूम होता रहेगा। पहले के चित्रों में तारकाएँ बहुत पास पास दिखाई देती थीं। अब इन नये चित्रों में उनकी दूरी बढ़ती जाती है। आँखों से भी अब हमें हजारों सूर्य आकाश में दिखाई देने लगे हैं। जैसे जैसे हम आगे बढ़ते हैं, ये सूर्य हमें अधिक प्रकाशमान और स्पष्ट दिखाई देते हैं, और इनका परस्पर अन्तर भी अधिक जान पड़ता है। इस प्रकार दो अब्ज वर्ष तक प्रवास करने पर आकाशगङ्गा के प्रदेश के किनारे हम अवश्य पहुँच जायँगे, पर आकाश-गङ्गा के भीतर आ पहुँचे, यह बात हम अब भी नहीं कह सकते, क्योंकि उस समय भी ऊपर की ओर दृष्टि डालने से आकाश-पथ, जैसा हमको पृथ्वी से दिखाई देता था, वैसाही असंख्य तारों से युक्त अब भी दिखाई देता है। डर है कि प्रवास में हमारी गाड़ी कहीं किसी सूर्य के पास न चली जाय, नहीं तो हम और हमारी गाड़ी भस्मीभूत हो जायँ। ऐसा होने से हमारी राख अनन्त प्रदेशों में से कहाँ चली जायगी इसका पता भी हमें न लगेगा।

पृथ्वी से आकाश-गङ्गा की दूरी का अनुमान हम ऊपर के उदाहरण से भी ठीक ठीक नहीं करा सके। वास्तव में वह हमारे लगाए हुए मीलों के हिसाब से भी अधिक दूर है। कई खगोल-शास्त्रियों ने तो गणना की है कि आकाश-गङ्गा के अनेक नक्षत्र हम से इतनी दूर हैं कि वहाँ से हमारी पृथ्वी तक उनका प्रकाश

आने ही में ३,००० से १५,००० वर्ष तक का समय लगता है। प्रकाश का वेग एक सेकेण्ड में १,८६,००० मील है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि आकाश-गङ्गा के सूर्य हमारी पृथ्वी से कितनी दूर हैं।

आकाश गङ्गा के अगम्य प्रदेशों में चमकने वाले ये बड़े बड़े सूर्य किसी तेज़ दूरबीन से ही देखे जा सकते हैं। पर जिन असंख्य पृथ्वियों को ये सूर्य प्रकाशित करते हैं, उन्हें देखने के लिये कोई यन्त्र कैसे समर्थ हो सकता है? ये पृथ्वियाँ कैसी होंगी, इन में कैसे प्राणी बसते होंगे, यहाँ राजकीय, धार्मिक, नैतिक आदि नियम कैसे प्रचलित होंगे, इस बात की क्या कोई कल्पना भी कर सकता है? मान लिया जाय कि आकाश-गङ्गा में एक अब्ज सूर्य हैं—वास्तव में तो उन की संख्या इस से भी अधिक होगी—तो जिस प्रकार हमारे सूर्य के आस पास आठ ग्रह प्रदक्षिणा करते हैं, उसी प्रकार आकाश-गङ्गा के प्रत्येक सूर्य के आस पास भी आठ आठ ग्रह प्रदक्षिणा कर रहे होंगे। इस प्रकार इस असीम आकाश में आठ अब्ज ग्रह तो ऐसे छिपे पड़े हैं, कि वे हमें किसी तरह दिखाई ही नहीं देते।

यदि ये आठ अब्ज ग्रह एक साथ एक ही क्षण में नष्ट होने लगें, तो भी आकाश के अनन्त प्रदेश में कुछ भी हेरफेर होता न जान पड़ेगा। जहाँ ऐसे अब्ज ग्रहों का हिसाब नहीं, उस महासागर में

एक बूँद के समान हमारी यह पृथ्वी किस गिनती में है! परमेश्वर की अनन्त और अपार सृष्टि में हमारी इतनी बड़ी पृथ्वी का कोई हिसाब ही नहीं। हमारे पड़ोसी शुक्र और मङ्गल के निवासियों के सिवाय कोई उसे पहचानता ही नहीं। महासागर के बालू की असंख्य कणिकाओं में से एक कणिका रही तो क्या, और न रही तो क्या? जहाँ करोड़ों ग्रहों का तो क्या, करोड़ों सूर्यों का भी हिसाब नहीं, वहाँ एक क्षुद्र मनुष्य की कौन गिनती है? परमेश्वर की इस अलौकिक और अपूर्व रचना का विचार कर के भी, मनुष्य का अभिमान यदि न चूर्ण हो जाय तो बड़े दुःख की बात है!

इस महान् आकाश में चमकती हुई असंख्य पृथ्वियों, अगणित सूर्यों और अगणित तारकाओं का एक ब्रह्माण्ड है। हमारे शास्त्र कहते हैं कि ऐसे ऐसे २१ ब्रह्माण्ड हैं। वे सब ईश्वरीय माया के प्रदेश के जिस भाग में हैं, उस से कई गुना अधिक भाग वाला एक और प्रदेश है। उस से ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति का अभी आरम्भ ही नहीं हुआ। यह इतना बड़ा माया-सम्भूत प्रदेश परमात्मा के अनन्त और अपार शरीर के साढ़े तीन करोड़ रोमों में से एक की तरह किसी एक कोने में पड़ा हुआ है। योग का तत्व जानने वाले महापुरुष यही कहते हैं—रे मनुष्य! माया के इस छोटे से प्रदेश में ही तेरा, तेरी पृथ्वी का, तेरे सूर्य का और तेरे इस ब्रह्माण्ड का कोई हिसाब नहीं। तो परमात्म-प्रदेश में तेरी क्या गिनती

हो सकती है ? अभिमान को छोड़, नम्र बन और अनवधि आश्चर्यकारक परमात्मा की शरण अनन्य भाव से ग्रहण कर, यही एक मात्र तेरे कल्याण का मार्ग है।

—श्रीलाल शालग्राम पण्ड्या

४८

बर्लिन

लेखक—श्रीयुत कृपानाथ मिश्र एम० ए०

[आपका जन्म चम्पानगर (भागलपुर) में दिसम्बर १९०५ ई० में हुआ था। आप पटना कालेज, पटना, में अँगरेज़ी के असिस्टेंट प्रोफ़ेसर हैं। अँगरेज़ी के विद्वान् होकर भी आप हिन्दी की सेवा करते हैं। आपने विदेश की बात, प्यास, साहित्य आदर्श इत्यादि सात पुस्तकें लिखी हैं। आप योरप की सैर कर चुके हैं।]

बर्लिन आते ही मुझे योरपीय सभ्यता से वितृष्णा हो गई। गत महायुद्ध के बाद योरप का असल रूप बर्लिन में ही दिखाई दिया है। विजय हुई फ्रांस-इँग्लेंड की, पर विजय के उल्लास को जकड़

रक्खा बर्लिन ने। कहीं भी पराजय के चिह्न नहीं। चारों ओर पार्थिव उन्नति के लक्षण दीख रहे थे। बेतार, एरोप्लेन, सिनेमा, थियेटर की कारीगरी में लंदन पेरिस-बर्लिन से उतना ही पीछे पड़ा है जितना कि पटना कलकत्ते से। बर्लिन की तुलना में लंदन-पेरिस गाँव से प्रतीत होते हैं। बिजली की रोशनी के द्वारा अपनी चीज़ों का विज्ञापन जिस खूबी के साथ बर्लिन के दूकानदार करते हैं वह लंदन-पेरिस में एक विशेष प्रदर्शिनी की बात हो जायगी। हाल में ही बर्लिन में एक भोजनालय खुला है—केम्पिन्सकी वाटरलेंड। इसमें आप संसार के किसी भी कोने में बैठ कर वहीं का खाद्य भोजन कर सकते हैं। उदाहरण के लिए आप ईरान का खाद्य ग्रहण करना चाहते हैं। आपने नौकर से अपनी इच्छा प्रकट की। वह आपको लिफ्ट-द्वारा यथास्थान पहुँचा देगा। वहाँ पहुँचते ही आप क्या देखिएगा? ईरानी युवतियाँ अपनी ईरानी पोशाक पहने, ईरानी गीत गाती आपका स्वागत कर रही हैं। ईरानी गन्ध, ईरानी धूप, ईरानी दृश्य चारों ओर हैं। आप अँगरेज़ी बोलिए, फ़ारसी-जर्मन-तुर्की-फ्रेंच बोलिए, आपको समझने-समझाने वाली युवती वहाँ मिल जायगी। इसी प्रकार आप दक्षिण-अमरीका, रूस, स्पेन आदि देशों में भोजन कर सकते हैं। प्रत्येक भवन प्रत्येक देश के दृश्यों को इस वास्तविक रूप में दर्शाता है कि कुछ देर तक आपको यह मालूम ही नहीं होगा कि आप बर्लिन के एक भोजना-

लय में हैं। खर्च भी यहाँ विशेष नहीं। कोई चार रुपये में आप चार-पाँच भाषाओं में चार-पाँच देशों की युवतियों के साथ वार्तालाप कर सकते हैं, चार-पाँच देशों के खाद्य और मद्य ग्रहण कर सकते हैं—यदि आपकी इच्छा हुई तो। इतने सस्ते दाम, में पेरिस और लंदन के किसी प्रसिद्ध भोजनालय में आप प्रवेश भी नहीं कर सकते। ऐसे सुन्दर दृश्य आपको इन दोनों शहरों में कहीं न दीख पड़ेंगे।

पर इससे क्या? विज्ञान की उन्नति से बर्लिन ने अपना रूप खूब सजाया। वृद्ध युवक बने। युवक सुन्दर बने। बालकों ने शरीर मजबूत किया। बालिकायें बालकों की तरह कसरत करने लगीं। युवतियाँ प्रेम को पागलों का प्रलाप समझ नाना कर्म्मों से विरत हुईं। मध्यवयस्का नारी ने अपना रूप युवती की तरह सजाया। वृद्धा ने चर्म्म के कुञ्चन पर विजय पाई, जवानी के वेग को फिर रक्त में दौड़ाया—ओषधि-प्रयोग से। किसलिए? बस, यहाँ सभी चुप हैं। कोई उत्तर नहीं दे रहा है इस प्रश्न का। बहुतेरे इस प्रश्न की आवश्यकता भी नहीं समझते। बर्लिन का हृदय सूखा है। इसने मखमल के अँगरखे से दिल के घावों को ढाँकने का कठिन परिश्रम किया है। घाव ढँके नहीं, ज्यों के त्यों हैं। देखने-वाला इन्हें देख ही लेता है, बाहरी परदे को फाड़ कर।

बर्लिन के इसी क्षत-विक्षत हृदय को देख कर मुझे अत्यन्त

क्षोभ हुआ। इसके मकान और महलों के वर्णन की और कोई आवश्यकता नहीं। मैंने लंदन-पेरिस का विस्तृत वर्णन इसलिए किया था कि आप योरप की समता को भली भाँति समझ सकें। लन्दन-पेरिस की तरह ही बर्लिन में भी सिनेमा हैं, थियेटर हैं, बैंक हैं, एक्सचेंज हैं, म्युज़ियम हैं, ओपेरा-चित्रालय-संगीतालय आदि सभी हैं। सच तो यह है कि नगर का निर्माण ही इस असुन्दर समता की नींव पर होता है। लोग इसी समता को देखकर शहर की प्रशंसा व निन्दा करते हैं। यह भूल है। मैंने लन्दन को जादू का पिटारा कभी नहीं समझा, न पेरिस को कभी पहेली। बाहरी आवरण शहर के होते हैं अवश्य, पर शहर की आत्मा इनमें छिपी नहीं रहती। लन्दन-पेरिस का असल रूप अँगरेज़-फ़राँसीसी के बीच दिखाई पड़ता है और बर्लिन का रूप जर्मनों में।

सच पूछिए तो जर्मन ही असल योरपीय है। बेचारा अँगरेज़ जर्मन के सामने चींटी की तरह दिखाई देता है। फ़राँसीसी का हृदय इतना सङ्कीर्ण होता है कि फ्राँस को छोड़कर वह और कुछ समझता ही नहीं, समझ सकता भी नहीं। जर्मन इन दोनों के ऊपर सर्वज्ञ की भाँति विराज रहा है। किसी भी शिक्षित अँगरेज़ से पूछिए, संस्कृत क्या है? आपको उत्तर न मिलेगा। एक बार एक अँगरेज़ ने किसी से कहा, Where, in which part,

is Sanskirt in India ?" इसने संस्कृत को एक शहर समझ रक्खा था। प्रायः सभी जर्मन संस्कृत की खबर रखते हैं, गाँधी की जीवनी पढ़ते हैं, रवीन्द्र ठाकुर की कविता मुखस्थ करते हैं। ज्ञान की तृष्णा जर्मनों को बेहद है। ये सभी बातें जानते हैं। बिधाता से ही इनकी होड़ है।

जानना और समझना एक नहीं। आप फूल के सम्बन्ध में सभी बातें जान सकते हैं—फूल क्यों खिलता है, किस सरल पदार्थ के अवयव से उसका रूप परिपुष्ट होता है, प्रकृति के किस नियमानुसार उसका नाश हो जाता है, गन्ध का आधार कौन सी वस्तु है ? पर फूल को समझता है वही (शायद कवि !) जो फूल के रहस्य को स्वीकृत कर फूल के मर्म की ओर ध्यान दौड़ाता है। जर्मनों ने सभी वस्तुओं को जानने की असाधारण चेष्टा की है। ये सफल भी हुए हैं दूर तक। पर सफलता की मात्रा इनकी बे-समझ की मात्रा के तुल्य है। इन्होंने जाना सब, समझा कुछ भी नहीं। जीवन की सभी शक्तियों को पराजित कर इन्होंने जब पूछना चाहा, 'अब किधर ?' तब उत्तर मिला ही नहीं। प्रश्न की प्रतिध्वनि व्यङ्ग्य करके विलीन होगई।

फलतः आनन्द के बदले जर्मनों ने पाया कौतुक-मय हर्ष—(Sensation.) अँगरेज बेचारा सोचता ही नहीं। उसका जीवन भारतवर्ष के अपढ़ ग्रामीण की तरह किसी प्रकार स्वच्छन्द रूप

से बीत ही जाता है। भोर होते ही अँगरेज़ को एक समाचार-पत्र चाहिए। इसके बिना उसे चैन नहीं। वह घोड़ों की दौड़ के लिए पैसे खर्च करने के पहले घंटों सोचेगा—प्रतिदिन साँझ को फुटबाल-क्रिकेट के सम्बन्ध में सभों से तर्क करेगा। रात को सरल, स्थूल सङ्गीत-ध्वनि वा नाटक वा उपन्यास से दिल बहला कर (ज्ञान प्राप्त कर नहीं) सो जायगा। फ़राँसीसी की रुचि अँगरेज़ों से कहीं बढ़कर परिमार्जित होती है। अतएव फ़राँसीसी को सूक्ष्म प्रकार के आमोद की आवश्यकता होती है, पर आवश्यकता होती है आमोद की—आनन्द की नहीं। जर्मन इन दोनों से सर्वथा भिन्न है। इसे साधारण वस्तु वा घटना वा अनुभव तृप्त ही नहीं कर सकता है। अतएव यह असाधारण के अन्वेषण में व्यस्त रहता है। अन्वेषण का फल क्या होगा, इसकी इसे चिन्ता नहीं। दुर्भाग्यवश ऐसे अन्वेषण के फल अनेक क्षेत्रों में मारात्मक हो चुके हैं। यही बर्लिन का दुर्भाग्य है—जर्मनों का दुःख—योरुप की व्याधि।

एक उदाहरण लीजिए। बहुत दिनों से जर्मनी के भावुक लोग प्रेम की मीमांसा कर रहे थे। कुछ दिन हुए, इन्होंने सिद्ध कर डाला कि प्रेम मस्तक में एक अभ्रष्ट नस का प्रवाह है। बस और कुछ नहीं, जर्मनी के सभी इस सत्य में भीग गये। युवकों की इच्छायें स्वच्छन्द हुईं, युवतियाँ सतीत्व के नाम लगी हँसने। हँसी हुई। ज्ञान के बल युगों के संस्कार को सभों ने

मन से दूर कर दिया। कुछ दिनों तक खूब मज़ा रहा। पर अब लोग अपनी स्वच्छन्दता से थक कर पूछ रहे हैं, 'अब किधर?' कोई भी उत्तर नहीं मिल रहा है। हृदय के प्रायः सभी रस सूख चुके हैं। संस्कार के प्रायः सभी पल्लव नष्ट हो चुके हैं। अब किस की बारी है? किसे अब तोड़ेंगे? ये ज्ञानबल-पूर्ण जर्मन? ये स्वयं नहीं जानते। ऐसी अवस्था में एक जर्मन दूसरे जर्मन से कुछ पूछने का साहस नहीं कर रहा है। दोनों के हृदय सूखे हैं। एक जर्मन-रमणी दूसरी जर्मन-रमणी को देख कर सिहर उठती है, दोनों ने प्रेम को जला दिया है। इस हृदय की मरुभूमि में पहुँच कर जर्मनों ने एक स्वाँग रचना आरम्भ किया—शरीर को सौंदर्य के आभरणों से सजाने का। इसी स्वाँग में ये आज कल निरत हैं। चारों ओर फिर विज्ञान की भेरी बज उठी है। लोग अपने आप को भुलाने का दारुण प्रयत्न कर रहे हैं। पाप और पुण्य के द्विविध भावों को भुला कर जर्मनी फिर असीम शक्ति की उपासना में लीन हुआ है। उसे किसी की परवा नहीं, न अपनी आत्मा की ही सुध है। आध्यात्मिक दृष्टि से जर्मनी विधवा है। इस वैधव्य की सूचना जर्मनी को बार बार मिल रही है, पर प्रति बार वह करुणाभाव से इस सूचना की ध्वनि को अन्यान्य ध्वनियों में डुबा डालती है। जर्मनी का आधुनिक इतिहास वेश्या की दुःखपूर्ण गाथा की तरह जटिल है। इसने प्रत्येक साधना में—वेश्या की तरह प्रत्येक रूप में—अपने लक्ष्य को

ढूँढ़ना चाहा, दिल सूखने पर। लक्ष्य न मिला, दुःख न मिटा। क्षोभ बढ़ा। विषाद की मात्रा दूनी हुई। इसी विषाद की धीमी आवाज़ बर्लिन के सभी सुरों के परे सुनाई पड़ती है। इसी आवाज़ को सुनकर जर्मन व्याकुल हो नाना प्रकार के बाह्याडम्बरों में बर्लिन को सजाता रहता है। विदेशी को देखकर प्रत्येक जर्मन के दिल में चञ्चलता उत्पन्न होती है। 'क्या समझता है यह विदेशी मेरे देश—मेरे बर्लिन के सम्बन्ध में ?' इसी प्रश्न से प्रेरित होकर वह विदेशी यात्रियों की सुविधा में अपनी सुविधा भूल जाता है। बर्लिन की तरह योरप में और कोई भी दूसरा शहर यात्रियों का स्वागत नहीं करता। बर्लिन ने मेरी आँखें खोल दीं। मैंने योरप के भग्न हृदय का वीभत्स रूप देखा। बड़ी वितृष्णा हुई देख कर।

जर्मनों का हृदय नारी का हृदय है, जिसे कठोर साधनाओं ने सुखा डाला है। जर्मन बालक के सिर पर पुलिस की असुन्दर, भयानक टोपी विराजती है। प्रत्येक जर्मन अपने को कैसर का सिपाही समझता था, अब ज्ञान का भण्डारी समझता है। सभी जर्मनों के हाथ में चमड़े का एक बैग रहता है, जिसे आप पोर्ट-फ़ोलियो कह सकते हैं। इसमें राज-तन्त्र-सम्बन्धी काग़ज़ थोड़े ही रहते हैं। रहते हैं फल-मूल-केले वा किसी खेल के सामान। यह आडम्बर फिर क्यों ? इसलिए कि जर्मन का क्षत वक्षःस्थल आज भी किसी स्पृह साम्राज्य का स्वप्न देख रहा है, इसलिए कि

भग्न आशाओं की समाधि पर भी जर्मन अपने को देवताओं का सहपाठी समझता है। यह भूल है। जर्मनों की शक्ति योरप की अन्धी शक्ति का सर्वोच्च शिखर है। जर्मन रुकना जानते ही नहीं। ठेस जब जब लगती है तब वे खड़े होकर और ज़ोरों से दौड़ते हैं। ऐसी दौड़ में मादकता भरी है। ऐसी दौड़ चक्षु-हीन असीम बलशाली युवक की तरह अनुकरणीय नहीं, करुण होती है।

जर्मनी की यह शक्ति, ऐसी आदर्शहीन साधना विश्व के लिए महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक चितावनी है। और यही जर्मनी का विश्व को एक-मात्र दान है। जिसने अपने आपको खोया है वह दूसरों को चितावनी के अतिरिक्त और कुछ नहीं दे सकता। जिसने अपने को ढूँढ़ने की शक्ति का अपव्यय किया है वह दूसरों में कौतूहल उत्पन्न कर सकता है, दूसरों को आनन्दित नहीं कर सकता। जो कुमारी विधवा हो चुकी है वह दूसरों को सोहाग का स्वप्न कैसे दिखावे ? जिस पिंजड़े में चिड़िया नहीं उसके सजाने-वालों को देखकर क्षोभ नहीं तो और हो क्या ?

❀ ❀ ❀

४६

राजपूतों की अद्भुत देश-भक्ति

[नाटक]

पहला दृश्य

(चन्द्रावत क्षत-विक्षत योद्धा के वेश में)

चन्द्रावत—सर्वनाश निकट है! मेवाड़ का सौभाग्य-सूर्य अस्त हुआ चाहता है। चारों ओर मुगल-सेना बादलों की तरह छाई हुई है। बीच में अकेले हिन्दू-सूर्य प्रताप प्राणों की बाज़ी लगाकर दोनों हाथों से तलवार चला रहे हैं। लाखों नर-मुण्डों से हल्दी घाटी पाट देने पर भी विजय की आशा व्यर्थ है।

(एक सभासद का रण-वेश में प्रवेश)

सभासद—सरदार, महाराणा के शरीर में अगणित घाव हो गए हैं, रक्त की धारा निकल रही है, तलवार चलाते चलाते दोनों हाथ थक गये हैं। चेटक घोड़ा मृतप्राय हो गया है, राणा फिर भी पागलों की तरह लड़ रहे हैं। इस विकट समय पर हमें क्या आज्ञा है ?

चन्द्रा०—कुछ नहीं! राणा के साथ साथ युद्ध करते जाओ। लड़ते लड़ते मर जाओ। मैंने उपाय सोच लिया है।

(सभासद का प्रस्थान)

चन्द्रा०—चित्तौड़! जन्म-भूमि प्रणाम! तुम्हारा यह तुच्छ सेवक आज विदा लेता है। माँ, जीते जी तुम्हें स्वतंत्र न देख सका, अब मर कर देखने की अभिलाषा है। अपने भग्नावशेषों के हाहाकारमय स्वर से एक बार आशीर्वाद दो। माँ, हँसते हँसते मरने की शक्ति प्रदान करो। जीवन के अन्तिम क्षणों में कर्तव्य-पालन करने का अवसर दो। जिस राज-मुकुट को इन हाथों ने, तुम्हारे हित के लिए, वीरवर प्रताप के मस्तक पर रक्खा था, उसे यही उतारेंगे, तुम्हारे सम्मान की रक्षा के लिये—आशा-लता को कुचलने से बचाने के लिए—आज महाराणा प्रताप के बदले यह चन्द्रावत प्राणों की आहुति देगा।

(प्रताप का रणोन्मत्त वेश में उधर से गुज़रना)

प्रताप—बस, समय हो गया। साधन चुक गया। अब प्राणों की बारी है। माँ के लिए जीवन बलिदान—

चन्द्रा०—मेवाड़ के प्राण! सेवक के रहते स्वामी का बलिदान! राणा के प्राणों का मूल्य है मेवाड़ का सम्मान-चित्तौड़ का उद्धार! इतने सस्ते नहीं हैं ये प्राण! इन प्राणों में संजीवनी शक्ति है, राणा! ये मुझ जैसे एक नहीं, लाखों चन्द्रावत इंगित मात्र से उत्पन्न कर सकते हैं। आप विधाता हैं, हम सृष्टि। अपने बदले हमें मरने दो राणा! मैंने ही ये राजचिह्न आपके मस्तक पर रक्खे थे। मैंने ही यह भवानी तलवार आपके हाथ में दी थी। मैं ही अब उन्हें वापस माँगता हूँ। दो, जल्द दो राणा! अब समय नहीं है। क्या दान दोगे?

प्रताप—क्यों न दूँगा कृष्ण जी! आप प्रजा के प्रतिनिधि हैं-पूज्य हैं। ये निधियाँ आपकी हैं! आप ले सकते हैं, पर मातृभूमि के स्वाधीनता-यज्ञ में चुपचाप प्राणों की आहुति देने से इस दरिद्र प्रताप को आप कैसे रोक सकेंगे? मैं निश्चय कर चुका हूँ सरदार, मैं मरूँगा, देश के लिए मरूँगा, रण से पीठ दिखा कर कलंक का टीका लगवाने के पहले इन प्राणों को माँ के चरणों पर हँसते हँसते उत्सर्ग कर दूँगा।

चन्द्रावत—साथ ही मेवाड़ के भविष्य को भी सदा के लिए मिट्टी में मिला देंगे, महाराणा! आप के बाद मुझे ऐसा वीर

कोई नजर नहीं आता जो चित्तौड़ के उद्धार के लिए इतना त्याग कर सके। हठ न करें, देव, आप स्वदेश की आशा हैं। आपका यह क्षणिक हठ मेवाड़ की अखण्ड पराधीनता का कारण हो जायगा!

प्रताप—निश्चय कर चुका हूँ, चन्द्रावत जी, जीते जी रण से विमुख न हूँगा। क्षत्रिय परिस्थितियों का दास नहीं, स्वामी होता है। आप ये अपनी निधियाँ लीजिए। मेवाड़ के महाराणा ने देश के लिए एक सामान्य सैनिक के वेश में मरना खूब सीखा है। (फुरती से तलवार पर मुकुट रख कर चले जाते हैं)

चन्द्रा०—प्रभो! राणा की रक्षा करो। (मुकुट हाथ में लेते हैं) आ! काँटों के ताज! संकट के स्नेही! मेवाड़ के राजमुकुट आ! तुझे आज एक तुच्छ सैनिक धारण कर रहा है। इस लिए नहीं कि तू वैभव का राजमार्ग है, बल्कि इस लिए कि तू देश पर मर मिटने वालों का मुक्तिद्वार है। आ मेरी साधना के अन्तिम साधन! इस अवनत मस्तक को माँ के लिए कट मरने का गौरव प्रदान करा।

(मुकुट पहन कर प्रस्थान)

(शक्तसिंह का प्रवेश)

शक्त—(नेपथ्य की ओर इंगित करके) घोर युद्ध हो रहा है। ऐं! चन्द्रावत ने मेवाड़ का राजमुकुट पहन रक्खा है! मुग़लों ने उसे प्रताप समझ कर चारों ओर से घेर लिया है। और वे राणा!

एक सामान्य सैनिक के वेश में पागलों की तरह घनघोर युद्ध कर रहे हैं। अरे, क्या इन के लिए राजमुकुट का कुछ भी मूल्य नहीं है! हाय अभागे शक्त, तू ने प्रताप को नहीं पहचाना! इतना त्याग! इतनी वीरता! ऐसा संग्राम! मानों प्राणों की ममता छू भी नहीं गई है! ऐं! यह क्या! उनके घोड़े ने पीठ फेर दी! हाय अभागा चेटक! राणा को रण से लेकर भाग रहा है! सर्व-नाश! राणा लगाम खींच रहे हैं। फिर भी दुष्ट रुकता ही नहीं! हाय, यह उधर वज्रपात! चन्द्रावत को मुग़लों ने प्रताप समझ कर मार डाला! धन्य चन्द्रावत! धिक् शक्तसिंह! सीसोदिया कुल में केवल तू ही नराधम है। क्षत्रिय का जन्म पाकर भी तेरे भाग्य में ऐसी मृत्यु नहीं बदी थी!

(शोकाकुल होता है)

(दो मुग़लों का प्रवेश)

पहला मुग़ल—अरे म्याँ, कुछ ख़बर भी है! बंदा भाँप गया। वह देखो, काफ़िर प्रताप भागा जा रहा है!

दूसरा मुग़ल—ऐं-ऐं प्रताप! क्या कहते हो भाई जान!

पहला मुग़ल—अरे म्याँ, देखो भी। यों आँखें क्या फाड़ रहे हो—मुँह क्या बना रहे हो?

दूसरा मुग़ल—(नेपथ्य की ओर ग़ौर से देख कर)—हाँ-हाँ मालूम तो कुछ ऐसा ही होता है।

पहला मुग़ल—चलो जल्द, उसे पीछे से तीर मार कर गिरा देंगे, फिर बाँध कर—कैद करके—शाहज़ादा साहब को नज़र करेंगे और मारे इनामों के मालामाल हो जाएँगे। (प्रस्थान)

शक्त—लेकिन इसके पहले ही दोज़ख चले जायँगे। कमीने कुत्ते घायल शेर पर दूर से ढेला फेंकना चाहते हैं। तलवार के एक ही वार में दो के चार हो जाएँगे, इसका पता ही नहीं! शक्तसिंह, अभागे शक्तसिंह, अब भी समय है। इन कुत्तों को राह ही में खपा कर मरने के पहले मातृभूमि मेवाड़ का कुछ हित-साधन कर ले! हृदय बोल, बहुत दिनों में, जी भर कर बोल, प्यारा बोल, पुराना बोल, हर हर-महादेव! (पट-परिवर्तन)

दूसरा दृश्य

(गेरुए वस्त्र पहने व्रती के वेश में शक्तसिंह)

शक्त—जीवन एक इतिहास बन गया है। भोला-भाला शैशव, पिता का तिरस्कार, उद्दाम यौवन, भाई से कलह, बदले की प्यास, अकबर का आश्रय, हल्दी घाटी का संग्राम, पश्चाताप, भाई से भेंट, "क्षमा"! दुनिया की दृष्टि में जीवन समाप्त! शक्त के हृदय की दशा कौन जानता है? जीवन-नाटक का तृतीयांक सारा का सारा, 'स्वगत' हुआ चाहता है। संसार केवल एक भिक्षुक संन्यासी का करुण गान सुन पायेगा और कुछ नहीं। मेरी साधना नीरव है! मुझे कोई ठीक ठीक न जानेगा! तुम भी

न जानोगे अभागे हृदय ! 'देश द्रोह' ! इतने बड़े पाप के लिये शास्त्र में कोई प्रायश्चित्त नहीं । उस की सीमा प्राणान्त पर ही समाप्त हो जाती है। कोरी 'क्षमा' से आत्मा को संतोष नहीं हुआ ! फिर ? और कुछ करना होगा ! धन, मान, सेना, साथी, सम्मान, स्वाभिमान, कीर्त्ति, वीरता, युद्ध, संधि, सुख-दुःख, शांति, समाधि-स्तूप, पूजा, श्रद्धाञ्जलि, सब से अलग रहकर एक अपरिचित की भाँति देश में घर-घर अलख जगाना होगा—गली गली गाना होगा। कोई परिचय पूछे तो कहना होगा—'पापी,' कार्य पूछे तो 'प्रायश्चित्त,' तीसरी बात पूछे तो मौन ! यों ही, किसी दिन चुपके से, किसी निर्जन-वन में, अपने ही हाथों से लाल वन-कुसुमों की चिता रच कर यह अज्ञात साधना समाप्त कर देनी होगी। बस ! तब तक माँगते फिरना होगा—गाते फिरना होगा। यही गान गाना होगाः—

गान

आज भिखारी आया द्वार
माँग रहा है हाथ पसार

ऐ माँ-बहनो बहू-बेटियो,
लाज रखो माता की लाज
दे दो अपने 'झोली के धन'
दे दो अपने 'सिर के ताज'

सुनो देश की करुण पुकार
आज भिखारी आया द्वार

प्यारे लाल, लाडले भाई,
भर्ता, पिता लुटादो आज
ओ 'जौहर' व्रत वाली बहनो
जन्म-भूमि की रखलो लाज

खोलो खोलो हृदय उदार
आज भिखारी आया द्वार

वन वन पागल से फिरते हैं
आज पुजारी माँ के लाल
आहुतियाँ भेजो प्राणों की
फिर उन्नत हो माँ का भाल

बलि वेदी पथ रही निहार
आज भिखारी आया द्वार

पट-परिवर्तन

(प्रस्थान)

['प्रताप-प्रतिज्ञा' से]

—जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द'

५०

अमेरिका की खोज

लेखक—डाक्टर रामप्रसाद त्रिपाठी एम० ए०

सुनकर आश्चर्य होगा कि चार सौ वर्ष पहले यूरोप और एशिया के निवासी अमेरिका को जानते भी न थे। अमेरिका जो आज व्यापार, सम्पत्ति, उद्योग और सभ्यता के कारण संसार भर में प्रख्यात है, चार सौ वर्ष पूर्व अज्ञात महाद्वीप था। इससे यह कदापि न समझना चाहिए कि चार सौ वर्ष पूर्व अमेरिका जन-शून्य था, अथवा वहाँ मनुष्यों का निवास पूर्वकाल से न था। प्राचीन इतिहास की खोजों से यह सिद्ध हो गया है कि वहाँ भी पुरातन काल से मनुष्य निवास करते थे और उन में थोड़ी बहुत सभ्यता भी थी।

अमेरिका को खोजने का दावा अनेक जातियों और मनुष्यों ने किया है। चीनी, जापानी, हिन्दू, तुर्क, अरब, रोमन और अनेक यूरोपियन जातियों ने अमेरिका खोज निकालने का श्रेय चाहा है। बहुत सम्भव है कि हर एक के दावे में कुछ कुछ सत्य का अंश हो, परन्तु इस में कुछ भी सन्देह नहीं कि कोलम्बस की खोज से यूरोप वालों का ध्यान अमेरिका की ओर आकर्षित हुआ और यूरोप के लोगों ने अमेरिका जाना आरम्भ कर दिया। आज कल की अमेरिका कोलम्बस के खोज और उत्साह का फल है।

कोलम्बस का जन्म इटली के जिनोआ नामक नगर में हुआ था। उसके बालपन के विषय में अधिक पता नहीं चलता, परन्तु यह अवश्य मालूम है कि चौदह वर्ष की अवस्था में ही उस ने पढ़ना-लिखना छोड़ कर समुद्रचर्या आरम्भ कर दी थी। उस समय भी उसे ज्योतिष आदि विषयों का न्यूनाधिक ज्ञान हो गया था। नौ-विभाग में उसने शीघ्र उन्नति दिखलाई। उसने समुद्र-मार्ग से कई बार इटली, पुर्तगाल, इँगलेंड आदि देशों की यात्रा की। सौभाग्य-वश उसका विवाह वार्टोलोमियो नामक एक सुविख्यात समुद्र-यात्री की कन्या से हुआ। अपने श्वशुर के नक्शों से कोलम्बस का ज्ञान खूब बढ़ गया।

पन्द्रहवीं सदी के अन्तिम भाग में यूरोप-वासियों को समुद्र-

मार्ग से हिन्दुस्तान (इण्डिया) पहुँचने की बड़ी प्रबल अभिलाषा जगी। कोलम्बस भी अपने मन में तरह तरह की कल्पना करता। भूगोल को पढ़ पढ़ कर और नक्शों को देख देख कर उसने स्वयं हिन्दुस्तान पहुँचने के मार्ग का नक्शा बनाया। चूँकि अफ्रीका के किनारे किनारे हिन्दुस्तान पहुँचने का प्रयत्न शीघ्र सफल होता नहीं जान पड़ता था, इस लिए कोलम्बस ने एटलांटिक महासागर को पार करके एशिया पहुँचने का विचार ठाना।

सब से पहले कोलम्बस ने पुर्तगाल के राजा से यात्रा के सम्बन्ध में बात चीत की, परन्तु वह लोगों को निर्मूल, बेतुकी और अनाप-शनाप जान पड़ी। राजा अपना विचार पक्का न कर सका। राजा के टरकाने और शर्तों के तय न होने के कारण कोलम्बस ने उस का आश्रय छोड़ दिया।

कोलम्बस ने इँगलेण्ड और जिनोआ की सरकारों से भी सहायता माँगी, परन्तु उसकी प्रार्थना अनसुनी रही। शनैः शनैः उस की प्रार्थना स्पेन की महाराणी आइसाबेला तक पहुँची। महाराणी ने उसे अपने दरबार में बुला लिया और उस के प्रस्तावों को बड़े चाव से सुन कर एक विद्वानों की सभा के सामने विचार करने को भेज दिया।

विद्वत्सभा में अनेक विचारों के आदमी थे। अधिक तर तो ईसाई-धर्म के मानने वाले थे जो बाइबिल में अक्षरशः विश्वास रखते

थे। कुछ ऐसे भी लोग थे जो प्राचीन विज्ञान को थोड़ा बहुत जानते थे। उस सभा के सम्मुख कोलम्बस ने अपने प्रस्ताव उपस्थित किए। ईसाई धर्माधिकारियों ने बाइबिल तथा अन्य धार्मिक लेखकों के ग्रन्थों का प्रमाण देकर यह कहा कि न तो धर्म के अनुकूल, न इतिहास के मत से और न दार्शनिक सिद्धान्त से पृथ्वी का अण्डाकार होना सिद्ध हो सकता है। गणित के प्रमाणों को तो वे मानते ही न थे। अधकचरे वैज्ञानिकों ने कहा कि यदि मान भी लिया जाय कि पृथ्वी गोलाकार है तो भी कोलम्बस की कल्पना असम्भव सी है। कारण यह है कि पृथ्वी का कटिबन्ध इतना उष्ण होगा कि वहाँ जाना ही असम्भव है? और यदि किसी प्रकार गर्मी सहन भी हो सके तो भी पृथ्वी की गोलाई की परिधि इतनी अधिक है कि उस के द्वितीयार्द्ध तक पहुँचने में कम से कम तीन वर्ष लगेंगे। उन्होंने एक प्राचीन लेखक की साक्षी देकर कहा कि पृथ्वी का दूसरा अर्द्धांश जलमय और अस्त-व्यस्त है। अन्त में उन्हों ने यह भी कहा कि यदि कटिबन्ध के नीचे जहाज़ गया तो फिर लौटना असम्भव है, क्योंकि लौटते समय चढ़ाई पड़ेगी। चूँकि कटिबन्ध बड़ा ऊँचा होगा, इस लिए अति अनुकूल वायु मिलने पर भी उस को पार करना नितान्त असम्भव है। सारांश यह कि विद्वत्सभा ने उसके प्रस्तावों को असम्भव और उपहासजनक कह दिया। इसी समय स्पेन में युद्ध भी आरम्भ हो गया

जिस से वहाँ के राजा-रानी का ध्यान बँट गया। परिणाम यह हुआ कि कोलम्बस के प्रस्ताव खटाई में पड़ गए।

अड़चनें पड़ने पर—कठिनाइयाँ आने पर—ही तो परीक्षा होती है। कोलम्बस हताश न हुआ, अपनी धुन में लगा ही रहा। अन्त में उसके सहायक मिलने लगे जिनके कारण वह स्पेन में ठहरा रहा। युद्ध समाप्त होने पर महारानी आइसाबेला ने, जो कोलम्बस से सहानुभूति रखती थीं, फिर उसे बुला लिया और उसकी सब शर्तों को स्वीकार करके उसकी शुभ-यात्रा का प्रबन्ध करा दिया।

सन १४९२ के अगस्त मास में कोलम्बस ने तीन जहाज़ लेकर अपनी ऐतिहासिक यात्रा आरम्भ की। यात्रा बड़ी भयानक थी। एटलांटिक महासागर की गहराई, लहरों के थपेड़े, समुद्र के विलक्षण और भयानक जंतु साहसी लोगों के भी छक्के छुड़ाने वाले थे। एक मास, दो मास, दिन-रात अज्ञात समुद्र की यात्रा करने से और भूमि मिलने की सुदृढ़ आशा न होने के कारण केवटों में बड़ा असन्तोष फैल गया था। कई बार तो ऐसा जान पड़ता था कि वे कोलम्बस का घोर विरोध करने वाले हैं। अनेक बार कहा-सुनी और कटुवचन की नौबत पहुँची, परन्तु कोलम्बस ने धैर्य का त्याग न किया। विपत्ति में धैर्य ही बड़ा सहायक है। फुसलाकर, समझाकर, सान्त्वना देकर, आशा दिलाकर, पक्षियों

के उड़ने से और शैवाल के बहने से भूमि के समीप होने की सम्भावना बतला कर और समय-समय पर डाँट-डपटकर किसी प्रकार कोलम्बस केवटों से काम लेता ही रहा। अन्त में उसे अपने अदम्य उत्साह, साहस, धैर्य और शान्ति का पुरस्कार मिला—बारह अक्तूबर को उसे भूमि के दर्शन मिले।

उस द्वीप का कोलम्बस ने 'सान सेल्वाडोर' नामकरण किया। वहाँ के निवासी वस्त्रहीन और बिलकुल नग्न घूमते थे। कुछ स्त्रियाँ तो अवश्य पत्तियों, लताओं अथवा सूती कपड़े के टुकड़ों से अपने अङ्ग को कुछ ढकती थीं, लेकिन अधिकांश स्त्रियाँ पुरुषों की तरह विचरण करती थीं। वहाँ के वासियों को लोहे का ज्ञान न था और न उनके पास अस्त्र-शस्त्र थे। वे केवल बेत की छड़ियाँ, जिनके नीचे लकड़ी का नुकीला टुकड़ा बँधा रहता था, लिये फिरते थे। उसका भी शायद ही कभी वे उपयोग करते हों। वहाँ की स्त्रियाँ पुरुषों से अधिक परिश्रम करने वाली थीं। वहाँ के नर-नारी सीधे और सरल स्वभाव के थे।

द्वीप के निकट जहाजों को देखकर वहाँ के निवासी भौंचक्के से हो गये। वे समझे कि जहाज़ समुद्र के कोई जीव-जंतु हैं जो सहसा रात्रि में निकलकर द्वीप के निकट आ गये हैं। उन्हें देखने के लिये झुंड के झुंड मनुष्य समुद्र-तट पर एकत्रित हो गए। परन्तु जब जहाजों से उतर कर कोलम्बस और उसके सहचर तट की

ओर आने लगे तो वे भय के मारे इधर-उधर भागने लगे। आगन्तुकों ने जब उनका पीछा न किया तब उनका भय जाता रहा।

कोलम्बस लिखता है कि यद्यपि उस द्वीप के निवासी मूर्ति-पूजा नहीं करते थे, परन्तु उनका विश्वास स्वर्ग के अस्तित्व में था। वे कोलम्बस और उसके अनुगामियों को स्वर्ग से आया हुआ समझकर धीरे-धीरे उनके पास लौट आए और झुक-झुककर प्रणाम और आदर-सूचक संकेत करने लगे। वे लोग आगन्तुकों की गौर त्वचा और उनके रङ्गीन और सुन्दर वस्त्र देखकर अति प्रसन्न हुए। जब भय बिलकुल हट गया तब उन्होंने अपने हाथों से छू-छूकर आगन्तुकों के दाढ़ी और बालों की परीक्षा की। जिस प्रकार द्वीप के निवासी आगन्तुकों को देखकर कौतूहल-ग्रस्त थे उसी तरह वे भी सकौतुक हो रहे थे।

कोलम्बस हिन्दुस्तान की खोज में निकला था। उस द्वीप को उसने हिन्दुस्तान का एक दूरवर्ती छोर समझा। इसलिए उसने वहाँ के निवासियों का 'रेड इंडियन' नामकरण किया। यद्यपि स्पेनवालों को रेड इंडियन की दरिद्रता देखकर कुछ निराशा तो हुई, परन्तु उनका दिल न टूटा। द्वीप के निवासियों की नाक में सोने का आभूषण देखकर उन्हें धैर्य हुआ। उन आभूषणों को बड़ी प्रसन्नता से देकर उन्होंने यूरोपियनों से काँच के मनके और छोटी घंटियाँ मोल ले लीं।

उस द्वीप में समुचित स्वर्ण न मिलने के कारण एवं इस विश्वास से प्रेरित होकर कि आगे चलकर स्वर्ण-पूर्ण देश मिलेगा, कोलम्बस आगे बढ़ा। इस बार उसे क्यूबा और हेस्पिनोला द्वीपों का पता चल गया। दिसम्बर मास में उसका जहाज़ 'संता मेरिया' चट्टान से टकराकर नष्ट हो गया, अतएव उसे दूसरे के जहाज़ में शरण लेनी पड़ी। इस कारण तथा साथियों के आग्रह से वह स्पेन की ओर लौट पड़ा।

स्पेन पहुँचने पर कोलम्बस का बड़ा आदर हुआ। जिस जिस नगर से होता हुआ वह जाता था उस उसमें हर्ष, आनन्द और सम्मान की सीमा न रहती। उसी पालोस नामक नगर में, जहाँ वह संघद्वार पर खड़े होकर अपने भूखे बच्चे के लिए रोटी माँगता था, वहाँ आज उसको हाथों-हाथ लोग ले रहे हैं! यही नहीं, राज-दर्बार में भी बड़ा उत्सव मनाया गया। कोलम्बस का राज-धानी में बड़े समारोह से स्वागत हुआ। सर्वाङ्ग-पूर्ण दर्बार में महा-राज फ़र्डिनेंड और महाराणी आइसाबेला ने उसको निमन्त्रित कर, उसके श्रीमुख से उसकी खोज का विवरण सुना। उसके लोमहर्षक और उत्तेजक वृत्तान्त को सुनकर दोनों पुलकित हो गये और उन्होंने घुटनों के बल झुककर ईश्वर को धन्यवाद दिया।

कोलम्बस की खोज से यूरोप के अन्य राज्यों और राजाओं में भी नये जीवन और उत्साह का सञ्चार हो गया। देश-देशान्तरों

में उसकी चर्चा और धूम हुई। अनेक उत्साही लोगों ने बेड़े सजाकर खोज के लिए यात्राएँ कीं। फ्राँस, फ्लोरंस, पुर्तगाल, इँगलैंड, और हालैंड देश से खोजक दौड़ पड़े। जान केबट नामक वीनिस का व्यापारी, जो ब्रिस्टल नगर में रहता था, इँगलैंड के राजा सप्तम हेनरी से आज्ञा लेकर खोज करने गया। इसका फल यह हुआ कि उत्तरीय अमेरिका का भी पता चल गया। तदुपरान्त धीरे-धीरे खोज का क्षेत्र बढ़ता ही गया; यहाँ तक कि उत्तरीय और दक्षिणी अमेरिका का अच्छा पता लग गया और वहाँ यूरोपियन उपनिवेश स्थापित हो गये। आज अमेरिका संसार का समृद्धिशाली सभ्य और उन्नतिशील महाद्वीप है। इन सबका श्रेय कोलम्बस तथा उसके अनुगामियों को है। कोलम्बस की गणना महापुरुषों में है। वह अनेकों का पथ-प्रदर्शक होकर अचल कीर्ति का भागी हुआ। क्यों न हो—

सज्जन चरित दिखाते, जिससे कर सकते हम निज उज्वल।
जाते समय जगत में छोड़ें अपने चरण-चिह्न निर्मल॥
चरण-चिह्न को देख कदाचित् उत्साही होवें भाई।
भव-सागर के चट्टानों से नौका जिनकी टकराई॥

❀ ❀ ❀

५१

दीर्घ जीवन

अँगरेजी में एक कहावत है—'सिम्पल लिविंग एंड हाई थिंकिङ्ग' (Simple living and high thinking)। इसका अर्थ है सादा जीवन और उच्च विचार। जीवन को सुखमय बनाने के लिए इससे अधिक मूल्यवान शिक्षा और कोई नहीं। पाश्चात्य सभ्यता का आदर्श इससे भिन्न है। सभ्यता का अर्थ यह नहीं कि आवश्यकतायें जितनी अधिक बढ़ाई जा सकें, बढ़ाई जायँ, किन्तु सादा जीवन और उच्च विचार है। भारत के प्राचीन ऋषि-मुनियों का यही आदर्श था। उन लोगों का जीवन सुखमय था। अतएव

इस आदर्श के ग्रहण करने से ही हम लोग दीर्घकाल तक सुखी रह सकते हैं।

एडीसन का नाम इस समय सारे संसार में प्रसिद्ध है। अपने वैज्ञानिक अन्वेषणों से उन्होंने अक्षय कीर्ति प्राप्त की है। उनकी अवस्था ८० वर्ष से भी अधिक है, तो भी वे जितना कार्य करते हैं उसको देखकर सबको आश्चर्य होता है। उन्होंने कार्य करने की इतनी शक्ति कहाँ से प्राप्त की? एडीसन के प्रपितामह एक दीर्घ-जीवी मनुष्य के सरल जीवन व्यतीत करने के सरल ढङ्ग को देख कर इतना अधिक मुग्ध होगए थे कि उन्होंने उस मनुष्य का अनुकरण करना आरम्भ कर दिया। वे १०२ वर्ष तक जीवित रहे। उनके पुत्र एडीसन के पितामह उसी सादगी की परिस्थिति में पालित-पोषित हुए और १०५ वर्ष की आयु तक जीवित रहे। उनके ७ पुत्र उत्पन्न हुए। उनमें से एडीसन के पिता एक थे। सब के सब ८० वर्ष से अधिक जीवित रहे और उनमें से तीन तो शताब्दी के बहुत समीप पहुँच गये थे। एडीसन भी अपनी कार्य करने की शक्ति और आरोग्यता का मुख्य कारण सादा जीवन बतलाते हैं, जिसके संस्कार उनको उनके प्रपितामह से मिले हैं।

सादा जीवन व्यतीत करने से जीवन की अवधि लम्बी होती है, कार्य करने की शक्ति बढ़ती है और सब प्रकार जीवन आनन्द

मय बनता है। सादा जीवन से अर्थ गीता के शब्दों में 'युक्ताहार-विहार' से है, क्योंकि श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं कि—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥

अर्थात्, हे अर्जुन, यह योग न तो बहुत खानेवाले को सिद्ध होता है, और न बिलकुल न खानेवाले को, तथा न अति शयन करने के स्वभाववाले को और न अत्यन्त जागनेवाले को ही सिद्ध होता है।

इसलिये दीर्घ जीवन प्राप्त करने के लिए युक्ताहार-विहार अर्थात् सादा जीवन व्यतीत करना अत्यन्त आवश्यक है। जो लोग समझते हैं कि सादा भोजन करने तथा अपनी आवश्यकताओं को कम करने से जीवन के आदर्श से गिर जायँगे वे जान बूझ कर अपने पा वों में कुल्हाड़ी मारते हैं, अपने जीवन को छोटा बनाते हैं और जीते हुए भी जीवन का आनन्द नहीं भोगते। जो लोग बिना मिर्च-खटाई इत्यादि के भोजन नहीं करते, बिना चाय और क़हवे के शरीर में उत्तेजना का अनुभव नहीं करते, धूम्रपान के बिना नहीं रह सकते, उनके लिए दीर्घ जीवन का द्वार सदैव ही बन्द रहता है। सादा भोजन और सादा जीवन मनुष्य की आयु को १००, १२५, १५० वर्ष तक बढ़ा सकते हैं। एक सज्जन एक दीर्घ जीवी मनुष्य के बारे में कहते हैं—

'वृद्ध टामस पार जो इँगलेण्ड के 'वेस्ट मिनिस्टर एबी' नाम के गिरजाघर में विश्राम कर रहा है, १४६ वर्ष की आयु में मृत्यु को प्राप्त हुआ। उसकी मृत्यु से थोड़े दिन पहले जब डाक्टरों ने उसकी परीक्षा की तब कहते हैं कि उसकी आरोग्यता बिलकुल ठीक थी। जिस डाक्टर ने उसकी परीक्षा की उसने कहा कि कोई भी कारण नहीं है कि वह १० अथवा २० वर्ष तक और न जीवित रहे। अभाग्यवश वह राजदरबार में सम्मिलित हो गया। एक वर्ष तक इस प्रकार का जीवन व्यतीत करते ही उसकी मृत्यु हो गई। सारा जीवन उसका सादा था। न तो वह धूम्रपान करता था, न मदिरा पीता था और अधिकतर वह निरामिष भोजन करता था। राजसी भोजन ने उसको मार डाला।'

सादा जीवन व्यतीत करना अधिकतर सादा भोजन करने पर निर्भर रहता है। कहते हैं, जितने मनुष्य भोजन से मरते हैं उतने बिना भोजन के नहीं मरते। सादे भोजन से यह अर्थ नहीं कि भोजन निकृष्ट हो, अथवा उसमें शरीर के पोषण करने का अंश न हो। भोजन उत्तम होना चाहिए न कि खटाई और मिर्चों से भरा हुआ। हेनरी फोर्ड जो संसार में अपने मोटरों के कारण प्रसिद्ध हैं, कहते हैं कि हम को दीर्घजीवी बनने के लिए अच्छे भोजन की आवश्यकता है, न कि अधिक भोजन की। क़हवा, चाय, तम्बाकू, मदिरा इत्यादि हेनरी फोर्ड के शब्दों में दीर्घ जीवन प्राप्त

करने में हानिकारक हैं। वे भविष्य वाणी करते हैं कि भविष्य में मनुष्य इन वस्तुओं का प्रयोग बिलकुल छोड़ देगा।

अच्छा भोजन मिलने पर यह नहीं कि चाहे जितना खा जाना चाहिए। बल्कि जितनी भूख हो अथवा जितनी पाचन-शक्ति हो उतना ही खाना चाहिए। पचने के पश्चात् जो बच जाय उसको शरीर में से चाहे जैसे हो निकाल डालना चाहिए। आरोग्य और दीर्घ जीवन का यह सर्वश्रेष्ठ नियम है। एक डाक्टर कहते हैं कि 'अपनी पाचन-शक्ति और अपनी भूख दोनों को भले प्रकार तोल लो। इस प्रकार शरीर के अङ्ग अपना कार्य उचित रूप से करेंगे। २८ घोड़े की शक्तिवाले इंजिन से ५० घोड़े की शक्ति की आशा न करो। तुम सदैव इस बात की शक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करो कि अच्छे भोजन में से जितना सार तुम ग्रहण कर सकते हो, करो और पश्चात जो बच जाय उसको पूर्ण रूप से शरीर के बाहर निकाल दो। कोई इंजिन तब तक भली भाँति कार्य नहीं कर सकता जब तक उसका प्रयोग में आया हुआ वाष्प पूर्ण रूप से बाहर न निकल सके।

जब भोजन भली भाँति चबाया जाता है तभी वह जल्दी पचता है। इसलिए भोजन जल्दी जल्दी नहीं निगल जाना चाहिए, बल्कि धीरे धीरे चबाकर खाना चाहिए। इससे भोजन शीघ्र पच जायगा। जब पच जाय तब उसके पश्चात् जो शेष रहे उसको किसी न किसी

प्रकार शरीर से बाहर निकाल देना चाहिए। इसके लिए कुछ लोग चूर्ण आदि का प्रयोग करते हैं, परन्तु उनसे प्रथम तो कुछ लाभ होता है, फिर उल्टी हानि होने लगती है। इसलिए जब अपच होगया हो अथवा पेट में कुछ मल इकट्ठा हुआ प्रतीत हो तब उस के लिए सबसे उत्तम ओषधि 'लंघन' अर्थात् व्रत है। दीर्घ और सुखी जीवन प्राप्त करने के लिए सबसे सुन्दर और सस्ता नियम सादा जीवन व्यतीत करना है। इसमें न कुछ अधिक व्यय होता है और न किसी अस्वाभाविक आवश्यकता की अपूर्ति से दुःख। इसलिए सब लोगों को चाहिए कि सादा जीवन व्यतीत करें। सादा जीवन व्यतीत करनेवाले जिन सज्जनों से मेरा परिचय है उनमें से दो के चरित बड़े रोचक हैं। उनका कुछ अंश यहाँ देने के लिए बड़ा प्रलोभन हो रहा है।

मेरे पड़ोस में एक वृद्ध पुरुष रहते हैं, जो फलित ज्योतिष पर पहले बड़ा विश्वास रखते थे। वे कहते हैं कि एक ज्योतिषी ने अधिक से अधिक मेरी आयु ५४ वर्ष निर्धारित की। जब ५४ वर्ष की आयु होगई तब उन्होंने अपना जन्मपत्र एक दूसरे ज्योतिषी को दिखलाया। उसने उनकी आयु ५८ वर्ष से अधिक नहीं निश्चय की। इसी प्रकार एक और ने ६२ वर्ष। परन्तु ये सज्जन अब ६६ वर्ष की आयु भोग रहे हैं। उनकी सारी इन्द्रियाँ अपना अपना कार्य उचित रूप से कर रही हैं। उनका भोजन प्रतिदिन दो सेर

गाय का दूध, प्रातः काल ४, ५ रोटियाँ और सायंकाल ४ रोटियाँ हैं। अपनी इस उत्तम आरोग्यता का कारण वे बतलाते हैं कि उन्होंने कभी मिर्च, तेल, खटाई और गुड़ नहीं खाया। धूम्रपान इत्यादि तो उनके पास तक नहीं फटकता। यही कारण है कि वे प्रीतिभोजों तक में नहीं सम्मिलित होते। समय पर भोजन करते हैं। अर्थात् सादा जीवन व्यतीत करने ही से उन्होंने ऐसी सुन्दर आरोग्यता प्राप्त की है।

एक और ऐसे ही दीर्घजीवी सज्जन हैं, जो इस समय ८५ वर्ष के हैं। वे अपना भोजन स्वयं बना लेते हैं, समाचार-पत्र पढ़ लेते हैं और मील डेढ़ मील टहल भी आते हैं। वे भी मिर्च, तेल, खटाई इत्यादि का प्रयोग नहीं करते। अन्न के अतिरिक्त १॥ सेर दूध पचा लेते हैं। वे आरोग्यता के लिए एक मन्त्र बतलाते हैं। वह यह कि 'सर्वरोगे मलाश्रये।' इस लिए जिस प्रकार हो, शरीर के भीतर से मल को निकाल देना चाहिए। मल को दूर करने के लिए वे एक ऐसी औषधि का प्रयोग करते हैं जो न तो पृथ्वी में उत्पन्न होती है न आकाश में, न उसमें कोई गुण और न उसका कोई आकार। वह औषधि उपवास है।

इस लिए सादा जीवन और उच्च विचार ही मनुष्य को दीर्घ जीवी और सुखी बना सकते हैं। —चक्खनलाल गर्ग

५२

हरिद्वार

हरिद्वार हिन्दुओं का बड़ा ही पवित्र, प्रसिद्ध और प्राचीन तीर्थस्थान है। पटना, दिल्ली और लाहौर की तरह इसके भी दर्जनों नाम हैं। अबु रैहाँ और रशीदुद्दीन ने इसका नाम 'गंगाद्वार' लिखा है। जहाँगीर के समय में टोम कोरैट (Tom Coryat) नामक विदेशी यात्री यहाँ आया और उसने इसे शिव की राजधानी हरद्वार के नाम से संबोधित किया। इसके प्राचीन नाम मयूरा और मायापुर भी हैं। अबुलफ़ज़ल ने मायापुर को हरिद्वार लिखा है और इसका विस्तार अट्ठारह कोस बतलाया है। सातवीं

शताब्दी में यहाँ हुएनसाँग आया और उसने इसका उल्लेख मायूलो (Ma-yo-lo) के नाम से किया। अस्तु, मायापुर के ध्वंसावशेष वर्तमान हरिद्वार से कुछ दक्षिण जानेपर अभी दीख पड़ते हैं। इन्हें देखने पर कनिंगहम साहब ने भी उपर्युक्त धारणा को सत्य माना है।

यों तो हरिद्वार की महिमा गंगा जी से है, किन्तु कपिल मुनि का स्थान, दक्ष प्रजापति के यज्ञस्थल तथा सती-कुंड के क्षेत्र और कुम्भ के कारण यह बहुत प्रसिद्ध है। स्कन्द आदि पुराणों में इस कुम्भ की बड़ी महत्ता है। जिस वर्ष यहाँ कुंभ होता है, उसके कुछ दिन पूर्व वृन्दावन में बहुत दिनों से वैष्णव-सम्मेलन होता आया है। वैष्णव लोग वहीं से गाजे-बाजे, हाथी-घोड़े, और अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होकर हरिद्वार कुंभ-स्नान करने आते हैं।

अब तो उपर्युक्त बातें नाम-मात्र की रह गई हैं, परन्तु प्राचीन काल में इन की बहुत आवश्यकता थी। कारण, उन दिनों हरिद्वार में शैवों की तूती बोलती थी। सुभीता पाते ही वे वैष्णवों को मार डालते थे। कहा जाता है कि किसी भ्रांत शैव संन्यासी का नियम था, कि बिना एक वैष्णव का छिन्न मस्तक देखे वह जल तक नहीं पीता था। वैष्णव हरिद्वार में कुंभ-स्नान का लोभ संवरण न कर सकने के कारण प्रायः तलवार के घाट उतारे जाते थे। यही नहीं, ऐसे अवसरों पर इकट्ठे होनेवाले भिन्न भिन्न

सम्प्रदाय वालों की धार्मिक पशुवृत्ति भी तब तक शान्त न होती थी, जब तक एक दूसरे की पर्याप्त हानि कर, अपनी मूर्खता का परिचय न दे लें! सन् १७६० ई० में स्नान के अन्तिम दिन गोस्वामी और वैरागी सम्प्रदाय के भक्त देर तक रक्तपात करते रहे, जिस के फल-स्वरूप एक हज़ार आठ सौ मनुष्यों के प्राण गये। सन् १७९५ ई० में भी सिक्ख स्नानार्थियों ने पाँच सौ गोस्वामियों के खून से अपने कृपाणों की प्यास बुझाई और गुरु नानक के धर्म्म को सदा के लिए कलंकित किया। फिर भी कुंभ के समय जो भीड़ होती थी और अब भी होती है, उसका वर्णन करना कठिन है। सन् १८०८ ई० में रेपर नामक अँगरेज़ ने बतलाया था कि उस वर्ष के कुंभ में यहाँ प्रायः २० लाख मनुष्य एकत्र हुए थे। किन्तु यथार्थ में इससे भी अधिक भीड़ यहाँ होती है। सन् १८१९ ई० में स्नान के समय भीड़ से चिप कर चार सौ तीस यात्रियों की जानें गईं! यही नहीं, ऐसे अवसरों पर विशूचिका आदि रोगों के फैल जाने, चोर-लुटेरों के हाथों जान-माल के पड़ने और लुच्चे-लफंगों के हाथों यात्रियों—विशेष कर स्त्रियों—की जो दुर्दशा होती है, वह अवर्णनीय है। फिर भी हर्ष का विषय है, कि स्वयं हिन्दुओं की बुद्धिमत्ता, सरकार, सेवा-समिति तथा बालचर-मण्डलों के सहयोग से अब इन बातों में बहुत कमी हो गई है।

हरिद्वार में कई विशेषताएँ हैं। यह एक बहुत प्राचीन नगर है। हिन्दुओं का पवित्र तीर्थस्थान है और प्रकृति के अन्यतम अंचल में—उसके रुचिर शांति-निकेतन में प्रतिष्ठित है। शहर की आबादी गंगा के दक्षिण तट पर है। यहीं से गंगाजी की वह नहर निकाली गई है, जो यू० पी० के लाखों-करोड़ों खेतों को उर्वरा कर पुनः कानपुर के पास गंगा से आ मिली है। किन्तु नहरों के कारण असली धारा बहुत शीर्ण रह जाती है। गंगा की शीर्णता के कारण ही वहाँ आसानी से एक बाँध बाँधा गया है, जिसके ऊपर एक सुन्दर पुल भी है। शहर छोटा, पर जनाकीर्ण है। अब तो यहाँ बिजली की बत्तियों की बहार और नल का पानी लोगों का आहार है। किन्तु इनको देखने कोई नहीं जाता है। हरिद्वार में दर्शनीय हैं:—कल-कल निनादिनी माता गंगा की स्वच्छ जल-धारा, उसका तीव्र वेग, उसकी भुवन-मोहिनी छबि, पर्वतों के मनोहर दृश्य, नदी-नालों का सुन्दर विस्तार और लता-गुल्मों, पशु-पक्षियों, वृक्षों तथा पुष्प-पल्लवों का अनन्त शृङ्गार—मनोमुग्ध-कर रुचिर बहार।

हरिद्वार में निम्नलिखित स्थान विशेष रूप से दर्शनीय हैं:—

'हर की पैड़ी'—यों तो हरिद्वार का एक भाग ही इस नाम से प्रसिद्ध है, परन्तु मुख्य स्नान-घाट, जहाँ पर कुम्भादि में बड़ी भीड़ होती है, वही स्थान 'हर की पैड़ी' के नाम से पुकारा जाता

है। इसे ही हरिद्वार का शृङ्गार कहना चाहिए—यही उसका प्राण है। एक लम्बा-सा प्लेट फ़ार्म गंगा से सट कर, पानी की सतह से करीब करीब मिला हुआ, बना है। गंगा के नीचे दूर तक सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। एक ओर कल्लोलिनी गंगा की निर्मल जल-धारा और दूसरी ओर तट पर बनी हुई ऊँची-ऊँची अ टालिकाएँ! घाट से सटा हुआ—गंगाजी की धार में ही यह स्थान (हर की पैड़ी) है। इसे एक छोटा-सा टापू ही समझना चाहिए। इसे भी पक्के से मढ़ाकर तट के समतल कर दिया गया है। किनारे से इस पर जाने के लिये एक छोटा-सा किन्तु सुन्दर पुल है। यह स्थल बड़ा ही सुन्दर, चित्ताकर्षक और दर्शनीय है। प्रातः चार बजे से दो-तीन बजे दिन तक स्नानार्थियों की और चार बजे से आठ-दस बजे रात तक टहलने-घूमने वालों की जो अटूट भीड़ यहाँ होती है, उसका वर्णन करना असम्भव है। और यहाँ के दृश्य? पूछिये मत! लम्बे चौड़े प्लाट फ़ार्म पर, इस छोर से उस छोर तक, स्त्रियों और पुरुषों की चहल-पहल—भिन्न भिन्न सम्प्रदाय वालों की अलग-अलग सभाएँ—भजनीक-मण्डलियों का गाना बजाना, व्याख्याताओं के व्याख्यान! सामने—इधर-उधर, चारों ओर कल्लोलिनी गंगा का श्रुत-मधुर संगीत—बिजली-बत्तियों की बहार—वस्तु-विक्रेताओं की पुकार! सभी एक-से-एक बढ़कर! उस जगह की उपमा एक विदेशों के भ्रमण करने वाले सज्जन ने वेनिस से

दी है। किन्तु जब सन्ध्या-काल में चारों ओर के मन्दिरों में आरती होने लगती है; घंटे और घड़ियालों की मधुर रागिनी दिशाओं को गुँजाने लगती है और उस की प्रतिध्वनि गंगा के कल-कल में मिल कर दूर के पहाड़ों से टकराती है, तब हृदय एक अपूर्व उत्तेजना—एक महान् उत्प्रेक्षा का अनुभव करने लगता है। जिस समय स्त्रियाँ मंगलगान करती हुई दोनों में दीप-मालिकाएँ जला कर उन्हें पवित्र जाह्नवी में प्रवाहित करती हैं और उन की छोटी-छोटी टोलियाँ गंगा की प्रवल धारा में हिलती-डोलती हुई आगे बढ़ती हैं—दूर दूर तक जाती हैं, उस समय की वह स्वर्गीय छवि देख-देख कर मनुष्य चकित और विमोहित रह जाता है! आकाश की झिल-मिल तारकाएँ यह दृश्य देख-देख कर क्या सोचती होंगी—वे ही जानें!

'ब्रह्मकुण्ड'—गंगा की धारा ही में है; पर यहाँ पर उस का वेग कम है। यह सब से जनाकीर्ण एवं सुन्दर स्थल है। इस के घाट की सीढ़ियाँ सङ्ग मरमर की बनी हैं और ऊपर गंगाजी तथा अन्य कितने ही देवी-देवताओं के मन्दिर हैं। इस में मछलियाँ बहुत हैं। वे बड़ी शोख़ हैं—एकदम नहीं डरतीं। लोग उन्हें आटे की गोलियाँ खिलाते और उनकी आपस की छीना-झपटी कौतुक से देखते हैं।

'भीम-गदा'— इस को कोई-कोई भीम घोड़ा भी कहते हैं। कहा

जाता है कि एक बार पांडु-पुत्र भीम इधर से घोड़े पर चढ़े जा रहे थे। उसके घोड़े की टापों से टकरा कर इस स्थान पर यह कुण्ड बन गया है। दूसरी किंवदन्ती यह है कि जब पाण्डव स्वर्गारोहण कर रहे थे तो भीम ने यहाँ पर अपनी गदा से प्रहार किया, जिस के फल-स्वरूप इस कुण्ड की उत्पत्ति हुई। पास ही एक झरना है। यहाँ का दृश्य बड़ा ही सुन्दर है।

'चण्डी पहाड़'—हरिद्वार के सामने ही, गङ्गा के उस पार है। नीचे गङ्गा बहती है, ऊपर पहाड़ पर चण्डी देवी का एकान्त मन्दिर है। इस स्थान की प्राकृतिक शोभा और निर्जनता बड़ी भली लगती है।

इन स्थानों के अतिरिक्त दशावतार का मन्दिर, कुशावर्त घाट और शैवनाथ तथा मायादेवी के मन्दिर आदि भी दर्शनीय स्थान हैं।

'कनखल'—हरिद्वार के पास ही है। ताँगे वाले हरिद्वार से चार-छः पसे में वहाँ पहुँचा देते है। यहाँ पर गङ्गा की धारा को 'नील धारा' कहते हैं। पास ही नील पर्वत है। पण्डों के मकान अधिकतर यहीं हैं। उद्यान और मन्दिरों से युक्त सुन्दर सुन्दर अट्टालिकाएँ गङ्गा-तट पर बनी हैं। इनकी सीढ़ियाँ गङ्गा-जल में नीचे तक चली गई हैं। बाजार की रौनक़ बड़ी अच्छी है। सती ने जिस स्थान पर अपनी आहुति दी थी आज उसे ही 'सती-कुण्ड'

कहते हैं। कहा जाता है, उस में स्नान करने वाली स्त्रियों का सौभाग्य सती जैसा अचल होता है। ज्ञान प्राप्त कर जिस स्थान पर दक्ष ने शिवमूर्त्ति की स्थापना की थी, वहीं पर आज दक्ष प्रजा-पति का मन्दिर है। किन्तु उस में अब कोई बाहरी रमणीयता नहीं है। नील धारा घाट पर अवस्थित गौरीशङ्कर और विल्वकेश्वर महादेव के मन्दिर सुन्दर और प्रसिद्ध हैं। यहाँ पर गङ्गा जी में पड़े हुए गोल-मटोल पत्थर देखने में बड़े ही कौतूहल-वर्द्धक जान पड़ते हैं।

'हृषिकेश'—भी हरिद्वार के समीप ही है। यहाँ जाने के लिए रेल भी है और मोटर-बस भी। हरिद्वार से हृषिकेश तक रास्ते का दृश्य बड़ा सुन्दर है। एक ओर गङ्गा और दूसरी ओर वृक्ष, लता, पर्वत। दूर तक यही सिलसिला है। हृषिकेश में भी आबादी बढ़ रही है। यहाँ भरत और रामजी के मन्दिर प्रसिद्ध हैं। प्राकृतिक शोभा यहाँ की भी बड़ी मनोहारिणी है। यहाँ पर गङ्गाजी घूम सी-गई है। अतएव धारा प्रबल होकर बहती है और हरिद्वार के कल-कल नाद के स्थान पर हर-हर का शब्द सुन पड़ता है। पास ही एक पहाड़ पर टिहरी-गढ़वाल के महाराज का 'नरेन्द्र' नगर है। दूर से इस का दृश्य सुन्दर दीख पड़ता है।

'लक्ष्मण-झूला'—हृषिकेश से थोड़ी दूर आगे है। यह प्रकृति की गोद में बसा है। तीन ओर ऊँची पर्वत-मालाएँ घेरा डाले

खड़ी हैं, और उन्हीं से निकल कर, एक ओर से गङ्गा जी बड़ी तेज़ी से 'हर हर' करती हुई बहती है। वहाँ पर प्रकृति की छटा निराली है। गङ्गा जी की शोभा अवर्णनीय है। गङ्गा जी में इस पार से उस पार आने जाने के लिए पहले एक पुल था। उसे लोग 'लक्ष्मण-झूला' कहते थे। इस वर्ष की बाढ़ में वह टूट गया और उसे फिर बनाने का प्रयत्न हो रहा है। अस्तु, आजकल स्वनाम-धन्य बाबा काली कमली वाले की ओर से दो नौकाएँ यात्रियों की सुविधा के लिये हैं। उन्हीं पर चढ़कर यात्री मुफ्त में ही उस पार जाते हैं। उक्त कमलीवाले की ओर से एक दातव्य भंडार है। इसमें रोज़ याचकों को मुफ्त में खाना मिलता है। स्वर्गाश्रम नामक स्थान में उनके चेले रहते हैं। धनी-मानी सज्जनों के दान से बने एवं काली कमली वाले की देख-रेख में संचालित प्रायः एक-डेढ़ मील में सैकड़ों आश्रम बने हैं। हज़ारों फल-दार वृक्ष रोपे गये हैं—अच्छी सड़कें बनाई गई हैं। उन्हीं आश्रमों में न जाने कितने ही तरुण और वृद्ध संभ्रान्त संन्यासी निवास करते हैं। यह स्थान तो खासा तपोवन है। एक दो ब्रह्मचर्याश्रम और पाठ-शालाएँ बनाई गई हैं। लक्ष्मणजी का मन्दिर, रामकुण्ड, सीता-कुण्ड, और हनुमान-कुण्ड, जिनकी चर्चा स्कन्द-पुराण में भी है, यहाँ के दर्शनीय स्थान हैं। पूजनीय स्वामी रामतीर्थजी ने यहीं गंगा-माँ की गोद में अनन्त पद प्राप्त किया था। उनकी स्मृति

में राय बहादुर बैजनाथजी द्वारा संस्थापित रामतीर्थ-पुस्तकालय भी देखने की चीज़ों में मुख्य है। यहाँ का प्राकृतिक सौंदर्य निरखने ही लायक़ है।

मुझे हरिद्वार में केवल चार दिन ठहरने का अवसर मिला। किन्तु वह यात्रा और वह स्थान, कई कारणों से, जन्म भर न भूलूँगा। और उसमें भी हरिद्वार की वह संध्या! घंटे-घड़ियालों और आरती-स्तुति की वह रागिनी! कल्लोलिनी गंगा का वह कल-कल छल-छल शब्द! उसकी लहरों के थपेड़ों से उठने वाली भीनी भीनी जल-बयार! तट पर टहलने वालों का वह आनन्द-विहार! वहाँ की चहल-पहल विद्युत-प्रकाश के तरंग-बीचियों पर पड़ने की अपूर्व शोभा—अनन्त सौंदर्य की रचना—ये दृश्य तो आज भी आँखों के आगे ज्यों-के-त्यों नाच रहे हैं। इस यात्रा के अनुभव सचमुच अपूर्व थे! उन्हें इस जीवन में मैं भूल नहीं सकता।

—श्रीगिरीन्द्र नारायण सिंह

["बालक" से]

५३

अभिमन्यु की वीरता

लेखक —श्रीयुत शिवपूजन सहाय

[आपका जन्म विहार प्रान्त के शाहाबाद जिले के उनवाँस ग्राम में संवत् १९५२ या ५३ विक्रमी में हुआ था। आप मारवाड़ी सुधार, मतवाला, आदर्श, माधुरी, बालक, गङ्गा, जागरण और उपन्यास-तरङ्ग आदि मासिक पत्रिकाओं का संपादन करते रहे हैं। आपने अब तक आठ से अधिक पुस्तकें भी लिखी हैं। आप कोई निश्चित या नियमित नौकरी नहीं करते। प्रकाशकों की दी हुई पाण्डु लिपियों का संशोधन और संपादन करके— आकाश वृत्ति से ही जीवन-निर्वाह करते हैं। इस समय आप बुलानाला, काशी में रहते हैं।]

भारतवर्ष में इतिहास के दो बड़े-बड़े पुराने ग्रंथ हैं—रामायण और महाभारत। दोनों जग-जाहिर हैं। दोनों में वीर बालकों की बहादुरी का बखान मिलता है। रामायण में कुश और लव की कथा मशहूर है। उन दोनों वीर बालकों ने भरत-लक्ष्मण जैसे अगड़धत्त वीरों के छक्के छुड़ा दिए थे—सुग्रीव, अंगद, जाम्बवान आदि बाँके लड़ाकों की पूँछ पकड़-पकड़कर घसीट मारा था—बालक क्या थे, आफ़त के परकाले थे। कभी उनकी 'बहादुरी की बातें भी सुनाऊँगा; पर इस समय उन्हीं के समान एक दूसरे वीर बालक की कथा सुनाता हूँ—जैसे वे त्रेता-युग के अन्त में हुए थे, वैसे ही यह द्वापर-युगके अन्त में हुआ था। इसकी कथा महाभारत में लिखी है। नाम इसका अभिमन्यु था— अर्जुन का बटा, भीम का भतीजा, श्रीं कृष्ण का भाँजा, सुभद्रा का लाड़ला! भला ऐसे बहादुर के बल और तेज का क्या ठिकाना! बाण चलाने में बाप के समान, रूप की सुघराई में मामा के समान! एक ओर देखता है बाप के हाथ में प्रचण्ड गांडीव, दूसरी ओर बड़े ताऊ के हाथ में खोपड़ी-चूरन गदा, और सामने की ओर मामा के हाथ में संसार-भर की शक्ति की बागडोर! फिर क्यों न उसका नया खून लड़ाई के जोश से उबलता रहे—क्यों न बल की उमङ्ग से उसकी बोटी बोटी फड़कती रहे—क्यों न उसके रोम रोम से शक्ति की बिजली निकलती रहे—क्यों न वह अपने आगे

भीष्म और द्रोण को तुच्छ समझे—क्यों वह कर्ण और कृपाचार्य जैसे महारथियों के दाँत खट्टे करने में समर्थ हो ?

तुम ने तो महाभारत पढ़ा ही होगा—याद करो वह दिन—लड़ाई के नगाड़े आकाश-पाताल हिला रहे हैं—एक सोलह वर्ष का सुन्दर-सजीला नव जवान छोकरा, कवच-कुण्डल पहन कर, तीर-तरकस-कमान से लैस होकर, पीले घोड़ों के रथ पर खड़ा मुस्करा रहा है—माता आरती उतारती है, बुढ़िया दादी असीसती है, बड़े ताऊ पीठ ठोक कर शाबाश कहते हैं, बाप छाती से लगा कर माथा सूँघता है, मामा हँस हँस कर मुँह चूमता है—वह फूला अङ्ग नहीं समाता, कवच की कड़ियाँ कड़कड़ा रही हैं, भुजाएँ फड़क रही हैं, उँगलियाँ फरफरा रही हैं, चेहरे पर प्रसन्नता की झलक है, दिल में लड़ाई की ललक है ! बस शंख बजने की देर है, फिर तो यह छोकरा शत्रुओं को छठी का दूध याद करा देगा।

वह देखो—युद्ध ठन गया है, कोसों का लम्बा-चौड़ा कुरुक्षेत्र वीरों की डरावनी ललकार से भर गया है, खून के फव्वारे छूट रहे हैं, रक्त के पनाले बह रहे हैं, हथियारों की झनकार से दशों दिशाएँ गूँज रही हैं, घोड़ों की हिनहिनाहट और हाथियों के चिंघाड़ से आकाश फटा जा रहा है, चारों ओर घनघोर घमसान मचा हुआ है; पर वह बीच में बड़े ज़ोर का हाहाकार क्यों हो रहा है ? अच्छा ! अभिमन्यु वहाँ ग़ज़ब ढा रहे हैं, मानों हाथियों

के झुण्ड में शेर दहाड़ रहा है! मालूम होता है, लहराते हुए समुद्र की छाती चीर कर बड़ा भारी जहाज़ आगे बढ़ता जा रहा है!

पर अब कैसे आगे बढ़ेंगे? वह देखो, महाराज बृहद्बल आकर भिड़ गए—रोक दिया रास्ता—छिड़ गई लड़ाई—छिप गए अभिमन्यु उनके बाणों से! पर यह क्या? बाणों की घटा को तितर-बितर कर तेजस्वी सूर्य की तरह अभिमन्यु निकल आए! मारा कस कर बाण—बृहद्बल की ध्वजा कट कर उड़ गई आकाश में! और उनकी चलाई हुई गदा भी बीच ही में कट कर खण्ड-खण्ड हो गई! यह लो, अभिमन्यु ने उनके घोड़े भी मार डाले! बेचारे को बिना रथ का कर छोड़ा! अब भला वह पैदल क्या लड़ेंगे? ऐसे-वैसे वीर का सामना थोड़े है? लोहे का चना है—वज्र का टुकड़ा है! ठट्ठा नहीं है!

अब वह देखो, बूढ़े दादा भीष्म भी अपने लिलार का पसीना नहीं पोंछ पाते! क्या करें, पड़पोता दम नहीं लेने देता। जोर तो बहुत लगाते हैं, बूँदियों की तरह तीर बरसा रहे हैं; उनके साथ साथ कृतवर्मा आदि वीर भी एड़ी-चोटी का पसीना एक किए हुए हैं, मगर अभिमन्यु तनिक टस-से-मस नहीं होते—शरीर लहू-लुहान हो गया है, बड़े-बड़े धुरन्धर वीर घेरे हुए हैं; फिर भी पट्ठे की आँच तनिक कम नहीं होती। देखते-देखते दादा की ऊँची ध्वजा काट ही डाली, और चचा भीम दूर ही से गरज कर बोल

उठे—शाबाश बेटा !

आह ! यह क्या गजब हुआ ! इसी बीच अभिमन्यु के प्यारे साले उत्तरकुमार को शल्य ने मार डाला ! भला अब कुशल कहाँ ! उत्तर के भाई श्वेत और अभिमन्यु ने घटा टोप युद्ध ठान दिया ! कौरवों की सेना में त्राहि-त्राहि मच गई ! देख लो, वह दूर ही से दुर्योधन अपनी भागती हुई सेना को रोकता और अपने महारथियों को ललकारता आ रहा है।

वाह ! यह तो फिर जम कर लड़ाई छिड़ गई ! द्रोण, अश्वत्थामा आदि भीष्म की सहायता के लिए आ पहुँचे। पर धन्य है अभिमन्यु ! सब की इच्छा पूरी कर दी—लड़ते-लड़ते शाम हो गई; मगर फैसला न होने दिया—सब पर अपनी बहादुरी की धाक जमा दी। साथ ही, कौरवों की आँखों के काँटे भी बन गये। उन लोगों ने उसी समय निश्चय किया कि किसी तरह इस छोकरे का काम तमाम करना चाहिए, नहीं तो पहले एक ही अर्जुन का भय था, और अब यह दूसरा अर्जुन हुआ चाहता है !

बस दूसरे ही दिन दुर्योधन के पुत्र राजकुमार 'लक्ष्मण' बड़े तपाक से अभिमन्यु के साथ आ भिड़े। दोनों जवान जी-भर लड़े; पर अभिमन्यु ने लक्ष्मण के रथ और हथियारों का सफाया कर दिया—सारी हेंकड़ी हवा हो गई। बेचारा अपने पिता के रथ पर जा छिपा और अभिमन्यु उसका पीछा छोड़ महाबली

अम्बष्ठ के पीछे पड़ गये। फिर उसको भी पानी-पानी कर छोड़ा-बेचारा बिना रथ और हथियार का होकर सिर पर पाँव रख कर भागा।

किन्तु दुर्योधन अपने वीर पुत्र की यह करारी हार भला कब सह सकता था? उसने अपने बलवान मित्र अलम्बुष-राक्षस को बढ़ावा दिया। वह एकाएक अभिमन्यु पर टूट पड़ा—बड़ा ही घनघोर माया-युद्ध ठाना; पर अभिमन्यु ने बड़ी मुस्तैदी से उसके सारे हौसले पस्त कर दिए—वह भी रथ छोड़ अपनी जान लेकर पैदल ही भाग खड़ा हुआ।

पांडवों की यह जीत दुर्योधन कैसे देखता रहे? वह युधिष्ठिर के पकड़ने की बन्दिशें बाँधने लगा—उनको बीहड़ घेरे में डालकर पकड़ने के लिए चक्रव्यूह की लड़ाई ठानने का बन्दोबस्त किया। अर्जुन को कुरुक्षेत्र से अलग दूर हटा ले जाने का बीड़ा—उसके मित्र और त्रिगर्त-देश के राजा—सुशर्मा ने उठाया; क्योंकि उनके रहते युधिष्ठिर का बाल बाँका होना टेढ़ी खीर थी!

सुशर्मा के झमेले में श्रीकृष्ण-सहित अर्जुन के फँस जाने से युधिष्ठिर बड़े चिन्तित हो गए। माथा ठोककर कहने लगे—अब चक्रव्यूह की भूल-भुलैयाँ में पैठकर उसके—एक नहीं—सात पेचीले दरवाजों को कौन भेदेगा?

बड़े ताऊ को बड़ी उदासी के साथ ऐसा कहते देखकर अभि-

मन्यु बड़े उत्साह से बोल उठे—आप इतना उदास क्यों हो रहे हैं? पिता जी नहीं हैं तो क्या हुआ? मैं तो हूँ? मेरे रहते क्या उनके नाम पर दाग़ लग सकता है? जान लड़ा कर उनके मुँह की लाली रक्खूँगा। छः दरवाज़ों पर अगर इन्द्र और यमराज भी तैनात होंगे, तो मैं उन्हें बेधड़क तोड़ जाऊँगा—केवल सातवें के भेदने का उपाय कीजिए।

यह सुन कर भीम मारे खुशी के उछल पड़े और अभिमन्यु को अँकवार में भर कर उठाते हुए बोले—वाह बेटा! जब छः दरवाज़े तू तोड़ ही देगा, तब सातवें में क्या रक्खा है—इस एक को तो मैं गदा की मार से चूर कर दूँगा।

फिर क्या, अभिमन्यु सज धज कर चक्रव्यूह में पैठ गए, और कौरवों की सना को बुरी तरह मथने लगे। किन्तु उनकी मदद के लिए दूसरा कोई अन्दर नहीं घुस पाया; फिर भी उन्हें तनिक चिन्ता न थी! अकेले ही द्रोण, कर्ण आदि महारथियों को मुँह तोड़ जवाब देते हुए आगे बढ़ते गए। जैसे मतवाला हाथी किसी तालाब में पैठ कर कमलों को रौंद डालता है, वैसे ही उन्होंने शत्रु की सजाई हुई सेना की क़तारों को तितर-बितर कर डाला! किसी एक वीर से न बन पड़ा कि उन की आँच सँभाल सके। अन्त को बहुत से वीर झट जत्था बाँधकर उनके सामने आ डटे, जिस में एक लक्ष्मण कुँअर भी थे, जो हज़रत एक बार उनको पीठ दिखा

चुके थे; पर इस बार तो अभिमन्यु ने देखते ही देखते उनको तलवार के घाट उतार दिया। मचा हाहाकार! जुट पड़े सब-के-सब अभिमन्यु पर! लेकिन इतने पर भी उस वीर बालक के सधे हुए हाथ की सफ़ाई देख कर सब के ललाट में सिकुड़न पड़ गई। द्रोण और कर्ण सरीखे महारथी भी दाँतों तले उँगली दबा कर रह गए।

जब अभिमन्यु ने सब के नाकों दम कर दिया, तब दुर्योधन की सलाह से कर्ण ने उनके धनुष की डोरी काट डाली, और उसी समय अश्वत्थामा ने उनका कवच छेद डाला, और लगे हाथों दुःशासन ने भी उनके सारथी और घोड़ों को मार कर लक्ष्मण कुँअर की आग बुझा ली! किन्तु सब होने पर भी अभिमन्यु के चेहरे पर तनिक सिकुड़न नहीं आई! टूटे रथ का चक्का लेकर सबकी खबर लेने लगे! उस समय वह अपने मामा श्रीकृष्ण की तरह सुदर्शन-चक्र धारण कर प्रलय मचाते हुए से देख पड़े। जब द्रोण ने उस पहिए को भी काट डाला, तब उन्होंने गदा उठाई, और अपने बड़े ताऊ भीम की तरह गदा-युद्ध में शोभायमान होकर शत्रु की सेना में हैज़ा फैला दिया! तब तक उधर से दुःशासन का बेटा, जो गदा-युद्ध में बड़ा शोख़ था, अखाड़े में उतर आया। दोनों नौजवान छोकरे दिल खोल कर लड़े, और लड़ते-लड़ते एक दूसरे की गदा से घायल होकर बेहोश गिर पड़े!

चूँकि अभिमन्यु कई महारथियों को खेल खिलाते-खिलाते थक

थे, इस लिए उनकी बेहोशी दूर होने से पहले ही दुःशासन का लड़का सचेत हो उठा, और धर्म-अधर्म का विचार छोड़कर अचेत पड़े हुए अभिमन्यु के सिर को अपनी गदा की गहरी चोट से चकनाचूर कर दिया! कुरुक्षेत्र की छाती पर खूनी अक्षरों में अपनी बहादुरी की अमट छाप छोड़ कर वह वीर बालक चल बसा!

समाप्त

मुद्रक—
मि० सी० एल० कपूर
नवजीवन प्रेस, १३, मैक्लेगन रोड, लाहौर।